तत्त्वार्थमणिप्रदीप

(आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका)

टीकाकार

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : ३ हजार

(१३ अप्रैल २०१४, महावीर जयन्ती)

मूल्य : **? रुपये**

टाइपसैटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,

ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

श्री प्रिन्टर्स

मालवीय नगर, जयपुर

प्रकाशकीय

सत्साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में आज पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का देश में कोई सानी नहीं है। जैन समाज की अग्रणी यह संस्था लागत से भी कम मूल्य में जैन आगम उपलब्ध कराने के लिए विख्यात है। इस संस्था द्वारा संचालित गतिविधियों में जिस व्यक्ति की सूझबूझ से संस्था गतिशील है उस व्यक्ति का नाम है – डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जो आज किसी परिचय के मोहताज नहीं है।

आपके द्वारा अब तक छोटी-बड़ी ८२ पुस्तकों का प्रणयन किया गया है, जिनका देश की विभिन्न भाषाओं में ४५ लाख से अधिक की संख्या में प्रकाशन किया जा चुका है, जो एक रिकार्ड है।

प्रस्तुत ग्रन्थ तत्त्वार्थमणिप्रदीप डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति है। यह कृति आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र की टीका है, जिसे डॉ. भारिल्लजी ने बहुत ही सरल सुबोध व सुगम भाषा में लिखकर समाज को उपकृत किया है। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक विद्वानों की टीकाएँ समाज में प्रचलित हैं, परन्तु यह टीका बेजोड़ है। इस ग्रन्थ का अपरनाम मोक्षशास्त्र है।

मेरा अहोभाग्य है कि प्रकाशन से पूर्व ही मुझे इस टीका को गहराई से पढ़ने का सुअवसर मिला है। संस्कृत भाषा में रचित यह मूल ग्रन्थ अद्भुत एवं गंभीर है। इसके ३५७ सूत्रों में गागर में सागर भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन समाज चाहे वह दिगम्बर हो अथवा श्वेताम्बर सभी को समान रूप से ग्राह्य एवं पूज्य है।

इस महान ग्रन्थ पर आ. समन्तभद्र स्वामी, आ. पूज्यपाद स्वामी, आ. अकलंकदेव तथा आ. विद्यानन्दि जैसे समर्थ आचार्यों ने गन्धहस्ति महाभाष्य, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक जैसी गम्भीर टीकाएँ लिखकर समाज को उपकृत किया है। इसके मंगलाचरण को आधार बनाकर आ. विद्यानन्दिजी ने आप्त परीक्षा तथा आ. समन्तभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसा ग्रन्थ की रचना की। इस आप्तमीमांसा पर आ. अकलंकदेव ने आठ सौ श्लोक प्रमाण अष्टशती और आ. विद्यानन्दिजी ने आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री टीका लिखी है। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता सहज ही समझ आती है।

डॉ. भारिल्लजी ने प्रस्तुत प्रकाशन में अध्ययन की विशेष सुविधा हेतु विषयानुसार अनेक सूत्रों के ग्रुप बनाकर उनकी टीका एक साथ लिखी है। अनेक स्थानों पर आपने विषय को सरलता से स्पष्ट करने हेतु प्रश्नोत्तर पद्धति का उपयोग किया है। इसके साथ ही आपने अपनी इस टीका में पूर्ववर्ती टीकाओं की प्रमुख विषय वस्तु को समाहित करने का प्रयास किया है, जो अनुकरणीय है। प्रत्येक अध्याय में आए हुए प्रमुख विषयों को शीर्षक बनाकर पृथक-पृथक दिया गया है। विभिन्न टाइपों का भी प्रयोग कर विषयों को समझने में सुलभता प्रदान की है। आशा है हमारा यह प्रयास पाठकों को आकर्षित करेगा।

पुस्तक को कई बार आद्योपान्त पढ़कर उसमें संशोधन किये गये हैं। इस कार्य को संपन्न करने में श्रीमती डॉ. उज्जवला शाह एवं पण्डित श्री दिनेशभाई शाह मुम्बई, पण्डित संजीवकुमारजी गोधा जयपुर तथा पण्डित शांतिकुमारजी पाटील जयपुर आदि का भी विशेष सहयोग एवं सुझाव प्राप्त हुये हैं, अत: आप सभी का कोटि-कोटि धन्यवाद।

प्रस्तुत प्रकाशन निरन्तर उपलब्ध रहे और प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन के पास पहुँचे; सभी इसका गहराई से स्वाध्याय करें ह्न इस पवित्र भावना से मुम्बई के एक मुमुक्षु भाई ने इसकी प्रकाशन व्यवस्था का सम्पूर्ण व्यय भार उठाया है। वे अपना नाम उल्लेख करना नहीं चाहते। हम उन्हें बार-बार धन्यवाद देते हैं।

अन्य जिन दातारों ने इस ग्रन्थ को अल्प मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने में मदद की है; उनकी सूची इसी ग्रन्थ में यथास्थान दी गई है। उक्त प्रकार से सहयोग करने वाले सभी महानुभावों को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

इस पुस्तक का कष्टसाध्य कम्पोज कार्य श्री दिनेश शास्त्री ने किया है। श्री अखिलजी ने हमेशा जैसा कृति को आकर्षक बनाने का प्रयास किया है।

टीकाकार डॉ. भारिल्ल के तो हम सब कृतज्ञ हैं ही, क्योंकि उन्होंने जो कार्य किया है; उससे हम सभी को लाभ मिलने वाला है। इस कृति का स्वाध्याय कर आप सभी कृति का हार्द समझें और अपना आत्म कल्याण करें ह्न इसी भावना के साथ।

ह्न ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

दि. ८ अक्टूबर २०१३ ई.

पाँच हजार प्रतियों के प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में सहयोग करनेवाले महानुभाव

१.	अनन्या जैन के नवमें जन्मदिवस के अवसर पर श्रीमती सोनाली ध.प. विवेक जैन, बहरीन (यूएई)	८५,०००.००
२.	श्री देवसीभाई छेड़ा, मुम्बई	२५,०००.००
३.	श्री सुरेशचन्द अरुणकुमार जैन, श्री शान्तिनाथ जिनालय, शिवपुरी	२१,०००.००
४.	ढाईद्वीप जिनायतन ट्रस्ट, इन्दौर हस्ते श्री मुकेशजी जैन, इन्दौर	११,०००.००
५.	श्री सिद्धार्थजी दोशी, रतलाम	११,०००.००
६.	श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, कोलकाता	११,०००.००
७.	श्री महावीरप्रसादजी जैन, कोलकाता	११,०००.००
८.	श्री अभयकरणजी सेठिया, सरदारशहर	११,०००.००
९.	श्रीमती पुष्पलता जैन ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	५,०००.००
१०.	श्रीमती ज्योत्सना बेन ध.प. स्व. श्री मणिकान्तभाई, मुम्बई	५,०००.००
११.	श्री गम्भीरमल प्रकाशचन्द जैन (सेमारीवाले), अहमदाबाद	५,०००.००
१२.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी (गोहाटी वाले), जयपुर	५,०००.००
	कुल योग : (दो लाख छह हजार)	२,०६,०००.००

प्रस्तुत संस्करण का मूल्य कम करने में सहयोग करनेवाले महानुभाव

४,१०० रुपये : श्री दि. जैन स्वाध्याय एवं महिला मण्डल, बजरंगनगर, इन्दौर।

२,५०० रुपये प्रदान करनेवाले

१. श्री प्रसन्नकुमारजी सेठी, जयपुर २. श्री हुकमचन्द कान्तिचन्दजी जैन, भोपाल ३. श्री लक्ष्मीदास हीराचन्दजी जैन, राजकोट ४. श्री रमेशचन्दजी सोगानी, कोलकाता ५. श्री संजय कासलीवाल, कोलकाता।

२,१०० रुपये प्रदान करनेवाले

१. श्री कुन्दनमलजी गोधा, इन्दौर २. श्री रमेशचन्द किरणदेवी बैनाडा, कोलकाता ३. श्री परेश दीपा सेठी, कोलकाता ४. श्रीमती शान्तिदेवी सरावगी, कोलकाता ५. श्रीमती प्रीति जैन, खड़गपुर ६. श्री मनोजकुमारजी बजाज, कोटा ७. श्री सुमनभाई रामजीभाई दोशी, राजकोट ८. श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, मकरोनिया, सागर ९. जैन स्वाध्याय मण्डल, जनता कालोनी, जयपुर १०. श्री अशोकजी जैन, अकोला ११. श्री भरत भांगे, बसई १२. श्रीमती सरिता सुनीलजी सर्राफ, ग्वालियर १३. श्री दि. जैन तेरापंथ बड़ा मन्दिर महिला मण्डल, जौहरी बाजार, जयपुर १४. कुमारी प्रियंका जैन सुपुत्री श्री श्रेयांसकुमार जैन, कोलकाता।

२,००० रुपये प्रदान करनेवाले

१. श्रीमती सुमन-सुधा जैन, ग्वालियर २. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, औरंगाबाद ३. श्री रतनलालजी छाजेड़ जयपुर।

१,१०० रुपये प्रदान करनेवाले

१. श्री माणकचन्दजी जैन, 'एडपैनवाले', मुम्बई २. श्री अशोककुमार विजयकुमार बड़जात्या सुपुत्र श्रीमती कमलप्रभा ध.प. स्व. श्रीपालजी बड़जात्या, इन्दौर ३. स्व. श्री शान्तिनाथजी सोनाज अकलूज ४. श्री विजयकुमारजी जैन, ऋषभ एन्टरप्राईजेज, बैंगलोर ५. श्री ताराचन्दजी सौगानी, जयपुर ६. श्री मथुरालालजी जैन, इन्दौर ७. शास्त्री तृतीय वर्ष बेच नं. ३३ टोडरमल महाविद्यालय, जयपुर ८. स्व. श्री हुकमचन्दजी जैन की स्मृति में सुपुत्री माधुरी जैन मानसरोवर, जयपुर ९. सुश्री गरिमा जैन सुपुत्री अजितकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा १०. श्री सुशील जैन, जगतपुरा, जयपुर ११. श्री निहालचन्दजी जैन, जयपुर १२. श्रीमती प्रतिभा राजेन्द्रकुमारजी जैन, बांदा (उ.प्र.) १३. श्रीमती मालतीलता नथमलजी झांझरी, जयपुर १४. श्री के.एल. जैन, जयपुर १५. श्री राजेन्द्रकुमार आशीषकुमार जैन शुभ आनलाइन, कटनी १६. श्री के.सी. जैन मानसरोवर, जयपुर १७. श्री ताराचन्दजी गोधा, जयपुर १८. डॉ. ऋषभ नीलेशजी जैन, दिल्ली १९. श्री संतोष कांता सेठी, जयपुर २०. श्री अमन जैन संजय जैन, दिल्ली २१. श्री सनतकुमारजी जैन, भोपाल २२. श्रीमती सरोज कटारिया, जयपुर।

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२–६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०–१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००
१५–१६. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००
१७. छहढाला का सार	१५.००
१८. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००
१९. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
२०. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	२०.००
२१. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००
२२. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००
२३. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००
२४. धर्म के दशलक्षण	२०.००
२५. क्रमबद्धपर्याय	२०.००
२६. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००
२७. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तरार्द्ध)	१५.००
२८. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	४०.००
२९. बिखरे मोती	१६.००
३०. सत्य की खोज	२५.००
३१. अध्यात्म नवनीत	१५.००
३२. आप कुछ भी कहो	१२.००
३३. आत्मा ही है शरण	१५.००
३४. सुक्ति–सुधा	१८.००
३५. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००
३६. दृष्टि का विषय	१०.००
३७. गागर में सागर	७.००
३८. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००
३९. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००
४०. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
४१. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
४२. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
४३. वीतराग–विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
४४. मैं कौन हूँ	७.००
४५. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
४६. निमित्तोपादान	३.५०
४७. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
४८. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
४९. ध्यान का स्वरूप	४.००
५०. रीति–नीति	३.००
५१. शाकाहार	३.००
५२. भगवान ऋषभदेव	४.००
५३. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
५४. चैतन्य चमत्कार	४.००
५५. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
५६. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
५७. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५८. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
५९. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
६०. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
६१. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
६२. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
६३. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
६४. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
६५. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
६६. समयसार पद्यानुवाद	३.००
६७. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
६८. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
६९. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
७०. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
७१. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
७२. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
७३. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
७४. सिद्धभक्ति	१०.००
७५. अर्चना जेबी	१.५०
७६. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
७७. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
७८–७९. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	६.००
८०–८२. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१२.००
८३–८४. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
८५. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व – डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह्न अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन – अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००

प्रकाशनाधीन

५. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह्न नीतू चौधरी
६. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह्न सीमा जैन
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह्न शिखरचन्द जैन
८. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह्न ममता गुप्ता

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
१.	पृष्ठभूमि	१
२.	मंगलाचरण	९
३.	पहला अध्याय	१४
४.	दूसरा अध्याय	८८
५.	तीसरा अध्याय	१३७
६.	चौथा अध्याय	१७७
७.	पाँचवाँ अध्याय	२०५
८.	छठवाँ अध्याय	२३८
९.	सातवाँ अध्याय	२६४
१०.	आठवाँ अध्याय	२९१
११.	नौवाँ अध्याय	३२८
१२.	दसवाँ अध्याय	३९५
१३.	तत्त्वार्थसूत्र (मूल)	४०७

तत्त्वार्थमणिप्रदीप

(आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका)

पृष्ठभूमि

मंगलाचरण

(दोहा)

शुद्धातम अर पंचपद नमकर बारम्बार।
मणिप्रदीप प्रस्तुत करूँ तत्त्वारथ का सार।।

(रोला)

तत्त्वारथ का सार सूत्र में जो प्रतिपादन।
उमास्वामी ने किया परमपावन मनभावन।।
पूज्यपाद अकलंक सु विद्यानन्द महोदय।
टीकाकार महान संत सद्भाग्य दयोदय।।१।।
इन सबका ही सार सरल भाषा-शैली में।
जन-जन के हित हेतु सहज अनुपम शैली में।।
लिखने का है भाव भव्यजन इसे चाव से।
पढ़ना बारम्बार प्रेम से भक्तिभाव से।।२।।

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैन समाज जितना अधिक परिचित है; उनके जीवन परिचय के संदर्भ में उतना ही अपरिचित है।

कहा जाता है कि आचार्य उमास्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टशिष्य थे और विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतभूमि को सुशोभित कर रहे थे।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, **जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता एवं असीम सम्मान प्राप्त है।** उनके सूत्र ग्रन्थ महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है; जो स्थान हिन्दूधर्म में गीता को,

ईसाइयों में बाइबिल को और इस्लाम में कुरान को प्राप्त है। अधिकांश जैन ह्न मुख्यत: माता-बहिने ह्न इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं।

मात्र सात-आठ पृष्ठों में समाहित हो जानेवाली इस महानतम कृति के संदर्भ में कहा गया है कि ह्न

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।।

तत्त्वार्थसूत्र के दश अध्यायों के भाव को भलीभाँति जानकर उसका पाठ करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है ह्न ऐसा कथन मुनिपुंगवों अर्थात् श्रेष्ठ मुनिराजों द्वारा किया गया है।

गागर में सागर ह्न इस सूक्ति को सार्थक करनेवाला यह तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्र ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गये जैन ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है।

सूत्र पद की परिभाषा जयधवल में इसप्रकार प्राप्त होती है ह्न

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः।।[१]

जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह से रहित हो, जिसमें सार भरा हो, गूढ पदार्थों का निर्णय करनेवाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो; उसे बुधजन सूत्र कहते हैं।

इस महान ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति, आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (सभाष्य) और आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक (सभाष्य) नामक वार्तिक लिखे; जो आज उपलब्ध हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ से छपे तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो बोल्ड टाइप में है और जिन पर नम्बर डले हैं; वे वार्तिक हैं और नम्बरों के बाद जो सामान्य टाइप में मेटर दिया गया है, वह भाष्य है। इसीप्रकार श्लोकवार्तिक में वार्तिक श्लोकों में है और भाष्य गद्य में है।

---

१. पण्डित चेतनदास कृत, तत्त्वार्थसार वचनिका, पृष्ठ ३७

जिसमें सूत्रों के पदों का आश्रय लेकर प्रत्येक पद का विवेचन किया जाता है; उसे वृत्ति कहते हैं।

श्लोकवार्तिक में वार्तिक की परिभाषा इसप्रकार दी गई है ह्न

वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्ति चोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम् ह्न सूत्र का अवतार नहीं होने देने का तथा सूत्रों के अर्थ को सिद्ध न होने देने का ऊहापोह या तर्कणा करना और उसका परिहार करना तथा ग्रन्थ के विशेष अर्थ को प्रतिपादित करना **वार्तिक** है।[१]

सूत्र ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन को भाष्य कहते हैं।[२]

कहा जाता है कि आचार्य समन्तभद्र ने इस पर **गंधहस्तिमहाभाष्य** नामक भाष्य लिखा था, जो आज अनुपलब्ध है। कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण को आधार बनाकर लिखा गया देवागम स्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा, उस गंधहस्तिमहाभाष्य का ही मंगलाचरण है।

इस मंगलाचरणरूप **देवागमस्तोत्र** अर्थात् **आप्तमीमांसा** पर भी अकलंकदेव ने आठ सौ श्लोक प्रमाण, **अष्टशती** नामक ग्रन्थ लिखा एवं आचार्य विद्यानन्द ने उक्त अष्टशती को गर्भित करते हुए आठ हजार श्लोक प्रमाण, **अष्टसहस्री** नामक महान ग्रंथ लिखा।

इनके अतिरिक्त योगीन्द्रदेव कृत **तत्त्वप्रकाशिका,** अभयनन्दि कृत **तत्त्वार्थवृत्ति,** भास्करनन्दि कृत **सुखबोधातत्त्वार्थवृत्ति** आदि अनेक टीकायें संस्कृत भाषा में प्राप्त होती हैं।

हिन्दी भाषा में भी इस पर वचनिका के रूप में अनेक टीकायें लिखी गईं। आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर कलम चलाई है। इसप्रकार यह जैनदर्शन का सर्वाधिक लोकप्रिय सर्वमान्य सूत्र ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ के दश अध्यायों में छोटे-बड़े कुल मिलाकर **३५७** सूत्र हैं और मंगलाचरण का एक छन्द है।

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३, पृष्ठ ५३६
२. आदर्श हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ ५९१

इसके नाम में मूल शब्द **'तत्त्वार्थ'** है। तत्त्वार्थों का अत्यन्त संक्षेप में प्रतिपादन होने से इस ग्रन्थ का नाम **तत्त्वार्थसूत्र** रखा गया। सूत्र का अर्थ ही संक्षिप्त होता है। मूल शब्द **तत्त्वार्थ** होने से ही सर्वार्थसिद्धि नामक इसकी टीका को **तत्त्वार्थवृत्ति,** राजवार्तिक नामक वार्तिक को **तत्त्वार्थवार्तिक** एवं श्लोकों में लिखे गये वार्तिक को **तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक** कहा गया है। इसप्रकार हम देखते हैं कि **इन ग्रन्थों में तत्त्वार्थों का सूत्र, वृत्ति और वार्तिकों में प्रतिपादन किया गया है।**

इसप्रकार सर्वप्रथम विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आरंभ में आचार्य उमास्वामी द्वारा तत्त्वार्थों का सूत्र के रूप में प्रतिपादन किया गया।

तदुपरान्त छठवीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दि द्वारा उक्त सूत्रों में प्रतिपादित तत्त्वार्थों का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए **बारह हजार श्लोक प्रमाण** तत्त्वार्थवृत्ति लिखी गई है, जिसका नाम **सर्व अर्थ को सिद्ध करनेवाली होने से सर्वार्थसिद्धि रखा गया।**

उसके बाद विक्रम की आठवीं शताब्दी में आचार्य अकलंकदेव ने उक्त तत्त्वार्थों का विस्तार से विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सोलह हजार श्लोक प्रमाण भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसको तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थराजवार्तिक अथवा अकेला **राजवार्तिक** कहा गया।

तदुपरान्त विक्रम की नौवीं शताब्दी में आचार्य विद्यानन्द ने विशेष विस्तार से प्रतिपादन के लिए बीस हजार श्लोकों में भाष्य सहित वार्तिक लिखे, जिसका नाम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रखा गया। इसे अकेले **श्लोकवार्तिक** नाम से भी जाना जाता है।

ध्यान रहे, श्लोक प्रमाण में बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक माना गया है। इसी के आधार पर ग्रन्थों के परिमाण की गणना की जाती रही है।

तत्त्वार्थों का सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के रूप में प्रतिपादन के अलावा अत्यधिक विस्तार से प्रतिपादन के लिए भाष्य भी लिखे गये।

कहते हैं कि विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र ने

इस पर **चौरासी हजार श्लोक प्रमाण एक महाभाष्य लिखा था; जो अभी अनुपलब्ध है।** एक भाष्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी लिखा गया है, जिसका नाम तत्त्वार्थाधिगम भाष्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर अत्यन्त गंभीर टीकायें प्रस्तुत करनेवाले एवं पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय जैसे श्रावकाचार तथा लघुतत्त्वस्फोट जैसे स्तुति काव्य के लेखक दसवीं सदी के आचार्य अमृतचन्द्र ने भी तत्त्वार्थसूत्र को आधार बनाकर **तत्त्वार्थसार** नामक ग्रन्थ लिखा है; जो गद्य में न होकर पद्य में है।

उक्त ग्रन्थ में भी **तत्त्व** या **अर्थ** का नहीं, अपितु **तत्त्वार्थ** का ही विवेचन है। इसके साथ लगा 'सार' पद इस बात का सूचक है कि इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्र के पूर्व लिखे गये तत्त्वार्थप्रतिपादक सभी शास्त्रों का सार समाहित है। यद्यपि यह बात परम सत्य है; तथापि तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखे गये इस शास्त्र में आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थ-राजवार्तिक का विशेष आधार लिया गया है।

अनुष्टुप् (श्लोक) छन्दों में लिखे गये इस तत्त्वार्थसार नामक शास्त्र में कुल मिलाकर ६८६ अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी महान ग्रन्थों का मूल आधार, एकमात्र आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र ही है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि वृत्ति और तत्त्वार्थराजवार्तिक के संदर्भ में कहा गया है कि ह्न

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्

प्रमाण शास्त्र में अकलंक का तत्त्वार्थराजवार्तिक और लक्षणशास्त्र में पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि मूल आधार ग्रन्थ हैं।

१. इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रमाणशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल आधार भी तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई टीकायें ही हैं।

२. इसीप्रकार न्यायशास्त्र के आधार ग्रंथ भी इस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर लिखी आप्तमीमांसा और उसकी टीका अष्टशती व अष्टसहस्री हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि जैनदर्शन संबंधी प्रमाणशास्त्र, न्यायशास्त्र और लक्षणशास्त्र का मूल उद्‌गम यही ग्रंथराज है।

यह भी सर्वविदित ही है कि न्याय का सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख भी आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से लिखा गया है। **न्यायशास्त्र में आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का वही स्थान है, जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में तत्त्वार्थसूत्र का है।**

परीक्षामुख सूत्र पर लिखी गई अनंतवीर्य आचार्य कृत प्रमेयरत्नमाला नामक टीका और प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान ग्रन्थ का न्यायशास्त्र में वही स्थान है, जो स्थान सिद्धान्तशास्त्रों में सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक का है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि सम्पूर्ण न्यायशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं का ऋणी है।

प्राचीनकाल में किसी भी विषय के प्रतिपादन के लिए सूत्र, वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखे जाते रहे हैं। जैनदर्शन में **तत्त्वार्थ** एक ऐसा विषय है, जिसका जानना मुक्तिमार्ग में अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि **मुक्तिमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थों के श्रद्धान का ही नाम है।**

तत्त्वार्थ क्या है ? ह्न इसका प्रतिपादन ही इन सभी ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य है। तत्त्वार्थ सात होते हैं, उनका कथन प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र से ही आरंभ हो जाता है।

मोक्षमार्ग और मोक्ष का प्रतिपादन होने से इसे **मोक्षशास्त्र** भी कहते हैं। इसप्रकार इस ग्रन्थ के **तत्त्वार्थसूत्र** और **मोक्षशास्त्र** ह्न ये दो नाम प्रसिद्ध हैं।

ध्यान रहे वृत्ति, वार्तिक, भाष्य एवं हिन्दी वचनिकायें ह्न ये सब एक प्रकार से छोटी-बड़ी विभिन्न शैली में लिखी गई टीकायें ही हैं।

इसप्रकार इस छोटे से सूत्र ग्रन्थ पर लिखे गये गंभीर, विशाल और युक्तियुक्त ग्रन्थों की समृद्ध परम्परा है।

यह ग्रन्थराज जैन समाज द्वारा संचालित सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और भारतवर्ष के सभी जैन विद्यालयों में यह पढ़ाया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार, प्रवचनसार और नियमसार ग्रन्थों पर लिखे गये मेरे अनुशीलनों को पढ़कर अनेक अध्यात्मप्रेमी आत्मार्थी बन्धुओं को यह तीव्रतम भाव आया कि मैं भी उक्त परम्परा को आधार बनाकर तत्त्वार्थों का विवेचन करूँ।

मुझे भी इसप्रकार का भाव था, पर जिन-अध्यात्म में विशेष रुचि होने से मेरी दृष्टि आचार्य कुन्दकुन्द पर ही केन्द्रित रही। विगत २२ वर्षों से मैं एक प्रकार से कुन्दकुन्दमय ही हो गया हूँ। इन दिनों मैंने आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों पर लगभग साढे सात हजार पृष्ठ लिखे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्र ग्रंथ में जैनदर्शन का मूल प्रतिपाद्य अत्यन्त संक्षेप में है। यद्यपि यह परमसत्य है कि सूत्र ग्रंथ में तो संक्षिप्त कथन ही होता है; तथापि यह इतना अधिक संक्षिप्त हो गया है कि यह ग्रंथ जैनदर्शन के मूल प्रतिपाद्य का मात्र सूची-पत्र बनकर रह गया है।

जो कुछ भी विस्तार है; वह सब टीका ग्रंथों में ही है। टीका ग्रंथों में भरपूर अवकाश था। अत: उनमें वह सबकुछ भरने का प्रयास किया गया है कि जिसकी अत्यन्त आवश्यकता थी।

उन टीका ग्रंथों में कुछ तो बहुत विस्तारवाले ग्रंथ हैं और कुछ अत्यन्त गंभीर हैं; अत: उन पर भी टीकायें लिखी गईं, विभिन्न भाषाओं में उनके अनुवाद हुए; इसप्रकार एक बहुत बड़ा वटवृक्ष खड़ा हो गया है।

अन्तर की गहराई से मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा है कि मुझे भी इस धारा में अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करना चाहिए। इससे **एक लाभ** तो यह होगा कि मुझे इनका कुछ गहरा अध्ययन हो जावेगा।

दूसरी बात यह भी है कि मेरे साहित्य के अध्येता अध्यात्मरुचिवाले पाठकों को सहज ही इस विषय का कुछ न कुछ परिचय हो जावेगा।

आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र और उस पर लिखी टीकाओं

में भी मेरी गहरी रुचि रही है। उनका अध्ययन भी मैंने यथासाध्य किया ही है।

इस महाशास्त्र में अनेक ऐसे प्रसंग हैं; जिनके विशेष स्पष्टीकरण करने का भाव मुझे रहा है। मात्र उक्त प्रसंगों पर प्रकाश डालने की अपेक्षा सम्पूर्ण ग्रंथ पर प्रकाश डालना ही ठीक रहेगा ह्न इस विचार से ही इस तत्त्वार्थमणिप्रदीप ग्रंथ का जन्म हो रहा है।

यह **तत्त्वार्थमणिप्रदीप** ग्रंथ एक प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र की टीका ही है।

मुझे विश्वास है कि यह तत्त्वार्थमणिप्रदीप ग्रंथ, परमतत्त्वार्थरूप निज भगवान आत्मा के साथ-साथ सभी तत्त्वार्थों पर प्रकाश डालने में सफल होगा। इस सरल-सुबोध कृति से वे सभी आत्मार्थी भाई-बहिन लाभान्वित होंगे; जो त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के साथ-साथ प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों से भी परिचित होना चाहते हैं।

यद्यपि इसप्रकार का भाव बहुत दिनों से चल रहा था; **तथापि काललब्धि आये बिना तो कुछ संभव नहीं है।**

लगता है अब इसकी काललब्धि आ गई है और मुझे तत्त्वार्थों की इस परम्परा पर लिखने का तीव्रतम भाव हो रहा है; पर इसका पूर्ण होना काललब्धि और होनहार पर निर्भर है; मेरा प्रयास तो रहेगा ही।

इसमें किसी को कुछ विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मैं इसे इस ढलती उम्र में अपनी चित्त शुद्धि के लिए लिख रहा हूँ; यदि इससे अन्य आत्मार्थी बन्धुओं को भी कुछ लाभ प्राप्त हो जावे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

ध्यान रहे, मेरी अध्यात्मरुचि का प्रतिफलन तो इसमें यत्र-तत्र होगा ही; पर मुख्य प्रतिपादन तो मूल ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयानुसार ही होगा।

यद्यपि प्रस्तावित इस ग्रन्थ के अनुशीलन में तत्त्वार्थसूत्र के संबंध में अद्यावधि उपलब्ध सभी साहित्य का यथासाध्य सहयोग लिया जायेगा, उपयोग किया जायेगा; तथापि अधिक विस्तार में न जाकर इसे मध्यमरूप में ही प्रस्तुत करने का विकल्प है; फिर यथासाध्य जो होगा, सो होगा। विशेष विकल्प करने से क्या लाभ है? ●

मंगलाचरण

(अनुष्टुभ्)

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ।।

(हरिगीत)

मोक्षमार्ग के नेता एवं कर्मपर्वतों के भेदक।
और विश्व के सब तत्त्वों के ज्ञायक चेतन संवेदक।।
सद्गुण आप समान प्राप्त हों ह्न यही भावना भाकर देव।
विनयपूर्वक करूँ वन्दना बारम्बार जिनेश्वर देव।।

मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक एवं विश्व के सभी तत्त्वों के ज्ञायक हे जिनेश्वरदेव ! मैं आपके समान गुणों की प्राप्ति के लिए आपकी बारम्बार वंदना करता हूँ।

कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ह्न इन चार घातिया कर्मों का अभाव कर देनेवाले एवं विश्व के सभी तत्त्वों अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय सहित सभी पदार्थों को जाननेवाले हे वीतरागी-**सर्वज्ञ** अरहंतदेव ! आप दिव्यध्वनि द्वारा सभी भव्यजीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; इसलिए **हितोपदेशी हैं,** मोक्षमार्ग के नेता हैं, क्योंकि आप सबको मोक्षमार्ग में ले जानेवाले हैं।

उक्त गुणों की प्राप्ति मुझे भी हो ह्न इस भावना से मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; **वह आप्त है, सच्चा देव है।** आप्त की परिभाषा में समागत उक्त तीन विशेषणों को आधार बनाकर ही उक्त छन्द में सच्चे देव को, अरहंत परमेष्ठी को, तीर्थंकर अरहंत को नमस्कार किया गया है।

उक्त गुणों को आधार बनाकर ही आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा, आचार्य विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे हैं; जिनमें क्रमशः

आप्त के स्वरूप पर मीमांसा की गई है, आप्त की परीक्षा की गई है। इसप्रकार यह मंगलाचरण भी अनेक ग्रन्थों का जनक है।

आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा की टीकायें तो अष्टशती व अष्टसहस्री हैं ही; आचार्य विद्यानन्द कृत आप्तपरीक्षा की तीन हजार श्लोक प्रमाण टीका आचार्य श्री विद्यानन्द ने स्वयं ही लिखी है। यही कारण है कि उसे स्वोपज्ञटीका कहते हैं।

आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओं में सर्वप्रथम सर्वज्ञता की सिद्धि सामान्यरूप से और विशेषरूप से की गई है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि का आशय यह है कि लोक में सर्वज्ञ की सत्ता है या नहीं ? कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ? इस पर गंभीरता से मंथन कर अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध करना कि लोक में सर्वज्ञ की सत्ता संभव है।

सामान्य सर्वज्ञसिद्धि हो जाने के उपरान्त पूर्वापर अविरोधी वचनों के आधार पर **अरहंत पद को प्राप्त किसी व्यक्ति विशेष को सर्वज्ञ सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि है।**

आप्तमीमांसा में सामान्य सर्वज्ञसिद्धि करने के उपरान्त पूर्वापर अविरोधी वचनों के आधार पर अरहंत भगवान को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। साथ में यह भी बताया गया है कि पूर्वापर विरोधी वचनों के कारण कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ तो आप अरहंत पद में सर्वज्ञता सिद्ध कर रहे हैं; अत: यह विशेष सर्वज्ञसिद्धि कहाँ हुई ? अरहंत पद के सामान्य होने से यह भी एक प्रकार से सामान्य सर्वज्ञसिद्धि ही हुई।

उत्तर : ऐसा नहीं है; क्योंकि सामान्य सर्वज्ञसिद्धि में तो **यह सिद्ध किया जाता है कि इस लोक में सर्वज्ञ की सत्ता संभव है। सबको जानना, प्रत्यक्ष जानना असंभव नहीं है ह्न मात्र यह सिद्ध करना ही सामान्य सर्वज्ञसिद्धि है।**

अरहंत पद को प्राप्त व्यक्ति सब द्रव्यों को (उनके गुण-पर्यायों

सहित) एक समय में जानता है, जान लेता है ह्न यह सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि है।

इस पर यदि कोई यह कहे कि ऋषभदेव या महावीर को सर्वज्ञ सिद्ध करना विशेष सर्वज्ञसिद्धि क्यों नहीं है ?

तो उसका सहज उत्तर यही होगा कि ऋषभदेव या महावीर जन्म से लेकर देहान्त तक देह में रहनेवाले व्यक्ति का नाम है। ऋषभदेव या महावीर जन्म से सर्वज्ञ नहीं थे; किन्तु **अरहंत पद को प्राप्त व्यक्तिविशेष तो नियम से सर्वज्ञ होते ही हैं।**

अत: अरहंत को सर्वज्ञ सिद्ध करना ही विशेष सर्वज्ञसिद्धि है ह्न यह कथन पूर्णत: निर्दोष है।

यही कारण है कि जैनागम में सर्वत्र यही कहा गया है कि **जिणेहिं णिद्दिट्ठा ह्न** जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, **भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ह्न** सर्वदर्शी अरहंत भगवान के द्वारा कहा गया है। कहीं भी यह नहीं कहा गया कि ऋषभदेव ने कहा या महावीर ने कहा।

ध्यान रहे, असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश राजा ऋषभदेव ने दिया था, अरहंत भगवान ऋषभदेव ने नहीं, सर्वज्ञ भगवान ने नहीं।

यह तो आप जानते ही हैं कि अरहंत पद प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय है; अत: हमें अरहंत बनना है, पर महावीर नहीं बनना है, ऋषभदेव भी नहीं बनना है।

प्रश्न : दीक्षा लेते समय नाम बदलने का कारण भी क्या यही हो सकता है ?

उत्तर : हो क्या सकता है, होता ही है; क्योंकि जिसप्रकार का शुद्ध सात्त्विक जीवन मुनि अवस्था में होता है; उसप्रकार का शुद्ध सात्त्विक जीवन, उसके पूर्व गृहस्थ जीवन में कैसे हो सकता है ?

प्रश्न : इसप्रकार तो तीर्थंकर पद के बारे में भी प्रश्न खड़ा हो सकता है ?

उत्तर : नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होने से तीर्थंकर तो नियम से सर्वज्ञ होते हैं।

वस्तुत: बात तो यह है कि तेरहवें गुणस्थान के पहले कोई व्यक्ति

न तो सर्वज्ञ है, न अरहंत है और न तीर्थंकर ही है। ये तीनों अवस्थाएँ एक साथ ही प्रगट होती हैं। वस्तुतः बात यह है कि यहाँ तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर अरहंत भगवान को ही आप्त कहा गया है।

इसप्रकार आप्तमीमांसा में सर्वप्रथम दोनों सर्वज्ञसिद्धियों को सफलतापूर्वक स्थापित करने के बाद स्याद्वाद के माध्यम से अनेकान्त की स्थापना की गई है।

आप्तपरीक्षा में मुख्यरूप से जगतकर्ता ईश्वर, सुगत, कपिल आदि की परीक्षा करते समय अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि वे सर्वज्ञ नहीं थे और अन्त में **अरहंत भगवान सर्वज्ञ थे ह्न यह सिद्ध किया है।**

इसप्रकार सम्पूर्ण न्यायशास्त्र का मूल आधार यह तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ और उसकी टीकायें ही रही हैं।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ मंगलाचरण में तीर्थंकर अरहंत परमात्मा की स्तुति में न तो किसी भी प्रकार के अतिशयों की चर्चा की गई है और न किसी भी प्रकार की लौकिक कार्यों की सिद्धि, विषयभोगों की प्राप्ति, शत्रुओं के पराभव एवं धन-सम्पत्ति प्राप्ति की कामना की गई है।

वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ही वीतरागभाव से की गई है; उनकी दिव्यध्वनि सुनने की भावना से की गई है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि इस मंगलाचरण के छन्द को आधार बनाकर लिखा गया आचार्य समन्तभद्र कृत देवागम स्तोत्र व अन्य स्तुति साहित्य न केवल सर्वोत्कृष्ट एवं आदर्श स्तुति साहित्य है, अपितु जैन न्याय का मूल उद्भव स्थान भी है।

आज के स्तुति साहित्य में तो अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई हैं। वीतरागी सर्वज्ञ भगवान को कर्ता-धर्त्ता बताकर, उनसे भोगों की भीख माँगना, अनेक प्रकार के संकटों से उबारने की प्रार्थना करना; यहाँ तक कि कल्पित शत्रुओं के विनाश करने की प्रार्थना करना तो आम बात हो गई है।

यद्यपि जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों के विरोधी इसप्रकार के स्तुति साहित्य को जैन स्तुति साहित्य कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता; तथापि व्यर्थ के विवाद से बचने के लिए यह सब व्यवहारनय से किया गया उपचरित कथन है ह्न ऐसा कहकर-मानकर उपेक्षणीय है।

तात्पर्य यह है कि एकमात्र वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा ही इष्टदेव हैं; और उनकी दिव्यध्वनि में समागत वीतरागी तत्त्वज्ञान ही एकमात्र उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है।

वस्तुतः विचार किया जाय तो एकमात्र त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही जानने योग्य है, निजरूप जानने-मानने योग्य है, उसमें ही अपनापन स्थापित करना है, उसमें ही जमना-रमना है; इसका नाम ही निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। एकमात्र यही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर अरहंत भगवान; दिव्यध्वनि के माध्यम से मुक्तिमार्ग का स्वरूप बताकर भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग में ले जाते हैं; इसलिए **वे मोक्षमार्ग के नेता हैं।** चार घातिया कर्म के उदय से होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित होने से कर्मरूपी पर्वतों के भेदक **पूर्ण वीतरागी हैं।** केवलज्ञान के धारक होने से अपने आत्मा के साथ-साथ द्रव्य-गुण-पर्याय सहित लोक के समस्त पदार्थों को हाथ पर रखे हुए आंवले के समान जानने के कारण **सर्वज्ञ** हैं।

उनकी वाणी पूर्वापर विरोध से रहित पूर्णतः सत्य है। **असत्य या तो अज्ञान से बोला जाता है या फिर राग-द्वेष से।** वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के न तो राग-द्वेष हैं और न अज्ञान है; अतः उनकी वाणी सत्य है, अत्यन्त हितकारी है। **जो व्यक्ति उनके बताये मुक्तिमार्ग पर चलता है, वह भी वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाता है, अनंत सुख-शान्ति को प्राप्त करता है; यही कारण है कि उन्हें हितोपदेशी कहा जाता है।**

इसप्रकार अनेक शास्त्रों के मूलाधार इस मंगलाचरण के छन्द में **वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत भगवान को, उन जैसा बनने की भावना से नमस्कार किया गया है।** ●

पहला अध्याय

मोक्षमार्ग

मंगलाचरण के उपरान्त अब सर्वप्रथम मोक्षमार्ग की चर्चा आरंभ करते हैं। यह महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र **मोक्षमार्ग के निरूपण से आरंभ होता है और मोक्ष के स्वरूप प्रतिपादन पर समाप्त होता है।** इसके दशवें अर्थात् अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का ही निरूपण है। इसतरह इसका मोक्षशास्त्र नाम भी सार्थक ही है।

अब सबसे पहले मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाते हैं।

मानो सांसारिक दु:खों से संतप्त कोई आसन्न भव्यजीव; आचार्य उमास्वामी से पूछ रहा हो कि हे प्रभो ! इन दु:खों से, राग-द्वेष से, कर्मों से छूटने का उपाय क्या है, इनसे मुक्त होने का उपाय क्या है ?

उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं ह्न

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: ।।१।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है, सांसारिक दु:खों से छूटने का यही एकमात्र उपाय है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न ये तीन अलग-अलग तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं, अपितु तीनों मिलकर अभेदरूप एक मोक्षमार्ग है; यह बताने के लिए उक्त सूत्र के **मोक्षमार्ग:** ह्न इस पद में एक वचन का प्रयोग किया गया है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आदि में लगा हुआ सम्यक् पद मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के निषेध के लिए है। अत: इस सम्यक् पद को दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह्न इन तीनों के साथ लगाना चाहिए; क्योंकि सम्यक् यह पद आदि दीपक है।

जो पद, वाक्य के आरंभ में लगा हो और वाक्य में समागत अनेक महत्त्वपूर्ण पदों के साथ लगाना आवश्यक हो, उसे **आदि दीपक** कहते हैं। इसीप्रकार जो पद वाक्य के **मध्य** या **अन्त** में हो, पर उसे वाक्य में

समागत अनेक महत्त्वपूर्ण पदों के साथ लगाना आवश्यक हो तो उसे क्रमश: **मध्यदीपक या अन्तदीपक** कहते हैं।

जिसप्रकार दीपक को चाहे घर के आदि में रखें, चाहे मध्य में रखें या अन्त में रखें; वह दीपक अपनी सामर्थ्य के अनुसार सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यहाँ **सम्यक् पद** दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह्न इन तीनों को प्रकाशित करता है, तीनों में लगकर विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि करता है, **उन्हें निर्दोष बनाता है।**

हम यह भी कह सकते हैं कि दर्शन के साथ लगा सम्यक् पद तत्त्वार्थों के संबंध में या आत्मतत्त्व के संबंध में होनेवाले **विपरीत अभिप्राय के निषेध के लिए है;** ज्ञान के साथ लगा सम्यक् पद तत्त्वार्थों या आत्मतत्त्व के संबध में किसी भी प्रकार के संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप **अज्ञान के निषेध के लिए है** और चारित्र के साथ लगा सम्यक् पद **अज्ञानपूर्वक होनेवाले आचरण के निषेध के लिए है।**

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न इन तीनों की एकता ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है तो क्या मुनिलिंग धारण करना, व्रत-उपवासादि करना मुक्तिमार्ग नहीं है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। **कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता, और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो।** जैसे ह्न मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

तथा **कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यत: तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है।** जैसे ह्न

अनशनादि बाह्य तप का साधन करने पर मुख्यत: मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्य तप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई।

तथा कितने ही कारण ऐसे हैं, जिनके होने पर कार्यसिद्धि होती ही होती है, और जिनके न होने पर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे ह्न सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का एकीभाव, सो मोक्षमार्ग जानना।

इन सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र में एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा आगे यथास्थान पूरे विस्तार के साथ होगी; तथापि उन्हें सामान्यरूप से यहाँ भी जान लेना उपयोगी है।

जीवादि तत्त्वार्थों को भलीभाँति जानकर उनका **श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है;** उन्हें स्व–पर भेदविज्ञानपूर्वक **भलीभाँति जानना सम्यग्ज्ञान है** और सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानपूर्वक **राग–द्वेष से निर्वृत्त होना सम्यक्चारित्र है।**

यदि निश्चयनय से विचार करें तो अपने में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है, स्वयं को स्वयंरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और स्वयं में ही जम जाना, रम जाना, समा जाना सम्यक्चारित्र है।

छहढाला नामक ग्रन्थ में पण्डित दौलतरामजी निश्चय रत्नत्रय अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३१३–३१४

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनों सो सम्यग्ज्ञान कला है।।
आपरूप में लीन भये थिर सम्यक् चारित्र सोई।
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये हेतु नियत को होई।।[१]

परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा में ही रुचि होना अर्थात् अपनेपन का भाव होना ही **निश्चय सम्यग्दर्शन है** और वह निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मकल्याणकारी होने से अत्यन्त भला है, अच्छा है।

अपने आत्मा को जानना, निजरूप जानना ही **निश्चय सम्यग्ज्ञान है।** तात्पर्य यह है कि ज्ञान की कला अपने आत्मा को जानने में ही है, आत्मा को निजरूप जानने में ही है।

अपने आत्मा में लीन होना, स्थिर होना, आत्मा में ही जम जाना, रम जाना ही **निश्चय सम्यक्चारित्र है।**

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय का निरूपण करके अब व्यवहार मोक्षमार्ग की चर्चा करेंगे; जो इस निश्चय मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का हेतु है।

इसके बाद छहढाला की तीसरी ढाल में व्यवहारचारित्र का विस्तार से निरूपण है।

न केवल इस मोक्षशास्त्र नामक शास्त्र का, अपितु सम्पूर्ण जिनागम का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही हैं; क्योंकि इन तीनों की उपलब्धि ही एकमात्र अनंत दु:खों से मुक्ति का उपाय है, मुक्तिमार्ग है।

जिन भव्यजीवों को अनंत दु:खों से मुक्त होना हो, वे इस मुक्तिमार्ग का सेवन करें, रत्नत्रय को धारण करें। उनका कल्याण अवश्य होगा।।१।।

---

१. छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २

सम्यग्दर्शन

ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्या हैं ? ह्न ऐसा पूछे जाने पर सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते हैं ह्न

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२।।

तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वार्थ पद **तत्त्व** और **अर्थ** ह्न इन दो शब्दों से मिलकर बना है। इनमें **तत्त्व शब्द भाववाची है** और **अर्थ शब्द वस्तुवाची है।**

तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को जानने के लिए उस वस्तु के साथ उसके भाव को भी जानना चाहिए।

जिसप्रकार किसी धातु से निर्मित विशिष्ट आकारवाला गिलास नामक एक वस्तु है और जलादि तरल पदार्थों को धारण करना उसका भाव है, कार्य है।

यदि कोई व्यक्ति उस वस्तु को, वस्तु के आकार-प्रकार को; भाव सहित जानता है तो वह उस वस्तु या उस जैसी वस्तु से अपने प्रयोजन को साध लेगा। तात्पर्य यह है कि किसी **वस्तु की पहिचान तभी सच्ची होगी, जब हम उस वस्तु को भी जाने और उसके भाव (कार्य) को भी जाने। इसप्रकार भाव सहित वस्तु ही तत्त्वार्थ है।**

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की दृष्टि में तत्त्वार्थ का भाव इसप्रकार है ह्न

''यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है, उसके श्रद्धान बिना केवल भाव ही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा यदि अर्थश्रद्धान ही कहते तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है।

जैसे ह्न किसी को ज्ञान-दर्शनादिक व वर्णादिक का तो श्रद्धान हो; ह्न यह जानपना है, यह श्वेतपना है, इत्यादि प्रतीति हो; परन्तु ज्ञान-

दर्शन आत्मा का स्वभाव है, मैं आत्मा हूँ; तथा वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न-अलग पदार्थ है; ऐसा पदार्थ का श्रद्धान न हो तो भाव का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है।

तथा जैसे 'मैं आत्मा हूँ' ह्न ऐसा श्रद्धान किया; परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। इसलिए तत्त्व सहित अर्थ का श्रद्धान होता है, सो ही कार्यकारी है। अथवा जीवादिक को तत्त्वसंज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी है। इसलिए **'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः'** जो तत्त्व है, सो ही अर्थ है; उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है।

इस अर्थ द्वारा कहीं तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे और कहीं पदार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे, वहाँ विरोध नहीं जानना।[१]''

टोडरमलजी के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि न तो अकेले अर्थ (वस्तु) का श्रद्धान कार्यकारी है और न अकेले तत्त्व (भाव) का श्रद्धान ही कार्यकारी है। अतः **जैनदर्शन में कहीं तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा हो या कहीं अर्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा हो; उसका भाव, तत्त्वार्थ के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।**

समयसार में भूतार्थनय से जाने हुए नव तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहा है।[२] भूतार्थनय का आशय निश्चयनय से है। तात्पर्य यह है कि **हमें यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी है तो निश्चयनय से तत्त्वार्थों को भलीभाँति समझना चाहिए।**

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि समयसार में अकेले भूतार्थनय से जाने हुए नव तत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहा और यहाँ जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा और उनके अधिगम के उपाय के रूप में प्रमाण और नयों को प्रस्तुत किया है; इससे स्पष्ट है कि यहाँ प्रमाण व नयों से जाने हुए जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जा रहा है। इसप्रकार इन दोनों कथनों में मतभेद क्यों है, अन्तर क्यों है ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३१६ २. समयसार, गाथा १३

इसप्रकार के प्रश्न का उत्तर समयसार अनुशीलन भाग १ में इसप्रकार दिया गया है ह्न

''यह मतभेद नहीं, विवक्षाभेद है। यदि दोनों कथनों की विवक्षायें समझ ली जावें तो कोई आशंका नहीं रहेगी।

तत्त्वार्थसूत्र का कथन सैद्धान्तिक कथन है और समयसार का कथन आध्यात्मिक कथन है। तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को सप्त तत्त्वार्थों का प्रमाण और नयों से गुण-पर्याय सहित, सर्वांग विवेचन अभीष्ट था, जैसा कि उन्होंने आगे किया भी है।

जीवों के संसारी-सिद्ध सभी भेद बताये, उनके रहने के स्थानों की चर्चा की। अजीवादि तत्त्वों का भी इसीप्रकार विस्तृत विवेचन किया। आस्रव में सत्तावन प्रकार के आस्रव बताये, उनके शुभाशुभभेद करके व्रतों का वर्णन भी किया। बंधतत्त्व में कर्मों की प्रकृतियाँ गिनाईं, निर्जरा में भी उसके उपायों की विस्तृत समीक्षा की। पर समयसार में यह सब नहीं है, समयसार की प्रतिपादनशैली ही अलग है। **समयसार में तो सभी तत्त्वों में प्रकाशमान आत्मज्योति को ही खोजा गया है।**

सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना भूतार्थनय का ही कार्य है। भूतार्थनय ही यह महान कार्य कर सकता है। अत: समयसार के आरंभ में ही, इस तेरहवीं गाथा में ही यह घोषित कर दिया कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं और आगे सभी तत्त्वों की मीमांसा भी इसी नय से प्रस्तुत की है, सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है।

रही बात तत्त्वों की संख्या में सात और नौ के अन्तर की, सो यह कोई बात नहीं है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य और पाप को आस्रव-बंध में शामिल कर लिया गया है और समयसार में उन्हें अलग कह दिया गया है। ह्न बस इतनी ही बात है।[१]''

विभिन्न शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की विभिन्न प्रकार की अनेक परिभाषायें प्राप्त होती हैं, जिनमें चार प्रमुख हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ १४५-१४६

१. जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।
२. आपापर का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।
३. आत्मश्रद्धान सम्यग्दर्शन है।
४. देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान या देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

इन सबका समन्वय पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक में विस्तार से किया है; जो मूलत: पठनीय है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण में न केवल सम्यग्दर्शन की चारों परिभाषाओं में सहेतुक समन्वय स्थापित किया है, अपितु वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में समागत तत्त्वार्थश्रद्धान नामक परिभाषा की मुख्यता क्यों की है ह्न यह भी बताया है।[१]

लगभग ८ पृष्ठों का उक्त प्रकरण विस्तार भय से यहाँ देना संभव नहीं है; अत: यहाँ यह अनुरोध किया जा रहा है कि जिन लोगों को उक्त विषय में विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें उक्त प्रकरण का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

यद्यपि दर्शन शब्द का अर्थ **देखना** होता है, **सामान्य अवलोकन** होता है; तथापि यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से दर्शन शब्द का प्रयोग श्रद्धान के अर्थ में हुआ है। श्रद्धान का अर्थ प्रतीति है, विश्वास है; इसप्रकार **तत्त्वार्थ की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।**

तत्त्वार्थों को जाने बिना प्रतीति संभव नहीं है; यही कारण है कि आगे तत्त्वार्थों के नाम गिनाकर उन्हें जानने के उपायों की चर्चा आरंभ करेंगे।

उक्त तत्त्वार्थों को जानकर उनके श्रद्धानरूप **सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ह्न स्वभाव से या अधिगम से अर्थात् अपने आप या परोपदेश से।**

अब आगामी सूत्र में उक्त संदर्भ में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करेंगे।।२।।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३२३ से ३३० तक

सम्यग्दर्शन के : उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

यद्यपि यहाँ दूसरे सूत्र के अनुसार तत्त्वार्थ की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि आचार्य यहाँ तत्त्वार्थों की चर्चा करने से पहले उक्त सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बारे में दिशा-निर्देश करना आवश्यक समझते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।३।।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है ह्न प्रथम निसर्ग से, स्वभाव से अर्थात् स्वयं से और दूसरा अधिगम से, ज्ञान से, परोपदेश से।

इसप्रकार उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन दो प्रकार का हो गया ह्न

१. निसर्गज और २. अधिगमज।

यद्यपि यह अकाट्य सत्य है कि देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती; तथापि निसर्गज सम्यग्दर्शन और अधिगमज सम्यग्दर्शन में अन्तर मात्र इतना ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शनवालों को वह देशनालब्धि पूर्वभव में प्राप्त हो जाती है और उसके संस्कार के निमित्त से **वर्तमान भव में साक्षात् उपदेश के बिना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार हुए सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।**

जिन जीवों को इसी भव में देव-शास्त्र-गुरु या ज्ञानी धर्मात्माओं के उपदेशपूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; उनके उस सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनेपनरूप दृढ प्रतीतिरूप उपादान और अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ और मिथ्यात्व का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशमरूप अंतरंग निमित्त तो समानरूप से पाये ही जाते हैं; मात्र परोपदेशरूप बाह्य निमित्त में ही इतना अन्तर होता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में

पूर्वभव में प्राप्त उपदेश का संस्कार बाह्य निमित्त होता है और अधिगमज सम्यग्दर्शन में इसी भव में प्राप्त परोपदेशरूप बाह्य निमित्त होता है।

अरे, भाई ! सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन है; वह निसर्ग से, स्वभाव से हुआ या परोपदेश से ह्न इससे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यहाँ तो मात्र यह बताया गया है कि वह सम्यग्दर्शन किसी को पूर्वभव के संस्कार के निमित्त से स्वत: हो जाता है और किसी को सद्गुरु के सत्समागम से सदुपदेश पूर्वक होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनरूप कार्य का; स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादानरूप कारण तो स्वयं का आत्मा या उसका श्रद्धा गुण है; विधि/प्रक्रिया का नियामक, क्षणिक उपादान नम्बर एक अनन्तरपूर्व-क्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ है तथा काल का नियामक क्षणिक उपादान नम्बर दो तत्समय की योग्यता है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होनेरूप कार्य का; स्वभाव का नियामक आत्मा का श्रद्धागुणरूप त्रिकाली उपादान, विधि या प्रक्रिया का नियामक अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादान नम्बर एक एवं काल का नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान नम्बर दो है।

जब उक्त उपादानों के बल पर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थपूर्वक सम्यग्दर्शन रूप कार्य उत्पन्न हो रहा होता है; तब निमित्त के रूप में तत्संबंधी कर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयरूप अंतरंग निमित्त तो होता ही है।

बाह्य निमित्त के रूप में यदि पूर्वकाल में प्राप्त उपदेश का संस्कार निमित्त हो तो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और वर्तमान में प्राप्त परोपदेश निमित्त हो तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसप्रकार **निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन में मात्र बहिरंग निमित्त का ही अन्तर है;** तीनों उपादानकारण और अंतरंग निमित्त तो समान ही हैं।।३।।

सात तत्त्वार्थ

दूसरे सूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा था। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि **तत्त्वार्थ कितने प्रकार के होते हैं और वे कौन-कौन हैं ?** उक्त प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ह्र

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।४।।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्र ये सात तत्त्व हैं। यद्यपि पुण्य और पाप तत्त्व आस्रव व बंध में शामिल हैं; तथापि यदि उनका पृथक् से उल्लेख करें तो इन्हें मिलाकर तत्त्व नौ प्रकार के हो जाते हैं।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि सम्यग्दर्शन की परिभाषा में तो **तत्त्वार्थों** की चर्चा की गई थी; पर यहाँ तो **तत्त्वों** की बात की जा रही है।

उत्तर ह्र बात एक ही है। यहाँ तत्त्वार्थों को ही तत्त्व कहा जा रहा है। पूर्व में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि चाहे हम तत्त्व कहें, चाहें अर्थ कहें या फिर तत्त्वार्थ कहें ह्र इस प्रकरण में तीनों का अर्थ एक ही समझना चाहिए।

प्रश्न ह्र पुण्य और पाप आस्रव-बंध में किसप्रकार शामिल होते हैं?

उत्तर ह्र आस्रव भी दो प्रकार का होता है और बंध भी दो प्रकार का होता है। वह इसप्रकार है ह्र

१. पुण्यास्रव और २. पापास्रव। १. पुण्यबंध और २. पापबंध।

इसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं ह्र

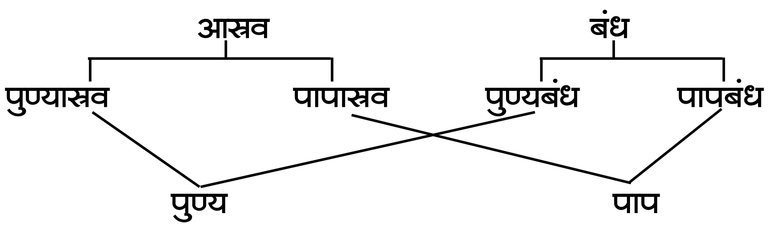

इसे हम इस रूप में भी समझ सकते हैं ह्र

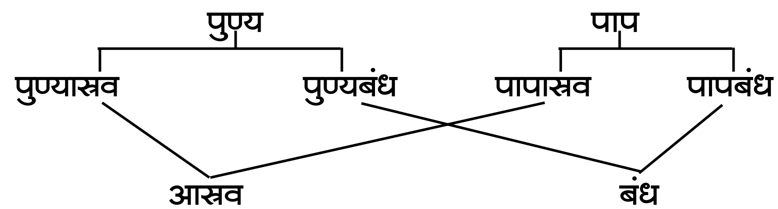

यद्यपि यहाँ सात या नौ तत्त्व ही कहे हैं; तथापि उक्त नौ तत्त्व भी हैं, अर्थ भी हैं और तत्त्वार्थ भी हैं। यहाँ इस सूत्र में तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है; अत: यहाँ तत्त्वार्थ ग्रहण करना ही उचित है।

इन तत्त्वार्थों का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है ह्र

१. जीव ह्र ज्ञान-दर्शनस्वभावी/ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व अथवा जीव तत्त्वार्थ कहते हैं।

२. अजीव ह्र ज्ञान-दर्शनस्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त पुद्गलादि पदार्थ अजीव तत्त्व या अजीव तत्त्वार्थ हैं।

इन शरीरादि सभी पदार्थों से भिन्न **चेतन तत्त्व आत्मा ही जीव है।** वह आत्मारूप जीव मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न सभी पुद्गलादि पदार्थ अजीव हैं।

इसप्रकार सामान्य से तो जीव और अजीव ह्र ये दो द्रव्य पदार्थ ही तत्त्वार्थ हैं। आस्रवादिक तो इन जीव-अजीव तत्त्वार्थों के सम्मिलित विशेष हैं।

तत्त्वार्थ दो प्रकार के होते हैं ह्र द्रव्य तत्त्वार्थ और पर्याय तत्त्वार्थ। जीव और अजीव द्रव्यरूप तत्त्वार्थ हैं और शेष आस्रवादिक पर्यायरूप तत्त्वार्थ हैं।

पर्यायरूप तत्त्वार्थ द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उन्हें हम इसप्रकार जान सकते हैं ह्र

१. भावास्रव और द्रव्यास्रव　　२. भावबंध और द्रव्यबंध

३. भावसंवर और द्रव्यसंवर　　४. भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा

५. भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष ६. भावपुण्य और द्रव्यपुण्य
७. भावपाप और द्रव्यपाप

इनका स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१. भावास्रव और द्रव्यास्रव ह्न जिन मोह-राग-द्वेषरूप भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेष भावों को तो भावास्रव कहते हैं और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादि कर्मोंरूप परिणमना, द्रव्यास्रव है।

२. भावबंध और द्रव्यबंध ह्न मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में आत्मा का रुक जाना, भावबंध है और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणारूप पुद्गल का स्वयं कर्मरूप होकर आत्मा से बंधना ह्न एकक्षेत्रावगाहरूप होना, द्रव्यबंध है।

३. भावसंवर और द्रव्यसंवर ह्न पुण्य-पाप के विकारी भावों (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना, वीतरागभाव रूप परिणमना, भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का स्वयं आना रुक जाना, द्रव्यसंवर है।

४. भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा ह्न ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूपस्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश होना, सो भाव-निर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़ कर्म का अंशत: खिर जाना, सो द्रव्यनिर्जरा है।

५. भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष ह्न अशुद्ध दशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना, भाव-मोक्ष है और उसके निमित्त से द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना, द्रव्यमोक्ष है।

६. भावपुण्य और द्रव्यपुण्य ह्न अघाति कर्मों की पुण्य प्रकृतियों के बँधने में आत्मा के जो दया-दानादि शुभभाव निमित्त हैं; वे शुभभाव

भावपुण्य हैं और उनके निमित्त से अघाति कर्मों की जो पुण्य प्रकृतियाँ बँधती हैं; वे द्रव्यपुण्य हैं।

७. भावपाप और द्रव्यपाप ह्न आत्मा के जिन मोह, द्वेष और अशुभरागरूप भावों से घातिकर्म और अघातिकर्म की पाप प्रकृतियोंरूप द्रव्यपापों का बंध होता है, वे भाव, भावपाप हैं। ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म और अघातिकर्मों की पाप प्रकृतियाँ, द्रव्यपाप हैं।

पुण्य और पाप, आस्रव-बंध के ही अवान्तर भेद हैं। शुभ राग से पुण्य का आस्रव और बंध होता है और अशुभ राग, द्वेष और मोह से पाप का आस्रव और बंध होता है।

जीव और अजीव द्रव्यतत्त्व हैं, मूलतत्त्व हैं; अत: उन्हें सर्वप्रथम रखा गया। उसके बाद संसारपूर्वक मोक्ष होने के कारण पहले संसार के कारणरूप आस्रव और बंध, उसके बाद मुक्ति के कारणरूप संवर और निर्जरा ह्न इन पर्यायतत्त्वों को रखा गया है। अन्त में मुक्ति होने से मोक्षतत्त्व को अन्त में रखा गया है।

सर्वप्रथम जीव और उसके बाद जीव के अभावस्वरूप होने से अजीव को रखा गया। उसके बाद आस्रवपूर्वक बंध होने से पहले आस्रव और उसके बाद बंध को रखा गया। इसीप्रकार संवरपूर्वक निर्जरा होने से संवर को पहले और निर्जरा को बाद में रखा गया तथा संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष होने से मोक्ष को उनके बाद रखा गया है अथवा अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष को अन्त में रखा गया है।

इस सूत्रग्रन्थ में जीवादि तत्त्वों को जिस क्रम में रखा गया है; उसी क्रम में अध्यायों को रखा गया है; जो इसप्रकार है ह्न

आरंभ के **चार अध्यायों में जीव तत्त्वार्थ का, पाँचवें अध्याय में पुद्गलादि अजीव तत्त्वार्थों का, छठवें-सातवें अध्याय में आस्रव का, आठवें अध्याय में बंध का, नौवें अध्याय में संवर-निर्जरा का और दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्वार्थ का वर्णन है।**

प्रश्न ह्न प्रस्तुत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का जो क्रम प्रस्तुत किया गया है; ऐसा क्रम समयसार में क्यों नहीं ?

उत्तर ह्न समयसार के अधिकारों के क्रम के संदर्भ में समयसार अनुशीलन का निम्नांकित अंश दृष्टव्य है ह्न

''अत: यहाँ समयसार में समागत क्रम के औचित्य की समीक्षा भी आवश्यक है। उक्त संदर्भ में हमें आत्मख्याति से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। **आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक के मंच पर जोड़ों (युग्मों) की प्रधानता रहती है। इसके अधिकारों के चयन में भी जोड़ों को ध्यान में रखा गया है।** जैसे ह्न जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध-मोक्ष। चूँकि तत्त्व नौ हैं; अत: एक को तो बिना जोड़े का रहना ही था। इसकारण निर्जरा तत्त्व बिना जोड़े के रह गया है और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो स्वतंत्र है ही।

यद्यपि कर्ता-कर्म और सर्वविशुद्धज्ञान ह्न ये दो, नव तत्त्वों में नहीं आते हैं; तथापि इनके संदर्भ में जनसामान्य में बहुत अज्ञान रहता है। इस अज्ञान का निवारण किए बिना, आत्मतत्त्व को सही रूप में समझ पाना संभव नहीं है। अत: इन्हें भी समयसार में स्थान प्राप्त हुआ है।

कर्ता-कर्म अधिकार को जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद क्यों रखा गया है ? यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है।

कर्ता-कर्म संबंधी भूल प्रकारान्तर से जीव-अजीव संबंधी भूल ही है; क्योंकि जीव को अजीव का और अजीव को जीव का कर्ता-भोक्ता मानना भी जीव-अजीव संबंधी भूल ही है। इसकारण इसे जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद रखा गया है।[१]''

इनमें से जीव तत्त्वार्थ ह्न श्रद्धेय, ज्ञेय और ध्येय है। अजीव तत्त्वार्थ – मात्र ज्ञेय है। आस्रव, बंध हेय हैं तथा पुण्य और पाप भी आस्रव-बंधरूप होने से हेय ही हैं। संवर और निर्जरा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय हैं और मोक्ष सर्वदेश उपादेय है।

इसप्रकार यह सात या नौ तत्त्वार्थों का सामान्य स्वरूप है। विशेष स्वरूप विस्तार से यथास्थान आगे आनेवाला ही है।।४।।

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ १४२-१४३

चार निक्षेप

उक्त जीवादि सात तत्त्वार्थों और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को किसप्रकार से जानना चाहिए ह्न इस बात को स्पष्ट करते हुए आगामी सूत्र में चार निक्षेपों की चर्चा आरंभ करते हैं।

प्रमाण और नयों के अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

निक्षेपों का प्रतिपादक सूत्र इसप्रकार है ह्न

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास: ।।५।।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ह्न इन चार निक्षेपों से उक्त सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और सात या नौ तत्त्वार्थों का न्यास अर्थात् प्रतिपादन होता है, लोकव्यवहार संचालित होता है।

निक्षेपों का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१. गुण-दोष आदि की अपेक्षा के बिना किसी स्थान, व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना, **नामनिक्षेप** है।

२. 'यह वह है' ह्न इसप्रकार अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना, **स्थापनानिक्षेप** है।

३-४. अतीत और भावी पर्यायों का वर्तमान में स्थापित करना, **द्रव्यनिक्षेप** है और वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान में स्थापित करना, **भावनिक्षेप** है।

१. नाम निक्षेप को समझाने के लिए इसप्रकार के उदाहरण दिये जाते रहे हैं कि कुरूप व्यक्ति का सुन्दरलाल नाम, निर्धन व्यक्ति का धनपाल नाम, साधारण व्यक्ति का राजाराम नाम **नामनिक्षेप** के उदाहरण हैं।

यद्यपि ये उदाहरण गलत नहीं हैं; तथापि इनसे ऐसा लगता है कि जान-बूझकर गलत बात कही जा रही है। नामनिक्षेप के कथन में सुन्दरलाल का कुरूप होना जरूरी नहीं है, वह सुन्दर भी हो सकता है।

वस्तुत: बात यह है कि नामनिक्षेप की दृष्टि से जो नामकरण किया

जाता है; उसमें किसी गुण-दोष आदि की अपेक्षा नहीं रखी जाती। अत: कुरूप या सुन्दर किसी भी व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल रखा जा सकता है। बात मात्र इतनी ही है कि लोक व्यवहार चलाने के लिए प्रत्येक स्थान, व्यक्ति या वस्तु का नाम होना आवश्यक है।

गुण-दोष आदि का विचार किये बिना उस स्थान, वस्तु या व्यक्ति को जिस नाम से कहने लगें, नामनिक्षेप से उसका वही नाम हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि नामनिक्षेप में 'यथा नाम तथा गुण' का सिद्धान्त लागू नहीं होता; क्योंकि राजा तो अपने बेटे का नाम राजकुमार रखता ही है; **सेवक भी अपने बेटे का नाम राजकुमार ही रखता है, सेवककुमार नहीं।**

२. स्थापनानिक्षेप में व्यवहार चलाने के लिए एक व्यक्ति की अन्य व्यक्ति या वस्तु में स्थापना कर ली जाती है। यह स्थापना दो प्रकार की होती है ह्न १. तदाकार स्थापना, २. अतदाकार स्थापना।

(क) भगवान महावीर के आकार की संगमरमर की मूर्ति में भगवान महावीर की स्थापना करना, प्रतिष्ठा करना ह्न तदाकार स्थापना है।

जैनसमाज में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव **तदाकार स्थापना के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।**

(ख) शतरंज के खेल में बिना किसी आकार की सामान्य सी पत्थर की गोटियों में हाथी, ऊँट और घोड़े की कल्पना करना, **अतदाकार स्थापना है।**

जब किसी व्यक्ति या वस्तु में किसी अन्य की स्थापना कर ली जाती है तो उसे उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है।

नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में मूलभूत यही अन्तर है कि नाम-निक्षेप में पूज्यापूज्यत्व का व्यवहार नहीं होता, जबकि स्थापनानिक्षेप में पूज्यापूज्यत्व का व्यवहार होता है।

किसी भी प्रतिष्ठित मूर्ति की पूजा उस मूर्तिमान व्यक्ति के समान ही की जाती है, जिसकी उसमें प्रतिष्ठा की गई है।

३. भूत और भावी पर्याय की मुख्यता से वर्तमान में कहना **द्रव्यनिक्षेप** है। भूतकाल में पूजा करनेवाले पुरुष को वर्तमान में पुजारी कहना और भविष्य में राजा बननेवाले राजपुत्र को वर्तमान में राजा कहना **द्रव्यनिक्षेप के उदाहरण हैं।**

४. मात्र वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् वर्तमान में जो जैसा है; उसको उसीरूप से कहना, **भावनिक्षेप** है। जब कोई व्यक्ति पूजा कर रहा हो, तब उसे पुजारी कहना, **भावनिक्षेप का उदाहरण है।**

इसप्रकार हम अपने जीवन में निरंतर इन निक्षेपों का प्रयोग करते रहते हैं।

एक जिन शब्द में चारों निक्षेपों का प्रयोग जिसमें है; ऐसी एक गाथा जिनागम में प्राप्त होती है; जो इसप्रकार है ह्न

णामजिणा जिणणामा, ठवण जिणा पुण जिणंदपडियाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।

जिनेन्द्रदेव के गुणों की अपेक्षा न करके किसी का जिन नाम रखना, **नामजिन** है; जिनप्रतिमा **स्थापनाजिन** है; भव्यात्मा, शक्ति अपेक्षा जिन होने से, **द्रव्यजिन** है और समवसरण में स्थित जिनेन्द्रदेव, **भावजिन** हैं।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि इन सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों-पदार्थों को उक्त निक्षेपों के आधार पर समझो-समझाओ, समझने-समझाने का व्यवहार करो; ऐसा करने से इन तत्त्वार्थों की सच्ची समझ बनती है।

नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं और भाव निक्षेप, पर्यायार्थिकनय का विषय है।[1]

उक्त निक्षेपों की सही जानकारी प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थों का उक्त निक्षेपों के अनुसार जो व्यवहार कथन होता है; उसका भाव ख्याल में आ जाता है।।५।।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ १५

प्रमाण-नय

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों को जानने का उपाय क्या है ? उक्त प्रश्न का समुचित उत्तर निम्नांकित सूत्र से प्राप्त होता है।

प्रमाणनयैरधिगमः।।६।।

प्रमाण और नयों के द्वारा उक्त सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है।

अभिनव धर्मभूषणयति की न्यायदीपिका के अनुसार **सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।**

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्र ये पाँचों ही सम्यग्ज्ञान, प्रमाणज्ञान हैं; पर श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान होने के साथ-साथ नयज्ञानरूप भी होता है। **श्रुतविकल्पा नयाः ह्र** ऐसा आगम का वचन है।

प्रश्न ह्र उक्त सूत्र में **प्रमाण** के पहले **नय** पद को रखना चाहिए; क्योंकि नय पद में कम मात्राएँ हैं। जिस पद में कम मात्राएँ होती हैं, उसे पहले रखा जाता है ह्र ऐसा व्याकरणशास्त्र का नियम है।

उत्तर ह्र 'पूज्य को पहले रखा जाता है' ह्र इस नियम के अनुसार यहाँ प्रमाण पद को पहले रखा है। नय से प्रमाण अधिक पूज्य है; क्योंकि जो सम्यग्ज्ञान वस्तु के सर्वदेश को जानता है, उसे **प्रमाणज्ञान** कहते हैं और वस्तु के एकदेश को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान को **नयज्ञान** कहते हैं।

कहा भी है कि **''सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः**[१] ह्र सकलादेश प्रमाणज्ञान का विषय है और विकलादेश नयज्ञान का विषय है।

प्रश्न ह्र आचार्य देवसेन तो अपने श्रुतभवनदीपक नयचक्र में व्यवहारनय को पूज्यतर और निश्चयनय को पूज्यतम सिद्ध करते हैं और आप यहाँ प्रमाण को पूज्य बता रहे हैं।

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ १५

आचार्य देवसेन का उक्त कथन इसप्रकार है ह्र

''तर्ह्येवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ। न ह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्।

ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहारनिश्चयमुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यतमो ?

नैवं नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा। निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः अत एव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति।

तथा प्रोच्यते। निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रांतं करोति तमिति पूज्यतमः।[१]

शंका ह्र यदि ऐसा है तो दोनों ही नय सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे।

समाधान ह्र नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि व्यवहारनय तो पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम है।

शंका ह्र प्रमाणलक्षणवाला व्यवहारनय व्यवहार, निश्चय और उभय ह्र सभी को ग्रहण करनेवाला होने पर भी, अधिक विषयवाला होने पर भी पूज्यतम क्यों नहीं है?

समाधान ह्र नहीं है, वह पूज्यतम नहीं है; क्योंकि प्रमाणलक्षणवाला **व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता।**

वह इसप्रकार है ह्र निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोगव्यवच्छेद के अभाव में **व्यवहारलक्षणवाली भाव क्रिया (विकल्पजाल) का निरोध अशक्य है। अतः वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित करने में अशक्य ही है।**

आगे और भी कहते हैं कि ह्र निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराके

१. देवसेनकृत श्रुतभवनदीपक, पृष्ठ २४-२५

ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है, परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वत: निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है।''

सबकुछ मिलाकर तथ्य यह है कि आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक में **प्रमाणनयैरधिगम:** सूत्र में प्रमाण पद को पहले रखने का कारण बताते हुए **विषय की विशालता के आधार पर प्रमाण को पूज्य बता रहे हैं** और **श्रुतभवनदीपक नयचक्र में नयपक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति में पहुँचानेवाले निश्चयनय को पूज्यतम बताया गया है।**

नयचक्र में शंकाकार की ओर से व्यवहारनय के पूज्यतम होने के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि विषय की विशालता ही पूज्यतम होने का आधार है तो फिर व्यवहारनय, निश्चयनय और उभयनय अर्थात् व्यवहार-निश्चयनय सभी कुछ समाहित हैं जिसमें, ऐसा वह प्रमाण लक्षणवाला व्यवहारनय पूज्यतम क्यों नहीं है ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि वह **प्रमाणलक्षणवाला व्यवहारनय आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता; इसलिए वह पूज्यतम नहीं है।**

नयचक्र में पूज्यतम होने का आधार विषय की विशालता नहीं है; अपितु नयपक्षातीत कराके आत्मानुभूति कराने में है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रकरणानुसार उचित ही हैं।

प्रमाण-नय-निक्षेपों के संदर्भ में प्रत्येक के बारे में अनेक विशाल ग्रंथ लिखे गये हैं। मैंने स्वयं नयों के बारे में **परमभावप्रकाशक नयचक्र** नामक ग्रंथ लिखा है।

प्रमाण और नयों के प्रकारों की चर्चा आगे के सूत्रों में यथास्थान आवेगी; अत: प्रमाण और नयों के बारे में यहाँ अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।।६।।

निर्देशादि का कथन

प्रमाण और नयों के द्वारा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि पदार्थों को जाना जाता है और नामादि निक्षेपों से उनका व्यवहार किया जाता है। **सम्यग्दर्शनादि और जीवादि के बारे में क्या-क्या जाने ह्न यह बताने के लिए आगामी सूत्र की रचना हुई है;** जो इसप्रकार है ह्न

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत:।।७।।

सम्यग्दर्शनादि और जीवदि तत्त्वार्थों का निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से अधिगम/ज्ञान करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि पदार्थों को भलीभाँति जानने के लिए तत्संबंधी निर्देशादि को जानना चाहिए।

निर्देश ह्न वस्तु के स्वरूप का कथन करना, निर्देश है।

स्वामित्व ह्न आधिपत्य को स्वामित्व कहते हैं।

साधन ह्न जिससे वस्तु की उत्पत्ति होती है, उस कारण को साधन कहते हैं।

अधिकरण ह्न वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति ह्न जितने काल वस्तु रहे, वह उसकी स्थिति है।

विधान ह्न प्रकार, भेद और विस्तार को विधान कहते हैं।

यदि किसी वस्तु का ज्ञान करना हो या कहना हो तो यह जानना आवश्यक होता है कि उसका नाम क्या है, उसका स्वामी कौन है, वह किस साधन से बनी है, वह कहाँ रखी रहती है, उसकी काल मर्यादा कितनी और उसके भेद-प्रभेद कितने हैं ह्न यह सब कुछ जानना होता है।

यदि हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्न इन तत्त्वार्थों को जानना है तो इनके बारे में इनके निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और प्रकारों को जानना चाहिए।।७।।

सत्संख्यादि का कथन

सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों के निर्देशादि के अतिरिक्त सत्, संख्यादि भी जानना चाहिए। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैह्न

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।।८।।

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वार्थों के सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व को भी जानना चाहिए।

१. वस्तु के अस्तित्व को **सत्** कहते हैं।

२. वस्तु के भेदों की गिनती को **संख्या** कहते हैं।

३. वस्तु के वर्तमान निवास-स्थान को **क्षेत्र** कहते हैं।

४. वस्तु के त्रिकाल संबंधी निवास-स्थान को **स्पर्शन** कहते हैं।

५. वस्तु के ठहरने की मर्यादा को **काल** कहते हैं।

६. वस्तु के विरहकाल को **अन्तर** कहते हैं।

७. औपशमिक, क्षायिकादि परिणामों को **भाव** कहते हैं।

८. अन्य वस्तु की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता के वर्णन को **अल्पबहुत्व** कहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सातवें सूत्र में समागत निर्देशादि में ही सत् संख्यादि भी आ जाते हैं। निर्देश में सत् की, विधान में संख्या की, अधिकरण में क्षेत्र और स्पर्शन तथा स्थिति के प्रकरण में काल की चर्चा की जा सकती है। अत: दो पृथक् सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।

उक्त प्रश्न का एकमात्र यही उत्तर है कि शिष्य तीन प्रकार के होते हैं ह्न संक्षिप्तरुचिवाले, मध्यमरुचिवाले और विस्ताररुचिवाले।

संक्षिप्तरुचिवालों के लिए तो **प्रमाणनयैरधिगमः** ही पर्याप्त है। मध्यमरुचिवालों को प्रमाण और नयों के साथ-साथ निर्देशादि का कथन आवश्यक है; पर **विस्ताररुचिवालों को सत्संख्यादि की भी आवश्यकता है।**

इसलिए यहाँ तीनों प्रकार के शिष्यों का ध्यान रखकर तीन सूत्र लिखे गये हैं।

प्रमाण और नयों के माध्यम से तथा चार निक्षेपों के व्यवहार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप तत्त्वार्थों के निर्देश, स्वामित्व आदि तथा सत्, संख्या आदि को जानना चाहिए। इससे पाठकों का तत्त्वज्ञान निर्मल होगा; तथा तत्त्वार्थों के श्रद्धान, ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष का त्याग होकर रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग प्रशस्त होगा।

निर्देशादि और सत्संख्या आदि ऐसे विषय हैं कि जिनको आधार बनाकर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। सत्संख्या सूत्र के आधार पर **षट्खण्डागम जैसे महान ग्रंथ लिखे गये हैं। उनके अधिकारों के नाम भी सत्प्ररूपणा, संख्याप्ररूपणा आदि हैं।**

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में तो निर्देश, स्वामित्व आदि एवं सत्, संख्या आदि के जानने को उपायान्तर कहा है और आपके प्रतिपादन से ऐसा लगता है कि **ये सब जानने के उपाय नहीं हैं, अपितु ज्ञेयों के वे बिन्दु हैं, जिन्हें जानना है।**

उत्तर ह्न अरे, भाई ! दोनों में एक ही बात है। पहले तुम बात को गहराई से समझो।

जब हम किसी व्यक्ति का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, उसके बारे में गहराई से जानना चाहते हैं तो कुछ बिन्दु निश्चित कर लेते हैं। फिर उनके अनुसार पूछते हैं कि आपका नाम क्या है, आप कहाँ काम करते हैं, आपका अधिकारी कौन है, आपको क्या-क्या करना पड़ता है, आपकी शैक्षणिक योग्यता क्या है आदि।

इसीप्रकार यहाँ यह कहा जा रहा है कि **जीवादि पदार्थों और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों का परिचय प्राप्त करने के लिए उनका नाम (निर्देश), वे किसके हैं (स्वामी), उनकी प्राप्ति कैसे होती है (साधन), वे कहाँ-कहाँ रहते हैं (अधिकरण), वे कहाँ, कबतक रहेंगे (स्थिति) और उनके कितने प्रकार हैं (विधान) ह्न इतनी बातों को जानना चाहिए।**

और भी अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए उनके अस्तित्व (सत्), उनकी गिनती (संख्या) आदि भी जानना चाहिए। इससे रत्नत्रय और सप्त तत्त्वार्थों का गहरा परिचय हमें प्राप्त होगा।

इसीप्रकार उनका यह नाम सार्थक है या कहने मात्र का है (नाम निक्षेप), वे किसी के स्थापित प्रतिनिधि तो नहीं (स्थापनानिक्षेप), वे सदा ही ऐसे रहते हैं या बदलते रहते हैं (द्रव्य व भावनिक्षेप) आदि की जानकारी भी होना चाहिए।

यह सब जानकारी प्रमाण और नयों के माध्यम से ही होगी। अत: प्रमाण-नय ही जानने के असली उपाय हैं। शेष बातें सम्यग्ज्ञान क्या-क्या जानता है, कैसे जानता है, क्यों जानता है आदि ज्ञेयों के विशेषणों की बातें हैं।

इसी बात को समझाने के लिए वहाँ इन्हें उपायान्तर कहा है। अत: सर्वार्थसिद्धि आदि के कथन और हमारे कथन में कोई अन्तर नहीं है।

सब कुछ मिलाकर स्पष्ट स्थिति यह है कि आत्मकल्याण के इच्छुक आत्मार्थी भाई-बहिन जानेंगे; प्रमाण और नय से ही जानेंगे; नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से प्रतिपादित जीवादि तत्त्वार्थों और सम्यग्दर्शनादिरूप मुक्तिमार्ग को जानेंगे; जीवादि व सम्यग्दर्शनादि के नाम, स्वामी, साधनादि एवं अस्तित्व, संख्यादि जानेंगे।

इसप्रकार जानने का साधन तो प्रमाण-नयरूप सम्यग्ज्ञान ही रहा, शेष सब तो जानने के प्रकार हैं, ज्ञेयों के विशेषण हैं। उपायान्तर कहने का यही आशय है; इसप्रकार कहने में हमें भी कोई ऐतराज नहीं है। **हमने नया कुछ नहीं कहा है; अपितु उसी बात का स्पष्टीकरण किया है।**

वह सम्यग्ज्ञान मतिज्ञानादि पाँच प्रकार का होता है, जिनकी चर्चा आगामी सूत्रों में क्रमश: आ रही है। यह चर्चा अधिकार के अन्त तक चलेगी। **अध्याय के अन्तिम सूत्र में नयों की भी चर्चा होगी। उसके पूर्व लगभग सम्पूर्ण विवेचन प्रमाण के संदर्भ में ही होगा।।८।।**

प्रमाण के भेद-प्रभेद

छठवें सूत्र में प्रमाण और नयों की बात आई है। वहाँ यह भी स्पष्ट किया था कि सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। वह सम्यग्ज्ञान, पाँच प्रकार का होता है। उन प्रकारों की चर्चा आगामी सूत्रों में कर रहे हैं।

वे सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।।९।।

तत्प्रमाणे ।।१०।।

आद्ये परोक्षम् ।।११।।

प्रत्यक्षमन्यत् ।।१२।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्न ये पाँच भेद सम्यग्ज्ञान के हैं।

उक्त पाँचों प्रकार का सम्यग्ज्ञान प्रमाण है।

सम्यग्ज्ञान के ये पाँच प्रकार परोक्ष और प्रत्यक्ष के रूप में विभाजित होते हैं।

उनमें से आरंभ के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ह्न ये दो सम्यग्ज्ञान, परोक्ष प्रमाण हैं।

अन्त के तीन सम्यग्ज्ञान ह्न अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्न प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

पराधीन ज्ञान को परोक्ष कहते हैं और स्वाधीन ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि के सहयोग से उत्पन्न होता है, वह पराधीन होने से **परोक्ष प्रमाण** कहा जाता है; परन्तु जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि के सहयोग की आवश्यकता नहीं है; वह ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण भी देशप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

सीमित विषयवाले होने से अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान, **देशप्रत्यक्ष** हैं और सम्पूर्ण ज्ञेयों का ज्ञायक होने से केवलज्ञान, **सकलप्रत्यक्ष** है।

उक्त ज्ञान के पाँच प्रकारों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्न

मतिज्ञान ह्न पराश्रय की बुद्धि छोड़कर दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रकट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अथवा इन्द्रियाँ और मन हैं निमित्त जिसमें, उस ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान ह्न मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान ह्न इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए सीधे आत्मा से रूपी पदार्थों को स्पष्टरूप से जानने को अवधिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञान ह्न ज्ञानी मुनिराज को इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए **दूसरे के मन में स्थित विकल्परूप रूपी विषयों को सीधे आत्मा से स्पष्टरूप से जानने को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।**

आगे अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के विषय के निरूपण के समय २६वें एवं २७वें सूत्र में अवधिज्ञान के विषय को रूपी बताया जायेगा और साथ में उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी विषय को ही मन:पर्ययज्ञान का विषय बताया जायेगा। **वह अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म रूपी विषय दूसरे के मन में स्थित विकल्प ही हैं।**

केवलज्ञान ह्न जो तीन लोक तथा तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों व उनके समस्त गुण व समस्त पर्यायों को तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एक साथ जानता है, ऐसे पूर्ण तथा क्षायिकज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ह्न मतिज्ञान में भी इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं और मन:पर्यय ज्ञान में भी मन की बात आ रही है। दोनों में मूलभूत अन्तर क्या है ?

उत्तर ह्न मतिज्ञान परोक्ष प्रमाण है; क्योंकि उसमें अपनी इन्द्रियाँ और मन निमित्त के रूप में सहयोगी होते दिखाई देते हैं; **पर मन:पर्ययज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसे जानने के कार्य में इन्द्रियादिरूप परपदार्थों के सहयोग की रंच भी आवश्यकता नहीं है।** उसके संदर्भ में तो अपने नहीं, अन्य जीव के **मन में स्थित विकल्प, ज्ञान का ज्ञेय बनते हैं। मात्र बात इतनी ही है।**

इसप्रकार उक्त चार सूत्रों में मात्र इतना ही कहा गया है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्न ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप हैं। ये पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप होने से प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाण दो प्रकार का होता है। आदि के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा अन्त के तीन ज्ञान अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यद्यपि यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को परोक्षप्रमाण ही कहा गया है; तथापि न्यायशास्त्र में एक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है, जिसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इसीप्रकार अध्यात्मशास्त्र के अनुसार एक स्वानुभूति प्रत्यक्ष भी होता है; ये सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और स्वानुभूति प्रत्यक्ष मति-श्रुत ज्ञानवालों को ही होते हैं।

आत्मा को भी अक्ष कहते हैं और इन्द्रियों को भी अक्ष कहा जाता है। जो ज्ञान; इन्द्रिय, आलोक आदि के सहयोग (निमित्त) के बिना सीधा अक्ष से, आत्मा से जानता है; उसे निश्चय से प्रत्यक्ष कहते हैं और जो ज्ञान, इन्द्रियों (अक्ष) के सहयोग (निमित्त) से जानता है, उसे भी **व्यवहार से प्रत्यक्ष कहते हैं, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।**

इसीप्रकार जब मति-श्रुत परोक्ष ज्ञान; इन्द्रिय और आलोकादि निमित्त के बिना **निर्विकल्प होकर अपने आत्मा को जानते हैं, उसे निजरूप जानते-मानते हैं; तब उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष कहते हैं।**

इसप्रकार प्रत्यक्षप्रमाण और परोक्षप्रमाण की सामान्य चर्चा हुई। आगे यथास्थान इन विषयों पर विस्तार से बात करेंगे।।९-१२।।

मतिज्ञान

नौवें सूत्र से बारहवें सूत्र तक पाँच प्रकार के ज्ञानों की सामान्य चर्चा करके, उनके परोक्ष-प्रत्यक्षादि भेद-प्रभेद गिनाये और अब **आगामी १३ से १९वें सूत्र तक सात सूत्रों में मतिज्ञान के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध कराते हैं।**

उक्त सात सूत्रों में पहला अर्थात् १३वाँ सूत्र इसप्रकार है ह्न

मति:स्मृति:संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।१३।।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ह्न ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं, पर्यायवाची नाम हैं।

यद्यपि इनका स्वरूप अलग-अलग है; तथापि इन सभी में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही अंतरंग निमित्त है। इसकारण इन्हें मतिज्ञान के नामान्तर कहा है।

मनन करना मति है, स्मरण करना स्मृति है, जोड़रूप ज्ञान संज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान है, व्याप्ति ज्ञान तर्क अर्थात् चिन्ता है और अनुमान ज्ञान अभिनिबोध है।

न्याय शास्त्र के सूत्र ग्रंथ परीक्षामुख के तीसरे अध्याय में उक्त मति, स्मृति आदि की चर्चा विस्तार से की गई है।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ह्न इन चारों प्रकारों की चर्चा आगे १५वें सूत्र में आवेगी।

जब मतिज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से, मति नामक नामान्तर में; अवग्रह, ईहा और अवाय के रास्ते से धारणा तक पहुँचता है, तब कालान्तर में उसका याद आना स्मरण है, स्मृति है। इसप्रकार **तत्त्व का निर्णय करने के लिए मनन करना मति है और धारणा ज्ञान में विद्यमान ज्ञेय का याद आना ह्न स्मरण करना स्मृति है।**

जब वही मतिज्ञान पूर्वकाल के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और वर्तमान इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्मृति के माध्यम से जोड़ता है; तब उससे जो ज्ञान होता है; वह **संकलनरूप (जोड़रूप) ज्ञान प्रत्यभिज्ञान, संज्ञा है।**

यह वही है, जो मैंने पहले देखा था अथवा यह उस जैसा है अथवा उससे एकदम उल्टा है, विपरीत है ह्न इसप्रकार के जोड़रूप ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञान अथवा संज्ञा कहते हैं।**

यह प्रत्यभिज्ञान पाँच प्रकार का होता है ह्न

१. 'यह ही वह है' ह्न यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है।

२. 'यह उसके समान है' ह्न यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

३. 'यह उससे विलक्षण है, विपरीत लक्षणवाला है' ह्न यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है।

४. 'यह इससे दूर है' ह्न यह प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान है और

५. 'यह वृक्ष है' ह्न यह सामान्य प्रत्यभिज्ञान है।

जब प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा के आधार पर हम इसप्रकार के नियम तैयार कर लेते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता ह्न इन नियमों को व्याप्तिज्ञान कहते हैं और **व्याप्तिज्ञान ही तर्क** है। इसे ही चिन्ता भी कहते हैं।

इस व्याप्तिज्ञानरूप तर्क से अनुमान की सिद्धि होती है। उक्त अनुमान को ही अभिनिबोध भी कहते हैं।

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[1]

इस पर्वत पर अग्नि विद्यमान है; क्योंकि उसके ऊपर धुंआ है। जहाँ-जहाँ धुंआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसे **रसोईघर।** जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ-वहाँ धुंआ भी नहीं होता। जैसे **तालाब।**

चूंकि इस पर्वत पर धूम है; अत: यहाँ अग्नि अवश्य है। यह अनुमान का सर्वांग उदाहरण है।

---

१. आचार्य माणिक्यनंदि परीक्षामुख : साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ।।१०।।

अनुमान ज्ञान दो प्रकार का होता है ह्न १. स्वार्थानुमान और २. परार्थानुमान।

स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान को **स्वार्थानुमान** कहते हैं और दूसरे के उपदेश पूर्वक जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है, उसे **परार्थानुमान** कहते हैं।

ध्यान रहे, स्वार्थानुमान मतिज्ञान में आता है और परार्थानुमान श्रुतज्ञान में।[1] स्वयं समझने के लिए जो अनुमान किया जाता है, वह स्वार्थानुमान है और दूसरे को समझाने के लिए अनुमान का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान है।

इसप्रकार मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ह्न ये सभी **क्रमश: विकसित मतिज्ञान की ही अवस्थायें हैं।।१३।।**

१. श्री भास्करनंदि : तत्त्वार्थवृत्ति, सूत्र १३

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। **अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें।** स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ–१८५

इन्द्रिय और मन की निमित्तता

इन मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधरूप मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं। इसकी चर्चा आगामी सूत्र में है, जो इसप्रकार है ह्न

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।।१४।।

उस मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त होते हैं।

ध्यान रहे, मतिज्ञान के पाँच भेदों में जो पहला भेद मति है; उसमें ही इन्द्रियाँ और मन निमित्त होते हैं; स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध में मात्र मन ही निमित्त होता है, इन्द्रियाँ नहीं।[1]

प्रश्न ह्न क्या मतिज्ञान में इन्द्रिय और मन का निमित्त होना आवश्यक है ?

उत्तर ह्न आवश्यक तो नहीं, परन्तु जब मतिज्ञान के माध्यम से आत्मा, रूपी पुद्गल को जानता है, उनके जाननेरूप विकल्पों में परिणत होता है; तब उसमें इन्द्रियाँ और मन निमित्त अवश्य होते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि इन्द्रियाँ मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों की ही ग्राहक हैं और **मन विकल्पों में निमित्त होता है।**

अत: जब आत्मा अमूर्तिक पदार्थों को जानता है, विशेषकर आत्मसम्मुख होता है; तब उसमें इन्द्रियों और मन की निमित्तता की आवश्यकता नहीं होती।

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि इन्द्रियाँ और मन तो रूपी पुद्गल पदार्थों को ही जानने में निमित्त हो सकते हैं तथा मतिज्ञान का विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायें हैं।

अत: मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त के बिना भी संभव है; अन्यथा उससे इन्द्रियातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति कैसे होगी ? ।।१४।।

१. श्री भास्करनंदि : तत्त्वार्थवृत्ति, सूत्र १४

अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा

अब यह स्पष्ट करते हैं कि **मतिज्ञान का क्रमिक विकास किसप्रकार होता है, इस बात को स्पष्ट करनेवाला** आगामी सूत्र इसप्रकार है ह्न

अवग्रहेहावायधारणा: ।।१५।।

मतिज्ञान का विकास चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में होता है।

१. चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक होनेवाले सामान्य ज्ञान को **अवग्रह** कहते हैं। 'यह मनुष्य है' ह्न इसप्रकार के ज्ञान को **अवग्रह** ज्ञान कहा जाता है।

२. चक्षु-अचक्षुदर्शन पूर्वक अवग्रह में जाने हुए पदार्थ के संबंध में विशेष जानने के प्रयास का नाम **ईहा** ज्ञान है। यह मनुष्य तो है पर आर्य है या म्लेच्छ? ह्न इसप्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होकर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है; वह ज्ञान ईहा ज्ञान है।

३-४. ईहा में हुए प्रयास से किसी निश्चय पर पहुँच जाना **अवाय** ज्ञान है और फिर उसे कालान्तर में नहीं भूलना **धारणा** ज्ञान है।

इसप्रकार इन्द्रिय और अनीन्द्रिय अर्थात् मन के निमित्त से प्रगट रूपी पदार्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ह्न ये सभी मतिज्ञान की क्रमश: विकसित होनेवाली पर्यायें हैं।

इस मतिज्ञान में उक्त मति के उपरान्त स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क-व्याप्तिज्ञान) और अभिनिबोध (अनुमान ज्ञान) होते हैं। ये सभी मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि मति-स्मृति आदि पाँचों के समुदाय का नाम भी मतिज्ञान ही है और मतिज्ञान के प्रथम नामान्तर का नाम भी मति या मतिज्ञान है। अत: इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि मति या मतिज्ञान पद का प्रयोग कहाँ/किस अर्थ में हुआ है।।१५।।

अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ

मतिज्ञान, अवग्रहादि के द्वारा जिन्हें जानता है, वे पदार्थ बारह प्रकार के होते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।।१६।।

अर्थस्य ।।१७।।

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त और ध्रुव ह्न इन छह प्रकार के पदार्थों का और इनके उल्टे (प्रतिपक्षभूत) एक, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और अध्रुव ह्न इन छह को मिलाकर कुल बारह प्रकार के पदार्थ मतिज्ञान में अवग्रहादिरूप में जाने जाते हैं।

ये बहु आदि भेद पदार्थ के हैं। इन्हें उक्त विधिपूर्वक जाननेवाला ज्ञान मतिज्ञान है।

इन बारह भेदों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार है ह्न

१. बहु ह्न बहुत। उसे संख्या और परिमाण की दृष्टि से देखा जा सकता है। बहुत मनुष्य ह्न यह संख्या की दृष्टि से और बहुत दाल ह्न यह परिमाण की दृष्टि से हुआ।

२. एक या अल्प ह्न थोड़ा। यह भी संख्या और परिमाण की दृष्टि से दो प्रकार का हो सकता है। संख्या की दृष्टि से थोड़े मनुष्य या एक मनुष्य और परिमाण की दृष्टि से थोड़ी दाल या एक पदार्थ।

३. बहुविध ह्न संख्या और परिमाण की दृष्टि से बहुत प्रकार के पदार्थ। जैसे गेहूँ, दाल आदि अनेकप्रकार के अनाज।

४. एकविध ह्न संख्या और परिमाण की दृष्टि से एक प्रकार के पदार्थ। जैसे एक ही प्रकार के चावल।

बहु और एक में जाति विवक्षित नहीं होती; जबकि बहुविध और एकविध में जाति विवक्षित रहती है। इन दो युग्मों में यही अन्तर है।

क्षिप्र ह्न पदार्थों का शीघ्रतापूर्वक ज्ञान या अतिवेग से गतिशील पदार्थ का ज्ञान। तीव्र गति से गमन करनेवाले मनुष्य का ज्ञान।

अक्षिप्र ह्न पदार्थों का ज्ञान धीरे-धीरे होना या धीमी गति से गमन करनेवाले पदार्थ का ज्ञान।

अनि:सृत ह्न नहीं निकला हुआ। जो पदार्थ पूरा छिपा रहता है, वह अनि:सृत कहलाता है और जिसका कुछ हिस्सा छिपा रहता है, उसे भी अनि:सृत ही कहते हैं।

नदी में हाथी पूरा डूबा हो; उसके माथे के ऊपर पानी की सतह पर भिनभिनाते मच्छरों को देखकर हाथी का ज्ञान **अनि:सृत मतिज्ञान** है तथा नदी में से हाथी की सूंड सामने आते ही केवल सूंड का ज्ञान न होकर सूंड सहित पूरे हाथी का ज्ञान होना भी अनि:सृत मतिज्ञान है।

नि:सृत ह्न निकला हुआ। नदी में से पूर्णत: बाहर निकले हुए हाथी का ज्ञान होना, **नि:सृत मतिज्ञान है।**

अनुक्त ह्न अभिप्राय में रहनेवाला पदार्थ अथवा जिसके बारे में कुछ नहीं कहा गया हो; वह पदार्थ अनुक्त है। जिस समय चक्षु से नमक या चीनी का ज्ञान होता है, उसी समय उसके रस का ज्ञान होना, अनुक्त ज्ञान है।

उक्त ह्न कहा गया पदार्थ। कहे हुए पदार्थ का ज्ञान होना उक्त मतिज्ञान है। जैसे ह्न यह फल मीठा है।

ध्रुव ह्न चिरकाल तक अवस्थित रहनेवाले पदार्थ ध्रुव हैं अथवा कुछ काल किसी पदार्थ को एक रूप से ग्रहण करते रहना, ध्रुव मतिज्ञान है।

अध्रुव ह्न ध्रुव का विपरीत अध्रुव है।

ये बारह प्रकार के भेद उन पदार्थों के हैं; जिन्हें मतिज्ञान जानता है।।१६-१७।।

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है: यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा अधर्म है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

व्यंजनावग्रह

व्यंजनावग्रह संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

व्यञ्जनस्यावग्रह: ।।१८।।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।।१९।।

अप्रगट पदार्थ का मात्र अवग्रह होता है। इस अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

चक्षु इन्द्रिय और मन के निमित्त से व्यंजनावग्रह नहीं होता।

अवग्रह दो प्रकार का होता है ह्न व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

व्यंजन माने ढंका हुआ, अप्रगट, अव्यक्त। अप्रगट ह्न अव्यक्त पदार्थ के ज्ञान को **व्यंजनावग्रह** कहते हैं और व्यक्त प्रगट पदार्थों के ज्ञान को **अर्थावग्रह ज्ञान** कहते हैं।

अप्रगट पदार्थों का मात्र अवग्रह (व्यंजनावग्रह) ज्ञान होता है; अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान नहीं होते।

चार इन्द्रियों द्वारा पहले व्यंजनावग्रह और पश्चात् अर्थावग्रह ईहा-अवाय-धारणा होते हैं। चक्षु और मन द्वारा सीधा अर्थावग्रह ज्ञान होता है। यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि व्यंजनावग्रह ज्ञान चक्षु और मन के निमित्त से नहीं होता; मात्र शेष चार इन्द्रियों के निमित्त से ही होता है।

इसप्रकार चार इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला व्यंजनावग्रह बारह प्रकार के पदार्थों को जानने के कारण ४८ प्रकार का होता है।

अर्थावग्रह ह्न ईहा, अवाय और धारणा नामक ज्ञान ह्न पाँच इन्द्रियों और मन से, बारह प्रकार के पदार्थों को जानने के कारण बहत्तर-बहत्तर प्रकार के हो गये। इसप्रकार ४८+७२+७२+७२+७२=३३६ इसप्रकार कुल मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का हो जाता है।।१८-१९।।

इसे निम्नांकित चार्ट से भलीभाँति समझा जा सकता है ह्न

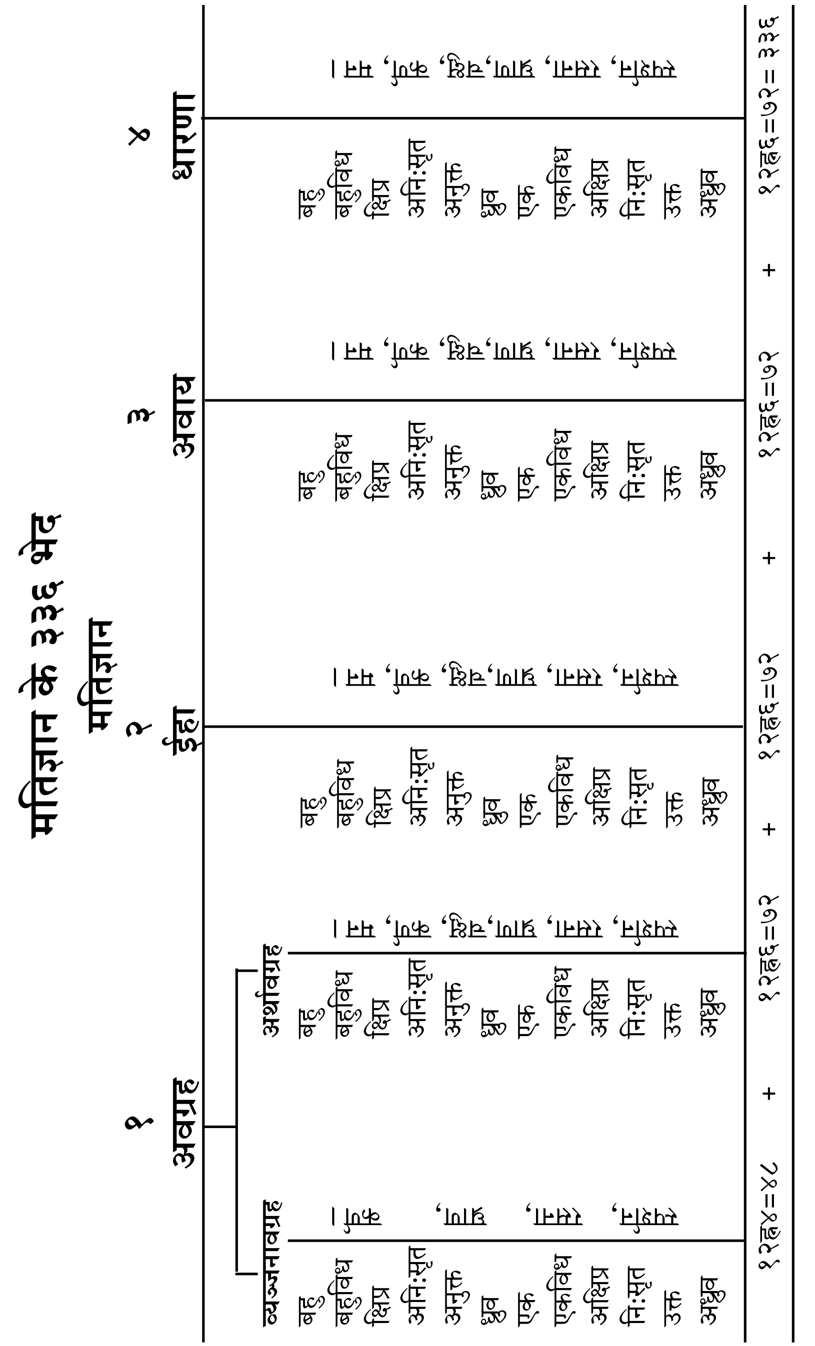

श्रुतज्ञान

सात सूत्रों में मतिज्ञान की चर्चा होने के उपरान्त अब **एक सूत्र में श्रुतज्ञान की चर्चा करते हैं।**

श्रुतज्ञान का स्वरूप बतानेवाला सूत्र इसप्रकार है ह्व

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।।२०।।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। उसके मूल भेद दो हैं। पहले के अनेक और दूसरे के बारह भेद हैं।

अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ह्व ये दो श्रुतज्ञान के मूलभेद हैं।

अंगप्रविष्ट के बारह भेद इसप्रकार हैं ह्व

१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६. ज्ञातृधर्मकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तःकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिक दशांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिवादांग।

श्रुत के कुल अक्षर **अठारह शंख, चवालीस पद्म, सड़सठ नील, चवालीस खरब, सात अरब, तीस करोड़, पिच्यानवै लाख, इक्यावन हजार, छह सौ पन्द्रह** (१८,४४,६७,४४,०७,३०,९५,५१,६१५) माने गये हैं।

इनमें मध्यम पद के **सोलह अरब, चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी** (१६,३४,८३,०७,८८८) अक्षरों का भाग देने पर **एक अरब, बारह करोड़, तिरासी लाख, अठावन हजार, पाँच** (१,१२,८३,५८,००५) मध्यम पद और **आठ करोड़, एक लाख आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर** (८,०१,०८,१७५) अक्षर प्राप्त होते हैं।

आचारांग आदि बारह अंगों की रचना उक्त मध्यम पदों द्वारा की जाती है; इसलिए इनकी अंग्रप्रविष्ट संज्ञा है।

जो शेष अक्षर बचे थे, उनसे जिन शास्त्रों की रचना होती है; वे शास्त्र अंग बाह्य हैं।

यद्यपि इन अंगों और अंगबाह्यों की रचना गणधरदेव करते हैं; तथापि गणधरों के सिवाय अन्य ज्ञानी धर्मात्मा शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा जो शास्त्र रचे जाते हैं, उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में ही होता है।

इसप्रकार अंगबाह्य अनेक प्रकार का होता है।

आज बारह अंगों में से ग्यारह अंगों का ज्ञान तो लुप्त ही हो गया है। बारहवें दृष्टिवाद अंग के, अग्रायणी पूर्व के, पाँचवें वस्तु अधिकार के, महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान, आचार्य धरसेन को था; जिसे उन्होंने अपने शिष्य भूतबली और पुष्पदन्त नामक मुनिराजों को पढ़ाया। उक्त ज्ञान को भूतबली और पुष्पदंत ने षट्खण्डागम में निबद्ध किया। उसकी टीका आचार्य वीरसेन ने धवला, जयधवला के रूप में लिखी। इनके आधार पर आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसारादि ग्रन्थों की रचना की। **इसप्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।**

इसी समय दूसरे एक आचार्य गुणधर नामक मुनिराज को, ज्ञानप्रवाद पूर्व के, दसवें वस्तु अधिकार में से तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उक्त प्राभृत को नागहस्ति नामक मुनिराज ने पढ़ा। उक्त दोनों मुनिराजों से यतिनायक नामक मुनिराज ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों की रचना की।

इसकी टीका समुद्धरण नामक मुनिराज ने बारह हजार श्लोक प्रमाण लिखी। इन आचार्यों की परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द इन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। उन्होंने समयसारादि ग्रन्थ बनायें। **इसप्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।**

इसप्रकार बारहवें अंग का कुछ ज्ञान ही आज हमें उपलब्ध है। शेष ज्ञान विलुप्त ही है। **यद्यपि मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान भी पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों के होता है, जिनमें एकेन्द्रियादिक जीव भी आ जाते हैं; तथापि यहाँ द्वादशांगरूप सम्यग्श्रुतज्ञान की चर्चा ही की गई है॥२०॥**

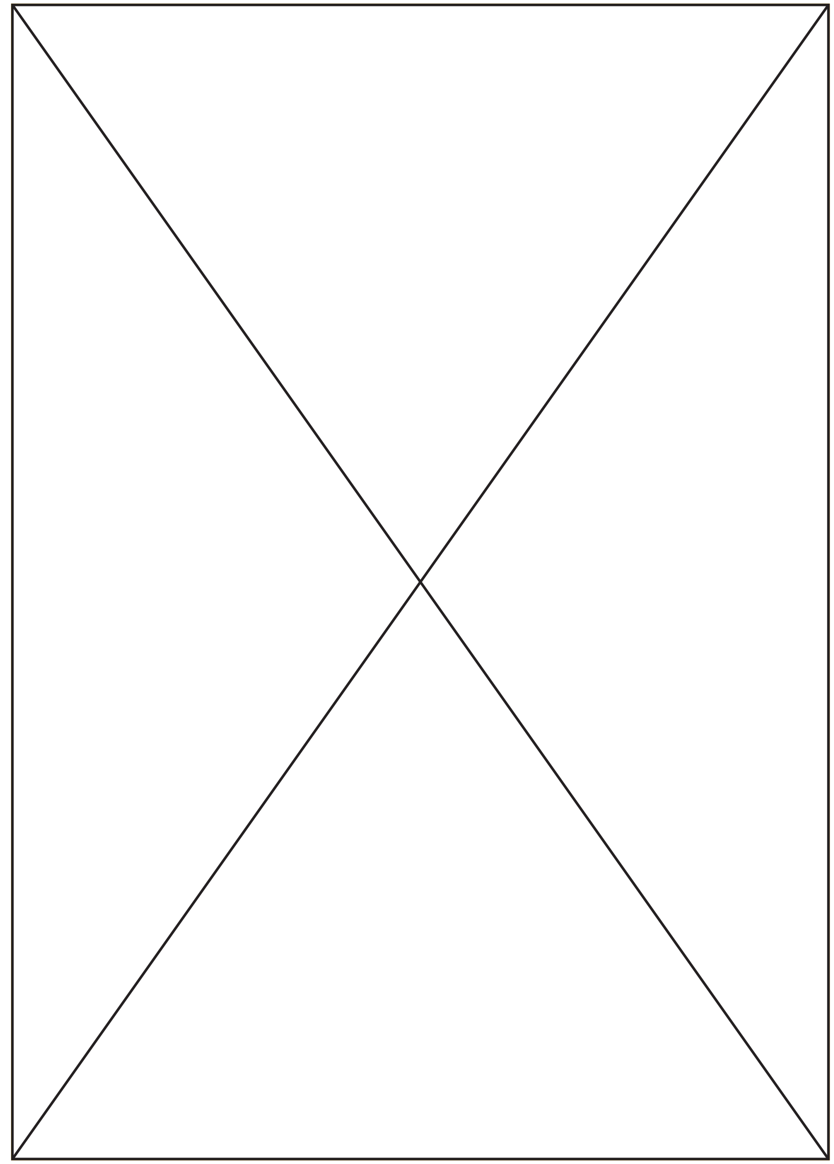

श्रुतस्कन्ध

(आवरण पृष्ठ ३ भी देखें)

अवधिज्ञान

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है ह्व **१. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय।**

आयुकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली जीव की पर्याय को भव कहते हैं।

जिस अवधिज्ञान में मुख्यरूप से भव ही कारण (निमित्त) हो, उसे **भवप्रत्यय** अवधिज्ञान कहते हैं और जिसमें मुख्यरूप से क्षयोपशम ही कारण (निमित्त) हो, उसे **गुणप्रत्यय** अवधिज्ञान कहते हैं।

यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है; क्योंकि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम बिना तो अवधिज्ञान संभव ही नहीं है; तथापि **देवायु और नरकायु के साथ अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नियम से होता है; इसकारण भव को मुख्य करके इसका नाम भवप्रत्यय रखा गया है।**

जिसप्रकार पक्षियों के जन्म से ही आकाश गमन देखा जाता है; उसीप्रकार देव और नारकियों के जन्म से ही अवधिज्ञान पाया जाता है। यही कारण है कि उनके अवधिज्ञान को भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है।

मनुष्य और तिर्यंचों में बहुत कम जीवों को अवधिज्ञान होता है। यही कारण है कि **मनुष्य और तिर्यंचों को होनेवाले अवधिज्ञान को क्षयोपशमनिमित्तक कहा गया है।**

अवधिज्ञान के संबंध में तत्त्वार्थसूत्र में दो सूत्र प्राप्त होते हैं, जो इसप्रकार हैं ह्व

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।।२१।।

क्षयोपशमनिमित्त: षड्विकल्प: शेषाणाम् ।।२२।।

भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है। शेष जीवों अर्थात् मनुष्य और सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को होनेवाला

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है ह्व अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

इनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्व

१. अनुगामी ह्व जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की तरह दूसरे भव या क्षेत्र में भी जीव के साथ बना रहे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

२. अननुगामी ह्व जो अवधिज्ञान दूसरे भव या क्षेत्र में जीव के साथ नहीं जाता, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३. वर्धमान ह्व जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की भाँति बढता रहता है, वह वर्द्धमान अवधिज्ञान है।

४. हीयमान ह्व जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की भाँति घटता रहता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।

५. अवस्थित ह्व जो अवधिज्ञान सूर्य या मनुष्य के शरीर पर स्थित तिल के समान एकसा रहता है, न घटता है, न बढता है; वह अवस्थित अवधिज्ञान है।

६. अनवस्थित ह्व जो अवधिज्ञान हवा से जल की तरंगों की भाँति घटता-बढता रहता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।

उक्त संदर्भ में जानने योग्य विशेष बात यह है कि मनुष्यों में तीर्थंकरों को भी जन्म से ही अवधिज्ञान होता है; अत: एक अपेक्षा से उसे भी **भवप्रत्यय** कह सकते हैं।

तीर्थंकरों के अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहने पर; गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को तीर्थंकरों को छोड़कर शेष मनुष्यों और तिर्यंचों के ही मानना होगा। तिर्यंचों में यह अवधिज्ञान मात्र सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के ही होता है और मनुष्य तो सभी सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं।।२१-२२।।

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। **ह्व गागर में सागर, पृष्ठ-२०**

मन:पर्ययज्ञान

मति, श्रुत और अवधिज्ञान की चर्चा के उपरान्त अब तीन सूत्रों में **मन:पर्ययज्ञान की चर्चा करते हैं।**

मन:पर्ययज्ञानसंबंधी प्रथम सूत्र इसप्रकार है ह्न

ऋजुविपुलमती मन:पर्ययः ।।२३।।

मन:पर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुमति ह्न जो ज्ञान ह्न मन, वचन, काय की सरलता से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है; उसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

विपुलमति ह्न जो सरल तथा कुटिलरूप से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है; वह विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मन में स्थित रूपी पदार्थ से क्या आशय है; क्योंकि मन में तो विचार आते हैं, विकल्प उठते हैं। क्या वे विचार या विकल्प रूपी हैं?

उत्तर ह्न हाँ, **वे विचार और विकल्प रूपी हैं।** यह बात तो इसी से सहजसिद्ध हो रही है कि **मन:पर्ययज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है और वह मात्र दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानता है।**

यह तो जगप्रसिद्ध बात है कि मन में तो विकल्प ही उठते हैं, विचार ही आते हैं। अत: यह सिद्ध ही है कि वे विचार और विकल्प रूपी पदार्थ ही हैं।।२३।।

> इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्‌भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्‌चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दु:खों को दूर करने और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-५१**

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब **उनमें परस्पर क्या अन्तर है ?** ह्न यह स्पष्ट करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्‌विशेषः ।।२४।।

परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा दोनों में अन्तर है।

मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मपरिणामों में होने वाली निर्मलता को **विशुद्धि** कहते हैं। गिरने (छूटने) का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरने (नहीं छूटने) का नाम **अप्रतिपात** है।

ऋजुमति से विपुलमतिज्ञानवाले के परिणामों में अधिक विशुद्धि होती है और ऋजुमति होकर छूट जाता है या छूट सकता है; पर विपुलमतिवाला कभी भी नीचे की ओर नहीं जाता। वह जबतक केवलज्ञान न हो जाय, तबतक नहीं छूटता। **केवलज्ञान होने पर तो चारों ही क्षयोपशमज्ञान छूट जाते हैं।**

इसतरह यह सुनिश्चित हुआ कि केवलज्ञान होने के पहले नहीं छूटना ही **अप्रतिपात** है और केवलज्ञान नहीं होने पर भी छूट जाना, प्रतिपात है। इसप्रकार **विपुलमति अप्रतिपाती है और ऋजुमति प्रतिपाती** ज्ञान है।

विपुलमति मन:पर्ययज्ञान तद्‌भव मोक्षगामियों के ही होता है; पर ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान तद्‌भव मोक्षगामी के भी हो सकता है और उन्हें भी हो सकता है, जो तद्‌भव मोक्षगामी नहीं हैं।

इसीप्रकार विपुलमति ज्ञानवाला क्षपकश्रेणी का आरोहण करता है; पर ऋजुमतिवाला क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी दोनों पर चढ़ सकता है। यह भी हो सकता है कि वह श्रेणी चढ़े ही नहीं।।२४।।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर स्पष्ट करने के बाद अब **अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ? ह्न** यह स्पष्ट करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्यययो: ।।२५।।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ह्न दोनों में परस्पर अन्तर है।

१. अवधिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान अधिक विशुद्धिवाला है।

२. मन:पर्ययज्ञान मात्र मानुषोत्तर पर्वत के भीतर अर्थात् ढाई द्वीप के भीतर की ही बात जानता है; जबकि **अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक है।**

३. मन:पर्ययज्ञान छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक **प्रवर्द्धमान उत्कृष्ट चारित्रवाले जीवों के ही पाया जाता है;** जबकि अवधिज्ञान चारों गतियों के सभी सैनी पंचेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि जीवों को भी हो सकता है।

विभंगावधि या कु-अवधिज्ञान चारों गतिवाले सैनी पंचेन्द्रियों को हो सकता है।

४. अवधिज्ञान का विषय; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा में **सभी रूपी (पुद्गल) पदार्थ और उनकी कुछ पर्यायें हैं।**

मन:पर्ययज्ञान का विषय भी **रूपी पदार्थ ही हैं;** परन्तु वह पदार्थ अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म (पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा) **मात्र दूसरे के मन में स्थित विकल्प हैं, विचार हैं।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा बहुत अन्तर है।।२५।।

पाँचों ज्ञानों के विषय

यद्यपि अब यहाँ केवलज्ञान की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्वार्थ की चर्चा में केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से स्पष्ट होगा ही; इसलिए यहाँ उसे छोड़कर **पाँचों ज्ञानों के विषय के संबंध में विचार करते हैं।**

पाँचों ज्ञानों के विषय बतानेवाले चार सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।।२६।।

रूपिष्ववधे: ।।२७।।

तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य ।।२८।।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।।२९।।

मति और श्रुतज्ञान यद्यपि सभी द्रव्यों को जानते हैं, जान सकते हैं; परन्तु उनकी सभी सहवर्ती पर्यायों (गुणों) और क्रमवर्ती पर्यायों को नहीं जानते, मात्र कुछ ही पर्यायों को जानते हैं। इसप्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सभी द्रव्यों की असर्व (कुछ) पर्यायें हैं।

अवधिज्ञान मात्र रूपी (पुद्गल) पदार्थों को ही जानता है; अत: अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ पुद्गल और उसकी कुछ पर्यायें हैं।

मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान से अनंतवें भाग सूक्ष्म रूपी पदार्थ को ही जानता है और वह सूक्ष्म रूपी पदार्थ दूसरे के मन में स्थित विकल्प हैं, विचार हैं।

इससे यह बात भी सहज सिद्ध है कि मन में उठनेवाले विकल्प व विचार भी रूपी हैं, पौद्गलिक हैं।

केवलज्ञान सभी द्रव्यों और उनकी त्रिकालसंबंधी सभी सहभावी पर्यायों (गुणों) और क्रमभावी पर्यायों को एक समय में एक साथ अत्यन्त स्पष्टरूप से इन्द्रियादिक के सहयोग के बिना सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानता है।

यही कारण है कि उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

ध्यान रहे कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान अर्थात् अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, निश्चय प्रत्यक्ष है।

उक्त पाँच सूत्रों में पाँचों ज्ञान क्या जानते हैं, किस-किस को जानते हैं, कैसे जानते हैं ह्न यह समझाया गया है।

उक्त पाँचों ज्ञानों का विषय क्या है, ज्ञेय क्या है ह्न यह जानने का **मूल प्रयोजन यह है कि यदि हमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना है, मुक्तिमार्ग पर चलना है, मुक्ति प्राप्त करना है** तो सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि अभी हमारे पास मति-श्रुतज्ञान है और हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति करनी है; क्योंकि उसके साथ ही अनंत अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति भी हो जाती है।

अब बचे वे अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान; जो अभी हमें उपलब्ध नहीं हैं। जिस आत्मा को जानने से, उसे निजरूप मानने से, उसमें ही अपनापन स्थापित करने से, उसमें ही समा जाने से; हमें अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, अनंत दु:खरूप इस भव का अभाव होता है। **उस आत्मा को जानने के काम में तो ये ज्ञान आते नहीं, मात्र इस पौद्गलिक देहरूपी कारागार को जानने, पंचेन्द्रिय विषयों को जानने और दूसरे के मन में स्थित गंदे विचारों, राग-द्वेषरूप सभी विकारी भावों को जानने के काम में ही आते हैं; हमें उन्हें प्राप्त करने से क्या मिलनेवाला है?**

क्या करेंगे उस अवधिज्ञान का; जो मिथ्यादृष्टि पापी नारकियों तक को हो जाता है, हो क्या जाता है, नियम से होता ही है? **क्या करेंगे उस मन:पर्ययज्ञान का; जिन मुनिराजों को वह होता है, वे वीतरागी मुनिराज लगभग जिन्दगी भर उसका उपयोग तक नहीं करते, क्या रस है उन्हें दूसरे के गंदे विचारों को जानने का?**

जो गंदगी, जगत के जीवन में दिखाई देती है, उससे असंख्यगुणी गंदगी लोगों की वाणी में है और उससे भी असंख्यगुणी गंदगी लोगों के मनों में है; जो भय आदि अनेक कारणों से बाहर नहीं आ पाती।

विकल्पों के रूप में मन में रहनेवाली वह गंदगी यदि वाणी में आ

जाय तो जगत में कोलाहल मच जाय और यदि क्रिया में आ जाय, जीवन में आ जाय तो प्रलय आ जाये।

यदि ऐसा हो जाये तो बताइये कौन जिन्दा रहेगा और किस माँ-बहिन की इज्जत सुरक्षित रहेगी?

ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसको मारने का भाव किसी न किसी को आजतक न आया हो, और कौनसी माँ-बहिन हैं, जिसे देखकर किसी न किसी के मन में भोग का भाव न आया हो? यदि यह सबकुछ क्रिया में आ जाता तो क्या होता ह्न इसकी कल्पना आप कर सकते हैं?

इतने गंदे मन के भावों को, विचारों को, विकल्पों को ऋद्धिधारी भावलिंगी मुनिराज क्यों देखना चाहेंगे ?

अच्छा ही है कि वे ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हैं; अन्यथा वे हमें पौद्गलिक पदार्थों को जानने में ही उलझाये रखते।

आत्मा के कल्याण करने के लिए, आत्मस्वरूप जानने के लिए जिनकी आवश्यकता है; वे मति-श्रुतज्ञान हमारे पास हैं ही। भली होनहार से **मति-श्रुतज्ञानावरण का इतना क्षयोपशम भी है कि जिससे आत्मा-परमात्मा को जाना जा सकता है। हम सब सैनी पंचेन्द्रिय हैं। अत: उसका भरपूर उपयोग स्वाध्याय में करना चाहिए।**

इसप्रकार विचार करके, उन अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के प्रति लालसा से मुक्त होकर, एकमात्र अनंत सुख के साथी उस उत्कृष्ट केवलज्ञान को ही प्राप्त करने की भावनावाले आत्मार्थी जीवों को सबसे पहले उस केवलज्ञान की विषयवस्तु को, उसके स्वरूप को जानने का प्रयास करना चाहिए।

वह केवलज्ञान; इन्द्रिय-मन, प्रकाश आदि के सहयोग के बिना, पूर्णत: स्वतंत्र रहकर, सीधे आत्मा से अलोकाकाश सहित इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं; उन सभी को, उनके गुणों को और उनकी द्रव्यपर्याय सहित गुणपर्यायों को, उनमें होनेवाले प्रतिसमय के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तनों को पूरी तरह स्पष्टरूप से जानता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि इस लोक में अनंतानंत जीवद्रव्य

और उनसे भी अनंतगुणे अनंतानंत पुद्गलद्रव्य हैं; एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनंतानंत गुण, प्रत्येक गुण में तीन काल के समय के बराबर अनंतानंत पर्यायें होती हैं। इन सबको केवलज्ञान जानता है और एकदम सत्य; जैसी वे हैं या होंगी; ठीक वैसी ही एवं अत्यन्त स्पष्ट जानता है।

केवलज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैंह्न

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं।
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।।
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो।।[१]

जो पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं या उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे सभी अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में तो प्रत्यक्ष ही हैं।

यदि अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायें केवलज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

उक्त गाथाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सभी द्रव्यों की जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुईं, वे भविष्य की पर्यायें और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे भूतकाल की पर्यायें; केवलज्ञान में अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिसमय ज्ञात होती रहती हैं।

इसी सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं ह्न

''सभी द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं; इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। **ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है; जो केवलज्ञान के विषय से परे हो।** केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है।[२]

केवलज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैंह्न

१. प्रवचनसार, गाथा ३८ व ३९ का हिन्दी पद्यानुवाद
२. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र २९ की टीका के अंश का हिन्दी अनुवाद।

''एक ज्ञायक स्वभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से; क्रमशः प्रवर्त्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाले, अगाधस्वभाव और गंभीर समस्त द्रव्य मात्र को ह्न मानो वे द्रव्य **ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों; भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों; इसप्रकार एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है ...।**[१]''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि केवलज्ञान में भविष्य की सभी पर्यायें जान ली जाती हैं तो फिर वे यह भी जान लेते होंगे कि हम सबका कब, क्या, कैसे होनेवाला है ? यदि हाँ तो फिर हम तो किसी का कुछ कर ही नहीं सकते।

उत्तर ह्न अरे, भाई ! अभी तुम इसी में उलझ रहे हो कि तुम किसी का कुछ नहीं कर सकते; बात तो यहाँ तक है कि हम अपना भी कुछ नहीं कर सकते; सबके साथ अपनी पर्यायें भी तो भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गई हैं।

हम नहीं मानते ऐसी बातें; जिनमें हम कुछ कर ही न सके।

तुम्हारे मानने, नहीं मानने से कुछ नहीं होता, वस्तु तो जैसी है, वैसी ही रहेगी।

हमें ऐसा केवलज्ञान, ऐसी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं है।

अरे, भाई ! हमारे भगवान की, आप्त की, सच्चे देव की परिभाषा यही है कि जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; वही भगवान है, वही आप्त है, वही सच्चा देव है, वही तीर्थंकर अरहंतदेव हैं।

यदि हमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का उपासक बनना है तो उनके सर्वज्ञ स्वभाव को गहराई से समझना होगा, सर्वज्ञता को स्वीकार करना ही होगा; अन्यथा सबकुछ गड़बड़ा जावेगा।

हमारे देव सर्वज्ञ हैं, हमारे शास्त्र सर्वज्ञकथित हैं और हमारे गुरु भी सर्वज्ञ भगवान के बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं।

१. प्रवचनसार गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

सर्वज्ञता को नहीं मानने से हम सब कुछ गंवा देंगे; क्या आप नहीं जानते कि समस्त जिनागम का आधार एकमात्र सर्वज्ञता ही है।

झूठे कर्तृत्व के अभिमान में सर्वज्ञ और सर्वज्ञता से विमुख होना समझदारी का काम नहीं है।

हमारे आचार्य समन्तभद्र ने, अकलंकदेव ने, आचार्यश्री विद्यानंद ने सर्वज्ञता की सिद्धि में जीवन लगा दिया है और आज हम कह रहे हैं कि यदि सर्वज्ञता के स्वीकार करने में हमारे हाथ कुछ नहीं रहेगा तो हम उसे भी तिलांजलि दे देंगे।

अरे, भाई ! ऐसा दुस्साहस कभी नहीं करना। ऐसा आत्मघाती कदम कभी नहीं उठाना, उठाने की सोचना भी नहीं।

हे भगवान ! हमारे शत्रु को भी कभी ऐसी दुर्बुद्धि न आये। हम तो यही कामना करते हैं।

हे आत्मन् ! यदि समझपूर्वक सच्चे दिल से सर्वज्ञता की स्वीकृति हो जावे तो हमारे इस कर्त्तृत्व के अभिमान को चूर-चूर होते देर न लगेगी, सहज अकर्ताभाव जागृत हुए बिना नहीं रहेगा।

अरे, भाई ! जबतक हमें सर्वज्ञता स्वीकृत न होगी; तबतक वह हमें प्राप्त भी कैसे होगी ? यदि हमें सर्वज्ञता प्राप्त करना है तो हमें सहज भाव से सर्वज्ञता को स्वीकार करना ही चाहिए।

यदि सर्वज्ञता के स्वरूप को गहराई से जानना है तो लेखक की अन्य कृति क्रमबद्धपर्याय एवं आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।।२६-२९।।

> यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है।
>
> **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२**

एक आत्मा में एक साथ चार ज्ञान

पाँचों ज्ञानों के विषय स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह बताते हैं कि एक आत्मा में एक साथ कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।३०।।

एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं।

यदि एक ज्ञान होगा तो अकेला **केवलज्ञान** होगा।

यदि दो ज्ञान हुए तो **मतिज्ञान और श्रुतज्ञान** होंगे।

यदि तीन ज्ञान हुए तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होंगे अथवा **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान** होंगे।

यदि चार ज्ञान हुए तो **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ह्न** ये चार ज्ञान होंगे।

पाँच ज्ञान एक साथ किसी जीव के कभी नहीं होते; क्योंकि केवलज्ञान होने के साथ अन्य ज्ञानों की न कोई उपयोगिता ही रहती और ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से क्षायोपशमिक ज्ञान रह भी नहीं सकते।

ध्यान रहे इस संसारी जीव को आत्मकल्याण के कार्य में मात्र मति-श्रुतज्ञान ही काम आते हैं; क्योंकि अवधिज्ञान तो मात्र पुद्गल को ही जानता है और मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन की बातों को।

ये दोनों ज्ञान आत्मा को नहीं जानते और आत्मा का हित तो आत्मा को जानने में है, पर को जानने में नहीं।

संसारी जीवों के मन में कोई अच्छी बातें तो रहती नहीं, उनका मन तो सदा गंदे विचारों से ही भरा रहता है, उन गंदे विचारों को जानने से आत्मा को क्या लाभ है ?

उक्त संदर्भ में विगत सूत्रों की व्याख्या में चर्चा विस्तार से हो ही गई है।।३०।।

प्रमाणाभास : मिथ्याज्ञान

सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का प्रकरण समाप्त हुआ, अब प्रमाणाभासरूप मिथ्याज्ञानों की चर्चा करते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।३१।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपरीत (मिथ्या) भी होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों में आरंभ के तीन ह्न मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

जब ये तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शन सहित होते हैं तो सम्यग्ज्ञानरूप या प्रमाण रूप होते हैं और जब मिथ्यादर्शन सहित होते हैं; तब मिथ्याज्ञानरूप या प्रमाणाभासरूप होते हैं।

मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टियों को ही होते हैं; अत: वे कभी मिथ्याज्ञानरूप नहीं हो सकते। वे सदा सम्यग्ज्ञानरूप या प्रमाणरूप ही होते हैं।

ध्यान रहे, ज्ञान में सम्यक् और मिथ्या का निर्देश अथवा प्रमाण और प्रमाणाभास का निर्देश सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के कारण ही होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सम्यक् ही होते हैं, प्रमाणरूप ही होते हैं और मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान मिथ्या ही होते हैं, प्रमाणाभासरूप ही होते हैं।

मिथ्यादृष्टियों के वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान लौकिक दृष्टि से कितने ही उपयोगी क्यों न हों ह्न आखिर हैं तो वे सब मिथ्याज्ञान ही, प्रमाणाभास ही।

जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तबतक उनके ज्ञान की आध्यात्मिक जगत में कोई कीमत नहीं। अत: हमें पूरी शक्ति से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।।३१।।

ज्ञान में मिथ्यापन होने का कारण

विगत सूत्र में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं ह्न ऐसा कहा गया था। अत: अब आगामी सूत्र में **उक्त ज्ञानों के मिथ्या होने के कारण पर विचार करते हैं**। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।३२।।

जिसप्रकार पागल पुरुष; सत्-असत् का ज्ञान न होने से अथवा सत्-असत् को एक सा समझने से अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा कहने लगता है; उसीप्रकार सत्-असत् का विशेष ज्ञान न होने से अथवा दोनों में एक सी बुद्धि होने से अपनी इच्छानुसार जैसा-तैसा जानने के कारण मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या ही होता है।

जिसप्रकार पागल व्यक्ति माता और पत्नी में क्या अन्तर है ? यह नहीं जानने के कारण कभी माता को पत्नी कह देता है और कभी पत्नी को माता। ऐसा व्यक्ति यदि कभी माता को माता और पत्नी को पत्नी भी कहे तो उसका वह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि उसे माता और पत्नी का विवेक नहीं है।

माँ की पवित्रता उसके ध्यान में नहीं है। माँ पूज्य है और पत्नी भोग्य। इस अंतर को जाने बिना उसके माँ कहने का क्या अर्थ है ? वह तो कभी पत्नी को भी माँ कह सकता है और कभी माँ को पत्नी।

उसीप्रकार जिसे सत् और असत् का विवेक नहीं है, स्व-पर का विवेक नहीं है; अपने और पराये की पहिचान नहीं है; ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् सही भी कहे तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है; क्योंकि उसकी श्रद्धा सम्यक् नहीं है; उसे स्व-पर का विवेक नहीं है, अपने-पराये की पहिचान नहीं है।

सम्यग्ज्ञान होने के लिए श्रद्धा का सम्यक् होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि **ज्ञान का सम्यक्पना श्रद्धा के सम्यक् होने पर आधारित है।।३२।।**

नैगमादि सप्त नय

छठवें सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा सात तत्त्वार्थों के जानने के उपाय के रूप में प्रमाण और नयों की बात आई थी। उनमें सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का निरूपण नौवें सूत्र से तीसवें सूत्र तक २२ सूत्रों में विस्तार से हुआ। उसके बाद ३१ व ३२वें सूत्रों में प्रमाणाभासरूप कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि मिथ्याज्ञानों की चर्चा हुई। **अब इस प्रथम अध्याय के अन्तिम ३३वें सूत्र में श्रुतज्ञान के अंशरूप नयों का निरूपण करते हैं।**

जिसप्रकार सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप और मिथ्याज्ञान प्रमाणाभासरूप होते हैं; उसीप्रकार सम्यक् नय नयरूप और मिथ्यानय नयाभासरूप होते हैं। सापेक्षनय सम्यक् नय और निरपेक्षनय मिथ्या होते हैं।

कहा भी है ह्न **निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।**

निरपेक्षनय मिथ्या हैं, नयाभास हैं और सापेक्षनय सम्यक् हैं, नयरूप हैं। **सापेक्ष नयों से वस्तु की सिद्धि होती है।**

जिनागम में मूल नयों की चर्चा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार नयों के रूप में प्राप्त होती है; पर यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में उनकी चर्चा भी नहीं है; **यहाँ तो नयों की चर्चा नैगमादि सात नयों के रूप में ही प्राप्त होती है।**

नयों के संदर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र नाम से लगभग ४७२ पृष्ठों की एक पुस्तक मैंने भी लिखी है; जिसमें द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार, नैगमादि सप्त नय और प्रवचनसार के परिशिष्ट में समागत ४७ नयों की चर्चा विस्तार से की गई है।

उक्त पुस्तक में नैगमादि सप्त नयों की चर्चा भी ४५ पृष्ठों में की गई है। जो लोग नयों के संदर्भ में विस्तार से जानना चाहते हैं; वे उक्त पुस्तक को अवश्य पढ़ें। जो लोग अकेले नैगमादि नयों को ही विस्तार से जानना चाहते हैं; वे लोग उक्त पुस्तक में समागत नैगमादि सप्त नयों संबंधी प्रकरण को भी गहराई से पढ़ें।

इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में समागत नैगमादि सात नयों संबंधी सूत्र मूलत: इसप्रकार है ह्न

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नया: ।।३३।।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत ह्न ये सात नय हैं।

उक्त सात नयों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार है ह्न

१. नैगमनय ह्न अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करनेवाला नय, नैगमनय है। जैसे ह्न हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पूछता है ह्न 'आप किस काम से जा रहे हैं ?'

वह कहता है ह्न 'प्रस्थ लेने जा रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि प्रस्थ बनाने का संकल्प होने से प्रस्थ शब्द का व्यवहार किया गया है।

इसीप्रकार ईंधन एवं जलादि के संग्रह में संलग्न पुरुष से यदि कोई पूछता है ह्न 'आप क्या कर रहे हैं ?'

वह उत्तर देता है ह्न 'भात पका रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय भात (पके हुए चावल) पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि भात के लिए किये जा रहे व्यापार में भात शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसप्रकार का जितना भी लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलम्बन से **संकल्पमात्र को विषय करता है, वह नैगमनय का विषय है।**[1]

पुराने समय में अनाज नापने के लिए लकड़ी का एक बर्तन हुआ करता था, जिसे **प्रस्थ** कहते थे। एक व्यक्ति प्रस्थ बनाने के लिए लकड़ी लेने के लिए वन जा रहा था। जब उससे पूछा गया कि कहाँ जा रहे हो, तब वह कहता है कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। वह वन से प्रस्थ

१. सर्वार्थसिद्धि, अ.१, सूत्र ३३ की टीका

नहीं, लकड़ी लायेगा; पर उसका विचार उस लकड़ी से प्रस्थ बनाने का है; अत: वह ऐसा न कहकर कि मैं लकड़ी लेने जा रहा हूँ, अपने संकल्पानुसार ऐसा कहता है कि मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। उसका यह कथन **भावीनैगमनय** से सत्य है; क्योंकि **नैगमनय संकल्पग्राहीनय है।**

इसीप्रकार जो कार्य भूतकाल में सम्पन्न हो चुका है, उसे वर्तमान के समान व्यवहार करना, **भूतनैगमनय** है। यद्यपि भगवान महावीर के निर्वाण को पच्चीस सौ से भी अधिक वर्ष हो गये हैं; तथापि लोक में कहा जाता है कि आज दीपावली के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। भूतनैगमनय से यह कथन सत्य है; क्योंकि **भूतनैगमनय भूतकालीन कार्यों में वर्तमानवत् ही व्यवहार करता है।**

जो आरम्भ किये गये कार्य में सम्पन्न कार्य के समान व्यवहार करता है, वह **वर्तमाननैगमनय** है। इसे भात पकाने की क्रिया का उदाहरण देकर समझाया जाता रहा है। पके हुए चावल को भात कहते हैं। कोई व्यक्ति चावल पकाने के संकल्पपूर्वक चावल धोने आदि के कार्य में लगा है; यद्यपि उसने अभी चूल्हा भी नहीं जलाया है, पर पूछे जाने पर वह यही कहता है कि मैं भात पका रहा हूँ। उसका यह कहना **वर्तमाननैगमनय से सत्य है।**

इसप्रकार यह नैगमनय; भूतनैगमनय, वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के भेद से **तीन** प्रकार का होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि भावीनैगमनय एवं वर्तमाननैगमनय में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों में ही वर्तमान में कार्य असम्पन्न ही है; न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है।

उत्तर ह्न यद्यपि यह पूर्णत: सत्य है कि न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है; तथापि भात बनना जितना सन्निकट है, प्रस्थ बनना उतना निकट नहीं है; क्योंकि भात बनने की प्रक्रिया तो आरम्भ हो चुकी है, पर अभी प्रस्थ का तो ठिकाना ही नहीं है। **यह निकटता और दूरी ही वर्तमाननैगमनय एवं भावीनैगमनय की विभाजनरेखा है।**

एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि अभी कार्य निष्पन्न नहीं हुआ है; पर भूतनैगमनय के विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हुआ है; क्योंकि भूतकालीन कार्य तो सम्पन्न हो ही चुकते हैं।

अत: अनिष्पन्न कार्य में निष्पन्न कार्य के समान व्यवहार करने की बात भूतनैगमनय पर किसप्रकार घटित होगी ?

उत्तर ह्न भाई ! यहाँ 'अनिष्पन्न' का अर्थ मात्र इतना ही है कि जिस कार्य को निष्पन्न होता बताया जा रहा है, वह कार्य अभी वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो रहा है। **'अनिष्पन्न' का अर्थ 'वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो रहा' मात्र इतना ही है।**

वह कार्य पहले निष्पन्न हो चुका है या नहीं, भविष्य में निष्पन्न होगा या नहीं – इन सबसे यहाँ कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो बस बात इतनी सी ही है कि **वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हो रहा है और संकल्प के आधार पर ऐसे कहा जा रहा है कि मानो वह कार्य अभी ही सम्पन्न हो रहा हो।**

भूतनैगमनय के प्रकरण में मात्र इतना ही प्रयोजन है, इससे अधिक कुछ नहीं।

इन नैगमादि सप्त नयों का विभाजन ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी किया जाता है।

सत् (अर्थात्मक जगत) व असत् (ज्ञानात्मक जगत) को विषय बनानेवाला नैगमनय; ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनयों में अर्थनय के साथ-साथ ज्ञाननय भी है।

इस परिवर्तनशील जगत का प्रत्येक प्राणी अपने विचारात्मक जगत में अनेक प्रकार की कल्पनायें तो किया ही करता है, साथ में अपने संभव-असंभव विकल्पों को साकार करने के लिये अनेक प्रकार के संकल्प भी करता रहता है; तथापि यह आवश्यक नहीं कि जो योजनायें

उसने अपने विचारों में बनाई हैं, वे साकार हो ही जावें। चाहे वे कभी साकार हों या न हों, पर अभी विकल्पों में तो हैं ही।

उन संकल्प–विकल्पों को विषय बनाने के कारण ही यह नैगमनय ज्ञाननय कहा जाता है; क्योंकि वे संकल्प–विकल्प ज्ञानात्मक वस्तु ही हैं।

जिसतरह की कल्पनायें और संकल्प–विकल्प किये गये हैं, वर्तमान जगत में वे वस्तुयें उसरूप में नहीं हैं; इसकारण उन्हें असत् कहा जाता है और उन संकल्पों–विकल्पों को विषय बनाने के कारण नैगमनय को असत् को विषय बनानेवाला नय कहा जाता है।

असत् अर्थात् ज्ञानात्मक जगत को विषय बनानेवाला यह नैगमनय (ज्ञाननय) लोकव्यवहार में सर्वाधिक प्रचलित एवं अत्यन्त उपयोगी नय है। यदि इस नय के संदर्भ में हम अपने दैनिक जीवन के व्यावहारिक प्रयोगों पर दृष्टि डालें तो हमें इसकी उपयोगिता सहज ही भासित होगी।

इनमें नैगमनय; ज्ञाननय और अर्थनयरूप है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ह्न ये तीन नय, मात्र अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ह्न ये तीन नय, शब्दनय हैं।

इसमें एक बात और भी अधिक ध्यान रखने की यह है कि इन शब्दनयों में पहले भेद का नाम भी शब्दनय है और तीनों के समुदाय का नाम भी शब्दनय है। अत: इनके प्रयोग के समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रकरण में कौन से शब्दनय का प्रयोग हुआ है।

इसप्रकार उक्त सात नयों में ज्ञाननय तो मात्र नैगमनय ही है, परन्तु अर्थनय; नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ह्न ये चार नय हैं। और शब्दनय; शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ह्न ये तीन नय हैं।

इसप्रकार ये ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय; नैगमादि सप्तनय के ही वर्गीकृत भेद हैं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भूतनैगमनय का सशक्त उदाहरण हैं। एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले हुये ऋषभदेव एवं उनके पंचकल्याणकों को वर्तमान में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों में वर्तमानवत् ही व्यवहार किया जाता है।

'आज नीलांजना का नृत्य होगा और राजा ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण करेंगे' प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा दी गई इसप्रकार की सूचनाओं को क्या हम असत्य मानते हैं ?

नहीं, कदापि नहीं।

तो क्या सचमुच आज नीलांजना का नृत्य होगा या राजा ऋषभदेव दीक्षा लेंगे ?

नहीं, यह भी सत्य नहीं है; क्योंकि राजा ऋषभदेव तो एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले ही दीक्षा ले चुके हैं, आज तो वे सिद्धदशा में विराजमान हैं।

सम्पूर्ण स्थिति को भलीभाँति समझनेवाले श्रोताओं या दर्शकों को प्रतिष्ठाचार्यों की इसप्रकार की घोषणाओं से कोई परेशानी खड़ी नहीं होती; क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि **यहाँ भूतकालीन घटनाओं के संबंध में वर्तमानवत् व्यवहार किया जा रहा है।**

यह सम्पूर्ण व्यवहार भूतनैगमनय की अपेक्षा ही संभव है। साधारण जनता भले ही नैगमनय का नाम न जानती हो, उसकी परिभाषा भी न समझती हो; तथापि उसकी कथन शैली से भली–भाँति परिचित है। यही कारण है कि उसे कोई उलझन खड़ी नहीं होती।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि सबसे पहले किसी के कल्पना लोक अर्थात् ज्ञानजगत में ही अवतरित हुई होगी, पश्चात् कागज पर आई होगी और उसके बाद इसका क्रियान्वयन आरंभ हुआ है। यह ज्ञान जगत का अद्भुत उत्पादन है, जिसे नैगमनय अपना विषय बनाता है।

इसीप्रकार भावीचौबीसी की प्रतिष्ठा को भावीनैगमनय एवं विद्यमान सीमन्धरादि बीस तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा को वर्तमाननैगमनय के उदाहरण माने जा सकते हैं।

लोक में भी हम इसप्रकार के अगणित प्रयोग प्रतिदिन करते रहते हैं।

मेडिकल कॉलेज में प्रविष्ट छात्र को डॉक्टर कहना, राजपुत्र को राजासाहब कहना – इसीप्रकार के प्रयोग हैं, जो क्रमश: वर्तमान व भावीनैगमनय के उदाहरण हैं। सेवानिवृत्त न्यायाधीश को जजसाहब कहना, दीक्षित या सिद्धदशा को प्राप्त भरत को भी भरत चक्रवर्ती कहना, **भूतनैगमनय के उदाहरण हैं।**

अभी तक नैगमनय का जितना भी कथन किया गया है, वह सब ज्ञाननय के रूप में ही किया गया है, परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि **नैगमनय ज्ञाननय के साथ–साथ अर्थनय भी है।**

अत: नैगमनय की परिभाषा एवं भेद–प्रभेद दोनों ही दृष्टियों से किये जाना आवश्यक है। यदि ज्ञाननय की अपेक्षा यह संकल्पग्राही नय है और इसके भूत, भावी एवं वर्तमाननैगमनय – ऐसे कालकृत तीन भेद हैं तो अर्थनय की दृष्टि से इसकी परिभाषा क्या है और इसे कितने विभागों में बाँटा जा सकता है – यह भी विचारणीय विषय है।

द्रव्य–गुण–पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थ है; अत: अर्थनय की दृष्टि से नैगमनय की विषयभूत वस्तु में द्रव्य, गुण, पर्याय–सभी समा जाते हैं।

अब यह देखना है कि यह नैगमनय द्रव्य, गुण व पर्याय को किस रूप में अपना विषय बनाता है।

अर्थनय की अपेक्षा नैगमनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र वर्णी लिखते हैं :–

''अर्थनय की अपेक्षा करने पर नैगमनय का लक्षण 'एक को ग्रहण न करके दो को ग्रहण करना' है। अर्थात् संग्रहनय के विषयभूत अभेद को तथा व्यवहारनय के विषयभूत भेद को दोनों को ही युगपत्, परन्तु मुख्य–गौण के विकल्प से ग्रहण करना नैगमनय है।

वहाँ संग्रहनय अनेकों में अनुगत सामान्य को ग्रहण करके वस्तु को एक मानता है और व्यवहारनय उसी वस्तु में अनेकों द्रव्य, गुण व पर्यायगत विशेषों का ग्रहण करके उसे अनेकरूप मानता है। जैसे 'जीव एक है – यह संग्रहनय कहलाता है और 'जीव दो प्रकार का है – संसारी व मुक्त' – यह व्यवहारनय कहलाता है, परन्तु इन दोनों नयों के **विषयों को मुख्य–गौणभाव से युगपत् ग्रहण करना नैगमनय का विषय है।**

उससे कहीं संग्रहनय का अभेद विषय मुख्य होता है तो व्यवहारनय का भेद विषय गौण हो जाता है। जैसे – जो यह संसारी व मुक्त दो प्रकार का कहा जा रहा है, वह वास्तव में एक जीव ही है। कहीं व्यवहारनय का भेद विषय मुख्य हो जाता है और संग्रहनय का अभेद विषय गौण हो जाता है। जैसे :– यह जो एक जीव कहा जा रहा है, वही संसारी व मुक्त के भेद से दो प्रकार का है।

नैगम के इस लक्षण का विषय सत्ताभूत पदार्थ ही है, क्योंकि यह अर्थनय है।''

इसप्रकार ज्ञाननय की अपेक्षा तीन भेद एवं अर्थनय की अपेक्षा नौ भेद – कुल मिलाकर नैगमनय के बारह भेद हो जाते हैं।

इन सबकी विशेष जानकारी के लिए श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये, विस्तारभय से यहाँ इससे अधिक लिखना इष्ट प्रतीत नहीं होता।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि नैगमनय अत्यन्त व्यापक नय है। इसके पेट में द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अर्थात्मक सत्-जगत एवं भूत, भविष्य और वर्तमानरूप ज्ञानात्मक असत्-जगत सब-कुछ समाया हुआ है।

२. संग्रहनय ह्न प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा अपनी जाति का विरोध न करते हुए **सभी विशेषों को कथंचित् एकत्वरूप से ग्रहण करना, संग्रहनय है।**[१]

सत्ता दो प्रकार की होती है ह्न १. महासत्ता और २. अवान्तरसत्ता।

अनेक वस्तुओं में व्याप्त सादृश्य अस्तित्व को सूचित करनेवाली **महासत्ता** है और वस्तुओं का पृथक्–पृथक् स्वतंत्र (स्वरूप) अस्तित्व **अवान्तरसत्ता** है।

१. आचार्य विद्यानन्द : श्लोकवार्तिक, नय विवरण, श्लोक ६३

इसप्रकार यहाँ यह सुनिश्चित हुआ कि **महासत्ता का आधार सादृश्यास्तित्व है और अवान्तरसत्ता का आधार स्वरूपास्तित्व है।**

महासत्ता भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की है।

सत् मात्र के आधार पर सम्पूर्ण विश्व में एकत्व स्थापित करनेवाली **शुद्ध महासत्ता** है तथा उसकी एक जाति विशेष के आधार पर कुछ पदार्थों में एकत्व स्थापित करनेवाली **अशुद्ध महासत्ता** है।

शुद्ध महासत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय **शुद्धसंग्रहनय** कहा जाता है और अशुद्ध महासत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय **अशुद्ध संग्रहनय** कहा जाता है।

शुद्धसंग्रहनय को सामान्यसंग्रह, परसंग्रह एवं अशुद्धसंग्रहनय को विशेषसंग्रह, अपरसंग्रह नामों से भी अभिहित किया जाता है।

सभी पदार्थों को अपने में समेट लेने में समर्थ सत्सामान्य को ग्रहण करनेवाला संग्रहनय शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है। चूँकि 'सत्ता' द्रव्य का लक्षण है, अत: 'द्रव्य' शब्द से भी जगत की सभी वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है।

सत्सामान्य द्रव्य का लक्षण है तो चित्सामान्य जीव का लक्षण है; अत: सत्सामान्य की अपेक्षा सभी द्रव्य और चित्सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एक हैं।

द्रव्य शब्द सभी पदार्थों को अपने में समेटे है; अत: वह शुद्धसंग्रहनय का विषय है और 'जीव' शब्द अनन्त जीवों को अपने में समेटे है, अत: वह संग्रहनय का विषय तो है; पर यह संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है, क्योंकि इसमें लोक के समस्त पदार्थों का संग्रह नहीं हो पाया है। एक जातिविशेष के पदार्थों का संग्रह होने से यह संग्रहनय तो है, पर सम्पूर्ण पदार्थों का संग्रह न होने से इसे शुद्धता प्राप्त नहीं है।

अस्तित्व शुद्ध महासत्ता है और चेतनत्व अशुद्ध महासत्ता। शुद्ध महासत्ता का ग्राहक संग्रहनय शुद्ध होता है और अशुद्ध महासत्ता का ग्राहक संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है।

एक जाति के आधार पर जगत के अनन्तानन्त पदार्थों में एकता स्थापित करनेवाला यह नय मात्र वस्तु के स्वरूप को समझने में ही उपयोगी नहीं, अपितु लौकिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है।

इस नय के अनुसार 'होना' भी एक जाति है; मात्र एक जाति नहीं, अपितु सबसे बड़ी जाति है; एकमात्र शुद्ध जाति है; इसके अतिरिक्त और सभी जातियाँ अशुद्ध हैं, क्योंकि वे सबको संगृहीत करने में समर्थ नहीं हैं।

एकमात्र 'होना' अर्थात् 'अस्तित्व' ही एक ऐसी जाति है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण जगत में एकता स्थापित हो सकती है। यही कारण है कि अस्तित्व (सादृश्यास्तित्व) के आधार पर एकता स्थापित करनेवाले नय को ही शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है, शेष सभी संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय हैं।

क्षुद्र जातिवाद के आडम्बर में उलझे इस जगत ने कभी सोचा भी न होगा कि 'होना' भी एक जाति हो सकती है। इस जाति के अनुसार सभी चेतन और जड़ पदार्थ एक ही जाति के हैं। हम भी, तुम भी, और भी जो हैं, वे सभी एक 'हैं' जाति के ही हैं। **'हैं' के अतिरिक्त कोई ऐसी जाति नहीं, जो शुद्ध जाति हो;** क्योंकि 'हैं' – इस एकमात्र जाति के आधार पर जो एकता स्थापित होती है, उसे ही शुद्धसंग्रहनय कहते हैं।

जो जातिवाद संग्रह का हेतु है, उसे आज हमने अपनी भूल से विग्रह का हेतु बना लिया है।

संग्रहनय के स्वरूप पर गहरी दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि यह नय सामाजिक एकता की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी नय है; क्योंकि यह नय जाति का सम्यक् स्वरूप बताकर जातिवाद का जहर उतारनेवाला सम्यक्नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि संग्रहनय का एकमात्र कार्य विभिन्न सत् पदार्थों में समानता के आधार पर एकता स्थापित करना ही है।

---

१. संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वक:।
योऽवहारो विभाग: स्याद् व्यवहारो नय: स्मृत:।।
– श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ७२

३. व्यवहारनय ह्व संग्रहनय द्वारा संगृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है।[१] संग्रहनय के समान यह भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है।

जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अशुद्ध अर्थ का भेद करनेवाले अशुद्ध व्यवहारनय है और शुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला शुद्धव्यवहारनय।

शुद्धव्यवहारनय को सामान्यव्यवहारनय एवं अशुद्धव्यवहारनय को विशेषव्यवहारनय भी कहते हैं।

महासत्ता की अपेक्षा सभी पदार्थ सन्मात्र हैं, एक हैं, द्रव्य हैं – इस शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित करके कहना है कि द्रव्य छह प्रकार के हैं – जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल।

इसप्रकार भेद करनेवाला व्यवहारनय शुद्धव्यवहारनय है; क्योंकि इसने शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया है।

अशुद्ध महासत्ता के आधार पर सभी जीवों में एकत्व स्थापित करनेवाले अशुद्धसंग्रहनय के विषयभूत 'जीव' नामक द्रव्य को भी विभाजित करके कहना कि जीव दो प्रकार के होते हैं – संसारी और मुक्त, अशुद्धव्यवहारनय का कार्य है; क्योंकि इस कथन में अशुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया गया है।

अशुद्धव्यवहारनय के माध्यम से किया जानेवाला यह विभाजन निरन्तर तबतक चलता रह सकता है; जबतक कि स्थिति अविभाज्य अंश तक न पहुँच जाये।

यदि व्यवहारनय संग्रहनय के द्वारा संगृहीत पदार्थों को अन्तिम बिन्दु तक विभाजित करता है तो संग्रहनय व्यवहारनय द्वारा विभाजित पदार्थों को उस अन्तिम बिन्दु तक संगृहीत करता है कि जिसमें सम्पूर्ण जगत ही समाहित हो जाता है।

इसप्रकार संग्रह और व्यवहारनय एक–दूसरे के विरुद्ध कार्य करनेवाले होने पर भी एक–दूसरे के पूरक नय हैं। यदि संग्रहनय संधि है, समास है तो व्यवहारनय विच्छेद है, विग्रह है।

यदि संग्रहनय भेद में अभेद स्थापित करनेवाला अभेदकनय है तो व्यवहारनय अभेद में भेद करनेवाला भेदकनय।

इन दोनों नयों की दिशा एकदम एक–दूसरे के विपरीत है। ये दोनों नय मथानी की डोरी के उन दोनों छोरों के समान हैं, जो एक–दूसरे के विरुद्ध ताकत लगाते हैं। एक छोर के आगे बढ़ने पर दूसरे का पीछे हटना अनिवार्य हो जाता है। एक–दूसरे के आगे बढ़ने और पीछे हटने की निरन्तर गतिशील इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही दही में से मक्खन निकलता है।

तत्त्वरूपी मक्खन की प्राप्ति के लिये संग्रह–व्यवहार की यह मंथन–प्रक्रिया निरन्तर चलना अत्यन्त आवश्यक है। **सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व के छोर तक और स्वरूपास्तित्व से सादृश्यास्तित्व के छोर तक निरन्तर घूमनेवाला यह नयचक्र वस्तुस्वरूप समझने का, प्रतिपादन करने का अमोघ चक्र है।**

संगठन का आधार संग्रहनय है और विघटन का आधार व्यवहार नय। समाज के विकास और व्यवस्था के लिये दोनों की ही अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक विकास के लिये संगठन की आवश्यकता से तो सभी भली–भाँति परिचित हैं, इसके संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु विघटन भी समाज के लिये कितना उपयोगी है, इस पर किंचित् विचार अवश्य अपेक्षित है।

हमारे इस भारत देश की समृद्धि के लिये जितनी आवश्यक इसकी अखण्डता है; प्रान्तों, जिलों आदि में विभाजित करना भी उससे कम आवश्यक नहीं; **विकास और व्यवस्था के लिये विभाजन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।**

ध्यान रखने की बात यह है कि यह विभाजन अखण्डता को खण्डित करनेवाला नहीं होना चाहिये। जिसप्रकार अखण्डता को कायम रखकर व्यवस्था के लिये किया गया विभाजन देश को सुखी और समृद्ध करता है; उसीप्रकार सन्मात्र को कायम रखकर किया गया विभाजन वस्तुस्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसप्रकार समष्टि की ओर ले जाने वाला संग्रहनय है और व्यष्टि की ओर ले जानेवाला व्यवहारनय है।

व्यक्तियों को समाज के रूप में संग्रह करनेवाला नय संग्रहनय है और समाज को अपने वर्गों में विभाजित करते हुए व्यक्ति तक पहुँचाना व्यवहारनय का कार्य है।

लोक में व्यक्ति और समाज दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति की उपेक्षा करनेवाला समाज और समाज की उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति - दोनों ही अभीष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होते।

दोनों में से किसी की भी उपेक्षा उचित नहीं है; संभव भी नहीं है, दोनों के समुचित समादर में ही समाज व व्यक्ति का हित निहित है।

सादृश्यास्तित्व से लेकर स्वरूपास्तित्व के बीच ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो संग्रह व व्यवहार दोनों ही नयों के विषय बनते हैं, पर दोनों नयों के दृष्टिकोण अलग-अलग होने से दोनों के मुख परस्पर विरुद्ध ही रहते हैं।

संग्रहनय संग्रहोन्मुखी है और व्यवहारनय विभाजनोन्मुखी। जब हम जीवों को गतियों की अपेक्षा चार भागों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि जीव के चार प्रकार हैं - देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; तब 'मनुष्य' व्यवहारनय का विषय बनता है; किन्तु जब हम 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य गति के समस्त जीवों का संग्रह करते हैं, तब वह संग्रहनय का विषय बनता है।

ध्यान रहे, यह व्यवहारनय; निश्चय-व्यवहारवाले व्यवहारनय से एकदम जुदा हैं। यह व्यवहारनय, संग्रहनय के विरुद्ध है और वह व्यवहारनय निश्चयनय के विरुद्ध है।

यदि निश्चय-व्यवहारवाले व्यवहारनय के विषय में जानना चाहते हैं तो आपको लेखक की अन्य कृति **परमभावप्रकाशकनयचक्र** में निश्चय-व्यवहार संबंधी प्रकरण का अध्ययन करना चाहिए।

इसीप्रकार व्यवहारनय संग्रहनय द्वारा संगृहीत विषयों को विभाजित करता है और संग्रहनय व्यवहारनय द्वारा विभाजित विषयों को संगृहीत करता है।

यद्यपि संग्रह और विभाजन की ये क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं; तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक क्रियाएँ ही हैं; क्योंकि यदि संग्रहनय द्वारा अनेक पदार्थ संगृहीत नहीं किये जावेंगे तो व्यवहारनय विभाजन किसका करेगा ? इसीप्रकार यदि व्यवहारनय द्वारा पदार्थ विभाजित नहीं होंगे तो संग्रहनय किसका संग्रह करेगा ?

संग्रह और विभाजन की यह क्रिया ज्ञान में जितनी अधिक सम्पन्न होगी, वस्तुस्वरूप भी ज्ञान में उतना ही अधिक स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक, अद्वैत और द्वैत के ग्राहक ये संग्रह और व्यवहारनय लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी एवं जिनागम के आधारभूत नय हैं।

४. ऋजुसूत्रनय ह्र यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि द्रव्यार्थिकनय सामान्यग्राही होता है और पर्यायार्थिकनय विशेषग्राही।

सामान्यग्राही द्रव्यार्थिकनयों में अद्वैतग्राही संग्रहनय, द्वैतग्राही व्यवहारनय एवं उभयग्राही व संकल्पग्राही नैगमनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है। **अब विशेषग्राही पर्यायार्थिकनय के रूप में ऋजुसूत्रनय की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।**

ऋजुसूत्रनय मुख्यरूप से क्षण-क्षण में ध्वंस होनेवाली पर्यायों को वस्तुरूप से विषय करता है, विद्यमान होते हुए भी विवक्षा नहीं होने से इसमें द्रव्य की गौणता है।

यह ऋजुसूत्रनय भी दो प्रकार का है :- १. सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एवं २. स्थूलऋजुसूत्रनय।

जो द्रव्य में एकसमयवर्ती अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे - सभी शब्द क्षणिक हैं। और जो अपनी स्थिति-पर्यन्त रहनेवाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्यपर्यायरूप से ग्रहण करता है, वह **स्थूलऋजुसूत्रनय** है।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एकसमयवर्ती अर्थपर्याय अर्थात् गुणपर्याय को अपना विषय बनाता है और स्थूलऋजुसूत्रनय अनेकसमयवर्ती व्यंजनपर्याय अर्थात् द्रव्यपर्याय को अपना विषय बनाता है।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्रनय एवं स्थूलऋजुसूत्रनय को अशुद्धऋजुसूत्रनय भी कहते हैं।

यद्यपि यह बात परमसत्य है कि वर्तमान एक समयमात्र ही होता है; क्योंकि वर्तमान के एक समय पूर्व तक का काल भूतकाल तथा वर्तमान के एक समय बाद का काल भविष्य काल कहा जाता है। भूत-भविष्य के बीच मात्र एक समय ही रहता है, जो वर्तमानकाल कहा जाता है। वास्तविक अर्थपर्याय-गुणपर्याय भी एक समयमात्र ही स्थिर रहती है और वही वास्तविक पर्याय है; अत: उसे ही शुद्धपर्याय कहते हैं।

यहाँ शुद्धपर्याय से तात्पर्य निर्विकारी निर्मल पर्याय से नहीं है, अपितु अनेक पर्यायों के समुदायरूप पर्याय न होकर अकेली एक पर्याय से है। चाहे वह पर्याय समल हो या निर्मल, पर अकेली हो तो शुद्ध ही है। यहाँ उसका एकत्व ही शुद्धता है। यही कारण है कि एकसमयवर्ती पर्याय को विषय बनाने वाले ऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

एकसमयवर्ती पर्याय के अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसे विषय करनेवाले नय को सूक्ष्मऋजुसूत्रनय भी कहा जाता है और यही वास्तविक ऋजुसूत्रनय है; तथापि **यह भी तो सत्य है कि वह एकसमयवर्ती पर्याय क्षयोपशम ज्ञान वालों की पकड़ में अनेक समय बाद ही आती है। बाद में भी वह सीधी पकड़ में कहाँ आती है ? उसे तो अनुमान और आगम प्रमाण से ही जाना जाता है। उसके माध्यम से कुछ भी व्यवहार संभव नहीं है।**

यही कारण है कि अनेक पर्यायों के समूहरूप मनुष्यादि व्यंजनपर्यायों-द्रव्यपर्यायों के आधार पर ही ऋजुसूत्रनय संबंधी समस्त व्यवहार चलता है, जो कि अनुचित भी नहीं है; क्योंकि जिनागम में भी मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच आदि पर्यायों को 'पर्याय' संज्ञा दी गई है।

ये मनुष्यादि पर्यायें अनेक पर्यायों के समूहरूप पर्यायें हैं; अत: अशुद्ध कही जाती हैं और इन्हें विषय बनानेवाले नय को भी अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है। ये पर्यायें सामान्यजन के भी बुद्धिगोचर होने से स्थूल हैं, अत: इन्हें ग्रहण करनेवाले नय को स्थूलऋजुसूत्रनय भी कहा जाता है।

यद्यपि वास्तविक वर्तमान एक समय का ही होता है; तथापि आज, इसी माह, इसी वर्ष, इसी शताब्दी में, इसी पंचम काल में, इसी अवसर्पिणी में आदि को भी तो वर्तमान के रूप में ही कहा जाता है।

क्या जिनागम में ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के तीर्थंकरों को वर्तमान-चौबीसी के रूप में नहीं बताया गया है ? क्या एक कोड़ा-कोड़ी सागर पहले हुए ऋषभदेव को वर्तमान तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता है ?

इसतरह हम देखते हैं कि **यदि निश्चयवर्तमान एक समय का ही होता है तो व्यवहारवर्तमान दो समयों से लेकर करोड़ों वर्ष तक का भी माना जाता रहा है। इस व्यवहारवर्तमान को ही स्थूलवर्तमान – अशुद्धवर्तमान नाम से अभिहित किया जाता है और इसके ग्राहक ऋजुसूत्रनय को स्थूलऋजुसूत्रनय या अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।**

शब्दनय

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के भेद से की गई नयों की चर्चा में ज्ञाननय के रूप में नैगमनय एवं अर्थनय के रूप में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है।

अब शब्दनयों की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

ये शब्दनय तीन प्रकार के हैं ह्व

(१) शब्दनय (२) समभिरूढ़नय (३) एवंभूतनय।

ध्यान रखने की बात यह है कि उक्त तीनों नयों का सामूहिक नाम भी शब्दनय है और इनमें से प्रथम का नाम भी शब्दनय है। उक्त तीनों नय शब्दों के प्रयोगों पर विचार करते हैं, उन्हें सुसंगत रीति से नियंत्रित करते हैं। यही कारण है कि उक्त तीनों को ही शब्दनय संज्ञा प्राप्त है।

उक्त तीनों नयों के समुदायरूप शब्दनय को व्यंजननय भी कहते

हैं; क्योंकि उक्त तीनों नयों के विषयभूत लिखे व बोले जानेवाले शब्द पुद्‌गलद्रव्य की व्यंजनपर्यायरूप होते हैं। इसीकारण ये तीनों नय पर्यायार्थिकनय भी कहे जाते हैं।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के बिना वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भाषा के सुसंगत एवं निर्दोष प्रयोग के बिना प्रतिपादन में अनेक ऐसी गंभीर भूलें भी संभव हैं कि जिनसे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। अत: जिनागम में निर्दोष प्रतिपादन के लिये व्याकरणसंमत भाषा के प्रयोगों में भी और अधिक कसावट लाने के लिए इन शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूतनयों का प्रयोग किया गया।

५. शब्दनय ह्न लौकिक व्याकरण का अनुसरण करनेवाला ऋजुसूत्रनय लिंग, संख्या आदि के व्यभिचारों को व्याकरण के नियमों के अपवाद रूप से स्वीकार कर लेता है, पर शब्दनय को वह सहन नहीं होते; अत: समान लिंग व संख्या-वाचक शब्दों को ही एकार्थवाचक रूप से ग्रहण करता है।

जिसप्रकार भिन्नस्वभावी पदार्थ भिन्न ही होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी अभेद नहीं देखा जा सकता; उसीप्रकार भिन्न लिंग आदि वाले शब्द भी भिन्न ही होने चाहिए, उनमें किसी प्रकार की भी एकार्थता घटित नहीं हो सकती और इसप्रकार **दार, भार्या, कलत्र** – ये भिन्न लिंग वाले तीन शब्द अथवा **नक्षत्र, पुनर्वसू, शतभिषज** ये भिन्नसंख्यावाचक तीन शब्द और इसीप्रकार अन्य भी भिन्नस्वभाववाची शब्द, भले ही व्यवहार में या लौकिक व्याकरण में एकार्थवाची समझे जायें, परन्तु शब्दनय इनको भिन्न अर्थ का वाचक समझता है।

अत: समान लिंग व संख्या वाले शब्दों में ही एकार्थवाचकता बन सकती है। जैसे – इन्द्र, पुरन्दर, शक्र – ये तीनों शब्द समान पुल्लिंगी होने के कारण एक 'शचीपति' के वाचक है – ऐसा शब्दनय कहता है।

तात्पर्य यह है कि काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्ग के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानने को शब्दनय कहते हैं।

६. समभिरूढनय ह्न यद्यपि शब्दनय लिंग, संख्या, वचन, काल एवं उपसर्ग संबंधी व्यभिचारों को स्वीकार नहीं करता; तथापि इन दोषों से रहित एकार्थवाची शब्दों की सत्ता स्वीकार करता है। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों का अर्थ एक देवराज ही है, शचीपति ही है – यह उसे सहर्ष स्वीकार है।

यद्यपि यह सत्य है कि उक्त तीनों शब्द देवराज के पर्यायवाची हैं, एक देवराज के लिये ही प्रयुक्त होते हैं; तथापि निरुक्ति की दृष्टि से विचार करें तो उनके अर्थ में अन्तर भी विद्यमान है।

'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्य, 'शक्र' शब्द सामर्थ्य एवं 'पुरन्दर' शब्द पुर को भेदन करने की क्रिया की ओर संकेत करता है। ऐश्वर्यवान इन्द्र, सामर्थ्यवान शक्र एवं पुर को भेदनेवाला पुरन्दर कहा जाता है।

शब्दनय शब्द के भेद से अर्थ में भेद होनेवाले इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देता और वह इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द को समान अर्थ के द्योतक पर्यायवाची शब्द ही स्वीकार कर लेता है; पर **समभिरूढ़नय की दृष्टि में कोई शब्द पर्यायवाची होते ही नहीं हैं।**

समभिरूढ़नय का कहना है कि लोक में जितने पदार्थ हैं, उनके वाचक शब्द भी उतने ही हैं। यदि अनेक शब्दों का एक ही अर्थ माना जायेगा तो उनके वाच्य पदार्थों को भी मिलकर एक हो जाना होगा, जो कि संभव नहीं है। अत: यही उचित है कि **प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही स्वीकार किया जावे।**

अत: स्पष्ट है कि शब्दनय के द्वारा ग्रहण किये गये समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में निरुक्ति या व्युत्पत्ति-अर्थ से अर्थभेद की स्थापना करना समभिरूढ़नय का मुख्य कार्य है।

समभिरूढनय की जो व्याख्या अभी तक की गई है, एक वस्तु के वाचक अनेक शब्दों के संदर्भ में ही की गई है; अब अनेकार्थवाची शब्दों के संदर्भ में विचार करते हैं।

अनेकार्थवाची शब्दों के सब अर्थों को गौण करके एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही ग्रहण करना समभिरूढ़नय का काम है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समभिरूढ़नय के मूल दो कार्य हैं ह्न

अर्थारूढ़ और शब्दारूढ़।

समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की स्थापना करना अर्थारूढ़ है। एक देवराज के वाचक शक्र, इन्द्र और पुरंदर शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करना इसका उदाहरण है।

अनेकार्थवाची शब्दों के एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार कर अन्य अर्थों की उपेक्षा कर देना शब्दारूढ़ है। ग्यारह अर्थों वाले 'गो' शब्द का मात्र 'गाय' के अर्थ में ही प्रयोग करना इसका उदाहरण है।

इसप्रकार यह समभिरूढ़नय अर्थारूढ़ और शब्दारूढ़ के भेद से दो प्रकार का होता है।

७. एवंभूतनय ह्न व्याकरणसंमत अपवादों को भी अस्वीकार कर शब्दनय ने एवं एकार्थवाची शब्दों के व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार कर समभिरूढ़नय ने प्रतिपादन-शैली एवं भाषा को बहुत कुछ सुगठित कर दिया था; तथापि **एवंभूतनय का कहना है कि 'गच्छतीति गो:' – इस निरुक्ति के अनुसार गमन करती हुई गाय को ही 'गो' कहा जा सकता है, बैठी हुई गाय को नहीं।**

यद्यपि समभिरूढ़नय भी शब्दनय के समान एकार्थवाची अनेक शब्दों की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसका स्पष्ट मत है कि जितने शब्द हैं, उनके वाच्य पृथक्-पृथक् उतने ही होने चाहिये; तथापि वह यह स्वीकार कर लेता है कि विशिष्ट अर्थवाले विशिष्ट शब्द जिस व्यक्ति या वस्तु के वाचक हैं, वे उस व्यक्ति या वस्तु के वाचक मात्र उस क्रिया को करते समय ही नहीं, अपितु आगे-पीछे भी उन्हें उन नामों से अभिहित किया जा सकता है, पर एवंभूतनय को यह स्वीकार नहीं है।

एवंभूतनय का तो स्पष्ट कहना है कि जो पदार्थ जिस समय जो क्रिया कर रहा हो, उसे उस समय उसी नाम से पुकारा जाय। देवराज को इन्दनक्रिया करते समय ही इन्द्र कहा जा सकता है, पुर का दारण करते समय नहीं।

दूसरी बात यह है कि जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय करानेवाला नय एवंभूतनय है। जैसे इन्द्ररूप ज्ञान से परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञान से परिणत आत्मा अग्नि है।

उक्त कथन में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस समय जो आत्मा जिस पदार्थ को जान रहा हो, उस समय वह आत्मा वही है, अर्थात् उसे उस समय उसी नाम से पुकारा जाना चाहिए। **अग्नि को जानने में संलग्न आत्मा अग्नि ही है – यह अभिप्राय है एवंभूतनय का।**

जो जिस समय जिस पदार्थ का ज्ञान कर रहा हो, उस समय उस व्यक्ति विशेष को उस पदार्थ के नाम से ही पुकारना चाहिये; जैसे कि गाय को देखने में उपयुक्त व्यक्ति उस समय 'गाय' शब्द का वाच्य है, मनुष्य या जीव शब्द का नहीं। कारण कि व्यक्ति तो ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान का संज्ञाकरण ज्ञेय के बिना किया नहीं जा सकता। एवंभूत की एकत्वदृष्टि में घट व ज्ञान अथवा ज्ञान व ज्ञानधारी जीव – ऐसा द्वैत कहाँ ? अत: घट आदि ज्ञेय ही ज्ञान हैं और वह ज्ञान ही वह व्यक्ति है; अत: घटरूप ही वह व्यक्ति है; अत: व्यक्ति विशेष को 'घट' या 'गाय' कहना उस समय युक्त है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों ही नय भाषा के प्रयोगों को आवश्यकतानुसार सुसंगत रूप प्रदान करनेवाले और उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले हैं। ये ही क्यों, नैगमादि सातों ही नय क्रमश: उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषय वाले हैं और पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु भी हैं। इन सातों नयों को उक्त क्रम में रखने का कारण भी यही है। जैसा कि कहा गया है ह्न

"उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रम: पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च। एवमेते नया: पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया.... ।[१]"

उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयवाले होने के कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु हैं; इसलिये भी यह क्रम कहा है। इसप्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्पविषयवाले हैं। इसप्रकार नैगमादि सप्तनयों का यह संक्षिप्त विवेचन किया गया है ।।३३।। इसप्रकार यहाँ पहला अध्याय समाप्त होता है।

१. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय १, सूत्र ३३ टीका, पृष्ठ १०२

दूसरा अध्याय

पृष्ठभूमि

विगत अध्याय में सम्यग्दर्शन को परिभाषित करते हुए जीवादि सप्त तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। अत: अब तत्त्वार्थों का विवेचन प्रसंग प्राप्त है। इसलिए **अब इस दूसरे अध्याय में सर्वप्रथम जीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं; जो चौथे अध्याय तक चलेगी।**

अथवा **विगत अध्याय में प्रमाण और नयों की चर्चा की गई है। अत: अब यहाँ उनके प्रमेयरूप जीवादि तत्त्वार्थों में से सर्वप्रथम जीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं;** जो चौथे अध्याय तक चलेगी।

जो भाव सभी द्रव्यों में पाये जावें, उन्हें सामान्य या साधारण भाव कहते हैं; परन्तु **जो भाव द्रव्य विशेष में पाये जायें; उन्हें विशेष भाव या असाधारण भाव कहते हैं।**

जीवतत्त्व के असाधारण भाव

अत: अब यहाँ सर्वप्रथम आत्मा की पहिचान के लिए जीवों के **असाधारण (विशेष) भावों की चर्चा आरंभ करते हैं।** यह चर्चा सातवें सूत्र तक चलेगी। उक्त सात सूत्रों में आदि के दो सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिकपारिणामिकौ च ।।१।।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ।।२।।

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक ह्न ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं।

उक्त पाँच भावों के क्रमश: दो, नौ, अठारह, इक्कीस व तीन भेद हैं। इसप्रकार औपशमिक भाव दो प्रकार का है, क्षायिक भाव नौ प्रकार का है, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार का है, औदयिक भाव इक्कीस प्रकार का है और पारिणामिकभाव तीन प्रकार

का है। इसप्रकार ये सभी मिलकर त्रेपन भाव हो गये; जो भाव मात्र जीवों में ही पाये जाते हैं; इसलिए ये जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं।

इन भावों का विश्लेषण आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं ह्न

''कर्मों का फलदानसामर्थ्यरूप से उद्भवरूप भाव **उदय** है, अनुद्भवरूप भाव **उपशम** है, उद्भव तथा अनुद्भवरूप भाव **क्षयोपशम** है, कर्म के अत्यन्त विश्लेष (वियोग) से उत्पन्न भाव **क्षय** है। द्रव्य का आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है, वह **परिणाम** है।

वहाँ उदय से युक्त **औदयिक,** उपशम से युक्त **औपशमिक,** क्षयोपशम से युक्त **क्षायोपशमिक,** क्षय से युक्त **क्षायिक** और परिणाम से युक्त **पारिणामिक** भाव हैं।[१]''

इन पाँच भावों का स्वरूप अकलंकदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**१.** जिसप्रकार कतकफल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है; उसीप्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना **उपशम** है।

उपशम के लिए जो भाव होते हैं, वे औपशमिक भाव हैं।

२. जिस जल का मैल नीचे बैठा हो, उसे यदि दूसरे बर्तन में रख दिया जाये तो उसमें जिसप्रकार अत्यन्त निर्मलता होती है; उसीप्रकार आत्मा में कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है, वह **क्षय** है।

कर्मक्षय के लिए जो भाव होते हैं, वे क्षायिक भाव हैं।

३. जिसप्रकार कोदों को धोने से कुछ कोदों की मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण रहती है; उसीप्रकार परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एकदेश का **क्षय** और एकदेश का **उपशम** होना, **मिश्र** भाव है।

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ५६ की समयव्याख्या टीका का हिन्दी अनुवाद

इस क्षयोपशम के लिए जो भाव होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

४. द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के निमित्त से कर्मों का फल देना **उदय** है।

उदयनिमित्तक भावों को औदयिक भाव कहते हैं।

५. जो भाव कर्मों के उपशमादिक की अपेक्षा न रखकर द्रव्य के निजस्वरूप मात्र से होते हैं, उन्हें **पारिणामिक** भाव कहते हैं।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि आरंभ के चार भाव कर्मोपाधि सापेक्ष हैं और अन्तिम पाँचवाँ पारिणामिक भाव पूर्णत: कर्मोपाधि निरपेक्ष है।

औपशमिक भाव, क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और औदयिक भाव ह्न ये चार भाव पर्यायरूप भाव हैं और पारिणामिक भाव द्रव्यरूप भाव हैं।

यद्यपि **क्षयोपशम** पद क्षय+उपशम=क्षयोपशम ह्न इसप्रकार बना है। अत: इसमें क्षय और उपशम ही दिखाई देते हैं; तथापि वस्तुस्थिति यह है कि क्षयोपशम भाव में न तो असली क्षय है और न असली उपशम तथा इसमें उदय भी शामिल है ही।

मूलत: क्षायोपशमिक भाव की परिभाषा इसप्रकार है ह्न

''वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय (उदय के अभावरूप क्षय) और भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर आत्मा में जो भाव होता है; उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[2]''

इसप्रकार क्षायोपशमिक भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का **उदयाभावी क्षय**, भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का **सदवस्थारूप उपशम** और देशघाति स्पर्धकों के **उदय** का मिश्रण है।

कुछ लोग समझते हैं कि यह क्षायोपशमिक भाव; औपशमिक

१. तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र के वार्तिक/भाष्य के संबंधित अंश का भावानुवाद
२. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय २, सूत्र ५

भाव से अच्छा होगा; क्योंकि इसमें उपशम के साथ क्षय भी शामिल है; पर ऐसा नहीं है।

ध्यान से देखो कि क्षायोपशमिक भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का पूर्णत: क्षय नहीं है, मात्र उनका वर्तमान में **उदय के अभावरूप क्षय है;** क्योंकि वे स्पर्धक अभी सत्ता में विद्यमान हैं। इसीप्रकार उनका पूर्णत: उपशम भी नहीं हुआ है, अपितु उन सर्वघाति स्पर्धकों के **आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम है,** उसी स्थिति में ठहर जाने रूप उपशम हुआ है और **देशघाति स्पर्धकों का तो उदय है ही**। इसप्रकार **यह क्षायोपशमिक भाव; क्षय, उपशम और उदय ह्न इन तीन का मिश्रण है।**

यद्यपि **क्षयोपशम** पद में **क्षय** पद विद्यमान है; तथापि क्षायोपशमिक भाव में सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय (पूर्णत: अभाव) नहीं हुआ है, **वर्तमान में उदय के अभावरूप क्षय हुआ है; अभी उनकी सत्ता है, परन्तु वर्तमान में सर्वघातिरूप से उदय नहीं है ह्न देशघातिरूप होकर उदय में आ रहे हैं।**

सभी लोग यह बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि जिन कर्मों का क्षय हो जाता है, उनका अस्तित्व ही नहीं रहता; पर **क्षयोपशम भाव में उदयाभावी क्षय होने पर भी उक्त कर्म का सत्ता में अस्तित्व बना रहता है, मात्र तत्समय में सर्वघाति स्पर्धकों का उदय के अभावरूप क्षय होता है। यह नाम मात्र का क्षय है; वस्तुत: यह क्षय है ही नहीं।**

इसीप्रकार उपशम भी आगामी काल में उदय में आनेवाले सर्वघाति स्पर्धकों का होता है।

वह भी असली उपशम नहीं, सदवस्थारूप उपशम है; पर **देशघाति स्पर्धकों का उदय वास्तविक है।**

इसप्रकार तत्संबंधी कर्मों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उन्हीं के आगामी स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो भाव होते हैं; उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

जब इस क्षायोपशमिक भाव को सम्यग्दर्शन पर घटित करते हैं तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप इसप्रकार होता है ह्न

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान,

माया और लोभ इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, इन्हीं छह प्रकृतियों के आगामी निषेकों का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय रहते श्रद्धागुण की जो निर्मल अवस्था होती है; उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इसीप्रकार अठारह क्षायोपशमिक भावों पर घटित करना होगा।

सभी क्षायोपशमिक भावों को घटित करने के लिए प्रत्येक घातिकर्म के सर्वघाति स्पर्धक व देशघाति स्पर्धकों को जानना आवश्यक है।

सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ का अनुवाद व संपादन करते हुए इस सूत्र की टीका के अनुवाद में विशेषार्थ लिखते हुए पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री लिखते हैं ह्न

''पाँच भावों में प्रारम्भ के चार भाव निमित्त की प्रधानता से कहे गये हैं और अन्तिम भाव योग्यता (उपादान) की प्रधानता से।

जग में जितने कार्य होते हैं, उनका विभागीकरण इसी हिसाब से किया जाता है। कहीं निमित्त को प्रमुखता दी जाती है और कहीं योग्यता (उपादान) को; पर इससे **अन्य वस्तु का कर्तृत्व अन्य में मानना उचित नहीं।**

ऐसे विभागीकरण को दिखलाने का इतना ही प्रयोजन है कि जहाँ जिस कार्य का जो सुनिश्चित निमित्त हो, उसका परिज्ञान हो जावे।

यों तो कार्य अपनी योग्यता (उपादान) से होता है; किन्तु जिसका जिसके होने के साथ सुनिश्चित अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, वह उसका सुनिश्चित निमित्त कहा जाता है।

इस हिसाब से विचार करने पर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार नैमित्तिक भाव कहलाते हैं।[१]''

इन पाँचों भावों के संदर्भ में विशेष विचार आगामी पाँच सूत्रों में यथास्थान होगा ही; अत: यहाँ विशेष विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।।१-२।।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ १०८

औपशमिक भाव

दो प्रकार के औपशमिक भाव इसप्रकार हैं ह्न

सम्यक्त्वचारित्रे।।३।।

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ह्न ये दो भेद औपशमिक भाव के हैं।

उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है; शेष सात कर्मों का उपशम नहीं होता; इसलिए औपशमिक भाव भी मात्र दो प्रकार का ही होता है।

दर्शनमोहनीय में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति तथा चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ ह्न इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

इसप्रकार औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र के भेद से औपशमिक भाव दो प्रकार का होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि और कभी-कभी सादि मिथ्यादृष्टि के भी मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ ह्न इन पाँच प्रकृतियों के उपशम से भी औपशमिक सम्यक्त्व होता है; क्योंकि जिनके यह सम्यग्दर्शन होता है, उनके सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व नामक प्रकृति की सत्ता ही नहीं होती।

यह तो सर्वविदित ही है कि करणलब्धि के उपरान्त मिथ्यात्व प्रकृति के टुकड़े होने पर ही इन प्रकृतियों का जन्म होता है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यक्चारित्र घटित होता है; इसलिए सूत्र में सम्यक्त्व पद पहले रखा गया है और चारित्र पद बाद में रखा गया है।

ये दोनों प्रकार के औपशमिक भाव ज्ञानी धर्मात्मा के ही होते हैं और इनका काल भी मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है; इसकारण **औपशमिक भाव वाले जीवों की संख्या सबसे कम होती है। यही कारण है कि उक्त पाँच भावों में औपशमिक भाव का उल्लेख आरंभ में किया गया है।।३।।**

क्षायिक भाव

नौ प्रकार के क्षायिक भाव इसप्रकार हैं ह्न

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।।४।।

क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य ह्न ये सात तथा च शब्द से ग्रहण करने योग्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ह्न ये दो ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर नौ भेद क्षायिकभाव के हैं।

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि तीसरे सूत्र में कहे गये सम्यक्त्व और चारित्र तथा ज्ञान, दर्शन, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य ये नौ भाव क्षायिक भाव हैं। **ये क्षायिक भाव पर्यायदृष्टि से सबसे महान हैं, प्राप्त करने योग्य हैं; प्राप्त करने की अपेक्षा से पूर्णत: उपादेय हैं।**

इन क्षायिक भावों का स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसी सूत्र की व्याख्या में आचार्य अकलंकदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''समग्र ज्ञानावरण के क्षय से **केवलज्ञान** और समग्र दर्शनावरण के क्षय से **केवलदर्शन क्षायिक होते हैं।**

समस्त दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों को अभय और अहिंसा का उपदेशरूप **अनन्त दान क्षायिक दान है।**

सम्पूर्ण लाभान्तराय का अत्यन्त क्षय होने पर कवलाहार न करनेवाले केवली को शरीर की स्थिति में कारणभूत परम शुभ दिव्य अनन्त पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में संबंधित होना **क्षायिक लाभ** है।

अत: 'कवलाहार के बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीर की स्थिति कैसे रह सकती है ?' यह शंका निराधार हो जाती है।

संपूर्ण भोगान्तराय के नाश से उत्पन्न होनेवाले सातिशय भोग क्षायिक भोग है। **इसी से पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि, पदकमलरचना, सुगंधित शीत वायु आदि अतिशय होते हैं।**

समस्त उपभोगान्तराय के नाश से उत्पन्न होनेवाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसी से सिंहासन, छत्रत्रय, चमर, अशोक वृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, देवदुन्दुभि आदि होते हैं। समस्त वीर्यान्तराय के अत्यन्त क्षय से प्रकट होनेवाला अनन्त क्षायिक वीर्य है।

दर्शनमोह के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहनीय के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है।

प्रश्न ह्न दानान्तराय आदि के क्षय से प्रकट होनेवाली दानादि लब्धियों के अभयदान आदि कार्य सिद्धों में भी होने चाहिए।

उत्तर ह्न नहीं; क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिए शरीर नामकर्म और तीर्थंकर प्रकृति के उदय की भी अपेक्षा है। सिद्धों में ये लब्धियाँ अव्याबाध अनन्त सुखरूप से रहती हैं। जैसे कि केवलज्ञानरूप में अनन्तवीर्य।''

इसीप्रकार का भाव आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि शास्त्र में भी व्यक्त किया गया है।

ये सभी क्षायिक भाव एक बार उत्पन्न होने के बाद अनन्तकाल तक रहते हैं; इनका अभाव कभी भी नहीं होता।

यद्यपि ये भाव पर्यायरूप हैं; अत: प्रतिसमय बदलना इनका सहज स्वभाव है; इसलिए इनकी स्थिति भी एक समय की ही है; तथापि ये सन्तति की दृष्टि से अनन्तकाल तक एक से ही रहते हैं।

औपशमिकभाववालों से अधिक संख्या क्षायिक भाववालों की होती है; इसकारण क्षायिकभाव का उल्लेख औपशमिक भाव के तत्काल बाद किया गया है। क्षायिक भाववालों में सभी अरहंत व सिद्ध तथा क्षपकश्रेणीवाले तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव आते हैं।

ये औपशमिक और क्षायिक भाव; सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों के ही होते हैं; ये भाव धर्मभाव हैं; इसलिए भी इन्हें सबसे पहले रखा गया है।।४।।

क्षायोपशमिक भाव

अठारह प्रकार के क्षायोपशमिक भाव इसप्रकार हैं ह्न

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा: सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च ।।५।।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ह्न ये अठारह क्षायोपशमिक भाव हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ह्न ये चार ज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ह्न ये तीन अज्ञान हैं; तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ह्न ये तीन दर्शन हैं; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ह्न ये पाँच लब्धियाँ हैं।

४ ज्ञान, ३ अज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धियाँ ह्न इसप्रकार ४+३+३+५=१५ और सम्यक्त्व, चारित्र व संयमासंयम ह्न इसप्रकार १८ भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं।

चार प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान, तीन प्रकार के अज्ञान व तीन प्रकार के दर्शन की परिभाषा प्रथम अध्याय में स्पष्ट की जा चुकी है।

पाँच लब्धियों की चर्चा क्षायिक भाव के प्रकरण में हुई है। इतना अन्तर समझना चाहिए कि क्षायिक भाव में अन्तराय के क्षय से होनेवाली लब्धियाँ हैं और यहाँ क्षायोपशमिक भाव के प्रकरण में अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाली लब्धियों की बात है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप इसी अध्याय के पहले-दूसरे सूत्र की व्याख्या में आ गया है।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण ह्न इन बारह कषाय कर्मों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलनों में से किसी एक प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर नौ नोकषायों का यथासंभव उदय होने पर जो संसार

से पूरी निवृत्तिरूप परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक चारित्र है। यह चारित्र छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के होता है।

अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण ह्न इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय होने पर नौ नोकषायों के यथासंभव उदय होने पर जो विरताविरतरूप परिणाम होता है, वह **संयमासंयम** कहलाता है।

यह संयमासंयम पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकों के होता है।[1]

ये अठारह प्रकार के भाव ज्ञानी-अज्ञानी ह्न सभी छद्मस्थ जीवों के होते हैं। इसका आशय यह नहीं है कि सभी भाव सभी छद्मस्थों के होते हैं।

तात्पर्य यह है कि **मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान ज्ञानियों के होते हैं और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि अज्ञानियों के होते हैं।**

इसीप्रकार अन्य भावों के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानी-अज्ञानी सभी छद्मस्थों के होने से क्षयोपशम भाववालों की संख्या क्षायिक भाववालों से अधिक है। इसलिए इसे सूत्र में तीसरा स्थान प्राप्त हुआ है।

इनसे भी अधिक संख्या औदयिक भाववालों की है; क्योंकि वे चौदह गुणस्थानवाले सभी संसारी जीवों के पाये जाते हैं।

इसलिए औदयिक भाववालों को चौथा स्थान प्राप्त हुआ है।

पारिणामिक भाव सभी जीवों के होने के कारण सर्वाधिक संख्या वाला है; अत: उसे पंचम स्थान प्राप्त हुआ है, अन्तिम स्थान प्राप्त हुआ है।

इसप्रकार पहले सूत्र के क्रम में पाँचों भावों को जो स्थान प्राप्त हुआ है, उसमें संख्या की न्यूनाधिकता एक मुख्य कारण है।।५।।

१. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय २, सूत्र ५ की टीका, पृष्ठ ११३

औदयिक भाव

इक्कीस औदयिक भावों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं ह्र

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या–श्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकैकषड्भेदाः ।।६।।

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्यायें ह्र ये इक्कीस भाव औदयिक भाव हैं।

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति व देवगति ह्र ये चार गतियाँ; क्रोध, मान, माया, लोभ ह्र ये चार कषायें; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग ह्र ये तीन लिंग; मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल ह्र ये छह लेश्यायें ह्र इसप्रकार इक्कीस प्रकार के ये औदयिकभाव हैं।

इन २१ औदयिक भावों का सामान्य स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्र

''जिस कर्म के उदय से आत्मा नारक आदि भावों को प्राप्त हो, वह **गति** है।

कषाय नामक चारित्रमोह के उदय से होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है। यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कष् देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है।

द्रव्य और भाव के भेद से लिंग दो प्रकार का है। चूँकि **आत्म भावों का प्रकरण है, अतः नामकर्म के उदय से होनेवाले द्रव्यलिंग की यहाँ विवक्षा नहीं है।** स्त्रीवेद के उदय से होनेवाला पुरुषाभिलाषारूप भाव **स्त्रीवेद** है, पुरुषवेद के उदय से होनेवाला स्त्री–अभिलाषारूप भाव **पुरुषवेद** और नपुंसकवेद के उदय से होनेवाला उभयाभिलाषारूप भाव **नपुंसकवेद** है।

दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ में अरुचि या अश्रद्धानरूप भाव **मिथ्यात्व** कहलाता है।

जिसप्रकार प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाता है; उसीतरह ज्ञानावरण के उदय से ज्ञानस्वरूप आत्मा के ज्ञान गुण की अनभिव्यक्तिरूप भाव **अज्ञान** है।

चारित्रमोह के उदय से होनेवाली हिंसादि और इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्तिरूप भाव **असंयम** है।

अनादि से कर्मबद्ध आत्मा के सामान्यतः सभी कर्मों के उदय से **असिद्ध पर्याय** होती है।

कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप भाव **भावलेश्या** है।

द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है; अतः आत्म भावों के प्रकरण में उसका ग्रहण नहीं किया है।

यद्यपि योगप्रवृत्ति, आत्मप्रदेशों की परिस्पन्दरूप होने से क्षायोपशमिक वीर्यलब्धि में अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिकी होती है फिर भी कषायोदय के तीव्र–मन्द आदि तारतम्य से अनुरंजित प्रवृत्तिरूप लेश्या पृथक् ही है।

यद्यपि उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानों में कषाय का उदय नहीं है, फिर भी वहाँ भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा शुक्ल लेश्या उपचार से कही है।

मिथ्यादर्शन में दर्शनावरण के उदय से होनेवाले अदर्शन का अन्तर्भाव हो जाता है। यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप भाव है, फिर भी अदर्शन सामान्य में दर्शनाभावरूप से दोनों प्रकार के दर्शनों का अभाव ले लिया जाता है।[1]''

ये २१ औदयिक भाव त्यागने योग्य हैं।।६।।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, हिन्दी सार, पृष्ठ ३४२–३४३

> वस्तुतः कार्य तो उपादान की पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही सम्पन्न होता है; निमित्त की तो मात्र अनुकूलता के रूप से उपस्थिति ही रहती है।
>
> **ह्र निमित्तोपादान, पृष्ठ–२८**

पारिणामिक भाव

पारिणामिक भावों के भेद क्रमश: इसप्रकार हैं ह्न

जीवभव्याभव्यत्वानि च ।।७।।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ह्न ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

इन भावों का स्वरूप तत्त्वार्थवार्तिक में इसप्रकार स्पष्ट किया गया हैह्न

''कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखनेवाले; मात्र द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिकी शक्ति से ही आविर्भूत ये भाव, पारिणामिक हैं।

जीवद्रव्य का निज परिणाम ही जीवत्व है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रकट होगी, वह भव्य है और जिसके प्रकट न होगी वह अभव्य। द्रव्य की शक्ति से ही यह भेद है। **उस भव्य को, जो अनन्त काल में भी सिद्ध नहीं होगा, अभव्य नहीं कह सकते; क्योंकि उसमें भव्यत्वशक्ति है।**[१]''

इसप्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ह्न ये तीन भाव पारिणामिक भाव हैं।।७।।

पाँच भावों के संदर्भ में सामान्य जानकारी

इसप्रकार २+९+१८+२१+३=५३ ह्न **ये त्रेपन प्रकार के भाव जीव के स्वतत्त्व हैं, असाधारण भाव हैं; जो मात्र जीवों में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं।**

अघातिया कर्मों का न तो उपशम होता है और न क्षयोपशम। उनकी तो मात्र दो दशायें होती हैं या तो उनका उदय होता है या क्षय।

घातिया कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्मों की अनादि से क्षयोपशम अवस्था होती है और उनका क्षायोपशमिक भाव

१. तत्त्वार्थवार्तिक, हिन्दी सार, पृष्ठ ३४३

पाया जाता है। इन तीन कर्मों के देशघाति स्पर्धकों के उदय से औदयिक भाव भी पाया जाता है। इन तीनों कर्मों का क्षय होने पर क्षायिक भाव पाया जाता है।

एक मात्र मोहनीय कर्म ऐसा है कि जिसकी चार दशायें होती हैं ह्न उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय। इसलिए मोहनीय कर्म के निमित्त से चार प्रकार के भाव होते हैं ह्न औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव।

पारिणामिकभाव किसी कर्म के निमित्त से नहीं होते। वे तो आत्मा के स्वभावभाव हैं। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं ह्न **उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है; क्षयोपशम चार घातिया कर्मों का होता है, क्षय और उदय आठों कर्मों का होता है।**

१. औपशमिक भाव सादि-सान्त हैं।
२. क्षायिक भाव सादि-अनंत हैं।
३. क्षायोपशमिक भाव भव्यजीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त हैं, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, संयमासंयम और क्षायोपशमिक चारित्र सादि-सांत हैं और अभव्यजीवों की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव अनादि-अनन्त हैं।
४. औदयिक भाव भी भव्यजीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त हैं और अभव्यजीवों की अपेक्षा अनादि-अनंत हैं।
५. **पारिणामिक भाव अनादि-अनंत हैं।**

औपशमिक भाव प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय हैं, क्षायिक भाव प्रगट करने की अपेक्षा सकलदेश उपादेय हैं।

अज्ञानी के क्षायोपशमिक भाव हेय हैं और ज्ञानी के एकदेश उपादेय हैं। औदयिक भाव पूर्णत: हेय हैं तथा भव्यत्व-अभव्यत्वरूप पारिणामिक भाव ज्ञेय हैं और जीवत्वरूप अपना परमपारिणामिक भाव श्रद्धेय हैं, परमज्ञेय हैं और ध्येय हैं।

मैं परमपारिणामिकभावरूप ही हूँ ह्न इसी भाव के आश्रय से धर्म होता है।

जब यह आत्मा स्वयं के जीवत्वरूप परमपारिणामिक भाव को जानता है, पहिचानता है, उसमें अपनापन स्थापित करता है, उसका श्रद्धान करता है और सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसी में जम जाता है, रम जाता है, समा जाता है, उसी के ध्यान में मग्न हो जाता है; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमित होता है; औपशमिक, क्षायिक और सम्यक् क्षायोपशमिक भावरूप परिणमता है तो सम्पूर्ण औदयिक भावों का अभाव कर देता है, संसार से मुक्त हो जाता है, सिद्धदशारूप परिणमित होकर अनन्तकाल तक अनन्त सुख का उपभोग करता है।

उक्त ५२ भावों के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकट नहीं होते। एकमात्र परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही रत्नत्रयरूप धर्म प्रगट होता है। **अत: एक मात्र आश्रय करने योग्य परम उपादेय यही ५३वाँ भाव है।**

हम कह सकते हैं कि ह्न

१. पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव नहीं है।
२. औदयिक भाव के बिना कोई संसारी जीव नहीं है।
३. क्षायोपशमिक भाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं है।
४. क्षायिक भाव के बिना क्षायिक समकिती, क्षायिक चारित्रवंत और अरहंत तथा सिद्ध नहीं हैं।
५. औपशमिकभाव के बिना कोई धर्म का आरंभ करनेवाला नहीं है।

वस्तुत: निश्चय से स्वतत्त्व तो परमपारिणामिकभाव ही है; शेष ५२ भाव व्यवहार से स्वतत्त्व हैं।

अत: जिन भव्यजीवों को अनन्तकाल तक के लिए अनन्त सुखरूप परिणमित होना है, अनन्त सुखी होना है, मुक्त दशा प्राप्त करना है, मोक्ष में जाना है; **वे भव्यजीव परमपारिणामिक भावरूप निज भगवान आत्मा का आश्रय करें, उसी को जाने, निजरूप जाने, निजरूप माने, उसी में अपनापन स्थापित करे, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये और अनन्तकाल तक अनन्तसुख का उपभोग करें।**

जीवतत्त्वार्थ का लक्षण

जीव तत्त्वार्थ की चर्चा चल रही है। जीव के ५३ असाधारण भावों की चर्चा के उपरान्त **अब आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए जीवतत्त्वार्थ के लक्षण पर विचार करते हैं।**

जीव के लक्षण के संदर्भ में दो सूत्र प्राप्त होते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

उपयोगो लक्षणम् ।।८।।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।।९।।

चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का लक्षण है।

वह उपयोग दो प्रकार का है ह्न ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल ह्न ये पाँच ज्ञान (सम्यग्ज्ञान)और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ह्न ये तीन अज्ञान (मिथ्याज्ञान) इसप्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है।

इसीप्रकार चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ह्न ये चार दर्शन दर्शनोपयोग के प्रकार हैं।

चक्षु इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह **चक्षुदर्शन** है। चक्षु को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियों और मन से होनेवाले ज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह **अचक्षुदर्शन** है। अवधिज्ञान के पहले जो दर्शन होता है, वह **अवधिदर्शन** है और केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है, वह **केवलदर्शन** है।

ध्यान रहे चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन तो ज्ञान होने के पहले होते हैं, पर केवलदर्शन केवलज्ञान के साथ ही होता है।

इसी बात को द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार व्यक्त किया गया है ह्न

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ।।६।।

व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा गया है।

शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान-दर्शन जीव के लक्षण कहे हैं।

इस गाथा के अर्थ में ब्रह्मदेव द्वारा रचित संस्कृत टीका में कहा गया है कि **यहाँ सामान्य शब्द का अर्थ विवक्षा का अभाव है।**

तात्पर्य यह है कि यहाँ सम्यक्-मिथ्या का भेद नहीं है, संसारी-मुक्त का भेद नहीं है।

सम्यक्-मिथ्या के भेद बिना सामान्य उपयोग सभी जीवों का लक्षण है, चाहे वे संसारी जीव हों या मुक्त जीव हों, चाहे ज्ञानी हों, चाहे अज्ञानी हों। इस लक्षण में निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीव समाहित हैं।

ध्यान रहे ज्ञानोपयोग में तो सम्यक्-मिथ्या के भेद होते हैं; पर दर्शनोपयोग में सम्यक्-मिथ्या का भेद नहीं होता; क्योंकि दर्शनोपयोग निराकार है। कहा भी गया है कि **निराकारं दर्शनं, साकारं ज्ञानं ह्न** दर्शनोपयोग निराकार होता है, निर्विकल्प होता है और ज्ञानोपयोग साकार अर्थात् सविकल्प होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में मात्र उपयोग को जीव का लक्षण कहा और फिर उसके बाद अगले सूत्र में उपयोग के भेद गिनाये। कहा है कि वह उपयोग दो प्रकार का है तथा उक्त दो प्रकारों में पहले के आठ भेद हैं और दूसरे के चार भेद हैं।

पहला कौन और दूसरा कौन ? इसप्रकार का प्रश्न होने पर सूत्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि जिसके आठ भेद हैं, वह पहला कहा और जिसके चार भेद हैं, वह दूसरा है। तात्पर्य यह है कि **आठ भेदवाला ज्ञानोपयोग पहला और चार भेदवाला दर्शनोपयोग दूसरा है।**

जबकि द्रव्यसंग्रह में सीधा ही कह दिया कि आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन सामान्य से जीव का लक्षण है ह्न यह व्यवहारनय का कथन है; परन्तु **शुद्धनय से शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञान जीव का लक्षण है।**

बृहद्द्रव्यसंग्रह में ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका में उक्त नय विवक्षा को विस्तार से स्पष्ट किया है, जिन्हें विशेष जानने की इच्छा हो, वे वहाँ से देखें।

यद्यपि द्रव्यसंग्रह और उसकी टीका में सारी विवक्षायें स्पष्ट की हैं; तथापि तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा है; उसमें उन्होंने कोई नयविवक्षा नहीं लगाई और अगले सूत्र में उपयोग के भेद-प्रभेद गिनाकर यह स्पष्ट कर दिया कि उक्त आठों प्रकार के ज्ञानों और चार प्रकार के दर्शनों में कोई भी ज्ञान या दर्शन क्यों न हो, जिसमें एक भी ज्ञान-दर्शन है, वह जीव है।

यहाँ जीव शब्द में सामान्य से सभी जीव आ गये और उपयोग शब्द में सभी उपयोग आ गये।

जीव होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसे आठ ज्ञानों में कौन सा ज्ञान हो और चार दर्शनों में कौन सा दर्शन हो। यह बताने के लिए ही यह कहा है कि **सामान्य ज्ञान और सामान्य दर्शन जीव का लक्षण है।**

जो विवक्षित वस्तु को अन्य वस्तुओं से जुदा करे, उसे लक्षण कहते हैं।

लक्षण दो प्रकार के होते हैं ह्न आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण। उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है; क्योंकि उष्णता अग्नि से कभी पृथक् नहीं होती। दण्डेवाले पुरुष को दण्डी कहते हैं। दण्डी पुरुष का दण्डा लक्षण अनात्मभूत है; वह उससे कभी भी पृथक् हो सकता है। यह अनात्मभूत लक्षण मात्र तत्काल का प्रयोजन सिद्ध करता है; **आत्मभूत लक्षण सदा काम आता है।**

उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है; वह जीव की सदाकाल रहनेवाली पहिचान है। वह जीव में सदाकाल तो रहता ही है; साथ ही अन्य अजीव वस्तुओं में नहीं पाया जाता। अत: वह पूर्णत: निर्दोष लक्षण है; क्योंकि इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव ह्न इनमें से कोई भी दोष नहीं है।

सच्चे लक्षण के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह लक्ष्य में व्याप्त हो, अलक्ष्य में न हो और वह लक्ष्य में संभव हो, असंभव न हो।

जीव का उपयोग लक्षण लक्ष्य में व्याप्त है, अलक्ष्य में नहीं है और लक्ष्य जीव में उसकी संभावना पूरी तरह है।

उपयोग सभी जीवों में प्राप्त होता है; अत: अव्याप्ति दोष से रहित है, जीवों के अतिरिक्त अजीवों में नहीं पाया जाता; अत: यह अतिव्याप्ति दोष से रहित है और सभी जीवों में उपयोग होता ही है; अत: असंभव दोष से भी दूषित नहीं है।

प्रश्न ह्न स्वरूप और लक्षण में क्या अन्तर है ?

उत्तर ह्न प्रत्येक पदार्थ के गुण और पर्यायें, उसका स्वरूप हैं और जिससे पदार्थों की पहिचान की जा सके, उसे लक्षण कहते हैं।

इस उपयोग लक्षण से जीव को जानकर-पहचान कर, निजात्मारूप जीव में अपनापन स्थापित कर, उसमें ही समाहित हो जाना, उसमें ही रत हो जाना धर्म है, अतीन्द्रिय सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।।८-९।।

> आत्मानुभूति प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षों का अवलम्बन करनेवाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।
>
> **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१५**

जीवतत्त्वार्थ के भेद-प्रभेद

जीव तत्त्वार्थ को जानने के लिए उपयोग को जीव का लक्षण बताया और फिर उपयोग के भेद-प्रभेद समझाये।

अब उपयोग लक्षण से लक्षित उपयोगवान **जीवों के भेद-प्रभेद बतलाते हैं;** जो इसप्रकार हैं ह्न

संसारिणो मुक्ताश्च ।।१०।।

समनस्काऽमनस्काः ।।११।।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।।१२।।

जीव दो प्रकार के हैं ह्न संसारी और मुक्त।

उनमें से संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं ह्न समनस्क और अमनस्क।

सैनी-असैनी के साथ-साथ संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से भी दो प्रकार के होते हैं।

उपयोग लक्षण से लक्षित पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीव **संसारी** हैं और गुणस्थानों से पार सिद्ध जीवों को **मुक्त** जीव कहते हैं।

अब यहाँ संसारी जीवों के भेद बताते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

मन सहित जीवों को समनस्क और मन रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं। समनस्क जीवों को संज्ञी और सैनी तथा अमनस्क जीवों को असंज्ञी और असैनी भी कहते हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के सभी जीव और असैनी पंचेन्द्रिय जीव **असंज्ञी** हैं, **अमनस्क** हैं तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीव **संज्ञी या समनस्क** होते हैं।

एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव नियम से **तिर्यंच** ही होते हैं और **सैनी पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं।**

सैनी-असैनी और त्रस-स्थावर ह्न ये सभी भेद संसारी जीवों के हैं ह्न यह बताने के लिए ही दोनों के बीच में **संसारिण:** पद डाला गया है।

यह **देहरी के दीपक** जैसा प्रयोग है। जिसप्रकार देहरी पर रखा गया दीपक कमरे में भी उजेला करता है और आँगन में भी।

उसीप्रकार यह **संसारिण:** पद भी देहरी का दीपक है। यह सैनी-असैनी पर भी लगता है और त्रस-स्थावर पर भी।

इसे मध्य दीपक भी कहते हैं।

यदि ऐसा नहीं करते तो क्रमानुसार संबंधी नियम के अनुसार यह भी समझा जा सकता था कि सैनी-असैनी ये भेद तो संसारी जीवों के हैं और त्रस-स्थावर भेद मुक्त जीवों के हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि हमारा हित तो स्वजीव को जानने में ही है; क्योंकि हमे उसमें अपनापन स्थापित करना है, उसका ध्यान करना है, उसका ध्यान रखना है।

हमें इन त्रस-स्थावर और संज्ञी-असंज्ञी जीवों के जानने में क्यों उलझाते हो ?

उत्तर ह्न अरे, भाई ! हम तुम्हें उलझाते नहीं हैं; हम तो इस संसार में फंसे जीवों को सुलझाने का मार्ग सुझाते हैं।

संसारी जीवों के इन प्रकारों को समझाने का एक प्रयोजन तो यह है कि ये भी जीव हैं; इन्हें भी हम-तुम जैसी सुख-दु:ख की अनुभूति होती है, सुख-दु:ख का अनुभव होता है। **हमें इनसे जीवों जैसा ही व्यवहार करना चाहिए। हमारे हृदय में इनके प्रति करुणाभाव रहे ह्न इसमें इनके जीवत्व का ज्ञान करना आवश्यक है।**

दूसरे हम भी भूतकाल में इन अवस्थाओं में रहे हैं; यदि अभी नहीं संभले तो भविष्य में भी **अनन्तकाल तक इन पर्यायों में बिताना होगा, भटकना होगा ।।११-१२।।**

> भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या, वरमाला डालती है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२०२**

स्थावर जीवों के भेद

विगत सूत्र में संसारी जीवों के त्रस और स्थावर ह्न इसप्रकार के दो भेद बताये हैं; अत: अब यहाँ उन दोनों के बारे में समझाते हैं।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: ।।१३।।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसा: ।।१४।।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ह्न ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं, एकेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को ही स्थावर जीव कहते हैं।

दो इन्द्रिय आदि जीव त्रस जीव हैं।

ये पृथिवी आदि पाँचों स्थावर जीवों के आगम में चार-चार प्रकार बताये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न **पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव।**

१. जो स्वयं से ही बनी हुई अचेतन जमीन है, उसे **पृथिवी** कहते हैं।

२. जिस पृथिवी में से जीव निकल गया हो, उसे **पृथिवीकाय** कहते हैं।

३. जीव सहित पृथिवी को **पृथिवीकायिक** कहते हैं।

४. जो जीव पहले शरीर को छोड़कर पृथिवीकाय में जन्म लेने के लिए जा रहा है, जब तक वह पृथिवी को अपने शरीररूप से ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक उस जीव को **पृथिवी जीव** कहते हैं।

यहाँ जिसप्रकार चार भेदों को पृथिवी पर घटित किया है; उसीप्रकार वनस्पति पर भी घटित करते हैं।

१. जो निर्जीव वनस्पति है, वह **वनस्पति**। जैसे लकड़ी और लकड़ी से बनी हुई वस्तुएँ।

२. जिस वनस्पति में से अभी-अभी आज ही जीव निकला है, वह **वनस्पतिकाय** है।

३. जिस वनस्पति में अभी भी जीव विद्यमान है, उसे **वनस्पति कायिक** कहते हैं।

४. उक्त तीनों प्रकारों को सामान्य रीति से वनस्पति भी कह देते हैं। जो जीव पहले शरीर को छोड़कर वनस्पतिकाय में जन्म लेने जा रहा है; जबतक वह वनस्पति को अपने शरीर के रूप में ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक वह जीव **वनस्पति जीव** है।

यह जान लेने का लाभ यह है कि असल में सजीव वनस्पति तो वनस्पतिकायिक ही है; अतः अहिंसाव्रत की दृष्टि से एकमात्र यही अभक्ष्य है।

इसीप्रकार अप् (जल), तेज और वायु के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं चारों गतियों के पंचेन्द्रिय जीव ह्न ये सभी त्रस जीव हैं।

ध्यान रहे, दो इन्द्रिय से अरहंत भगवान तक, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान तक, जबतक कि वे सिद्ध नहीं हो जाते; तबतक सभी संसारी जीव, त्रस जीव हैं।

जब हम यह कहते हैं कि अरहंत भी संसारी जीव है तो लोगों को बहुत आश्चर्य लगता है कि अरहंत भी संसारी?

अरे, भाई ! जब हमने समस्त जीवों को दो भागों में बांटा है और एक भाग में सिद्धों को रखा है तो दूसरे भाग में संसार के शेष सभी जीव सहज संसारी जीवों में ही आ गये। इसमें अधिक सोचने की बात ही क्या है? ।।१३-१४।।

> शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है। **ह्न सारसमयसार, पृष्ठ-१२**

पाँच इन्द्रियाँ और उनके भेद-प्रभेद

त्रस जीवों की परिभाषा में दो इन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा गया है तो सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि **इन्द्रियाँ कितनी होती हैं, उनका क्या स्वरूप है ?**

उक्त प्रश्नों का उत्तर आगामी सूत्रों में दिया जा रहा है; जो इसप्रकार है ह्न

पञ्चेन्द्रियाणि ।।१५।।

द्विविधानि ।।१६।।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।१७।।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।१८।।

इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

वे पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं ह्न द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ।

द्रव्येन्द्रियाँ निर्वृत्ति और उपकरणरूप हैं।

भावेन्द्रियाँ लब्धि और उपयोगरूप हैं।

इन्द्रियों के नाम तो आगे सूत्र द्वारा पृथक् से बताये जायेंगे। यहाँ तो बस इतना बताना इष्ट है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं, कम-ज्यादा नहीं।

संसारी जीव की पहिचान के चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं।

जैनेतर दर्शनों में वचन, हाथ, पैर, गुदा और लिंग को भी इन्द्रिय कहा जाता है। परन्तु ये कर्मेन्द्रियाँ हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं; चूंकि **यहाँ ज्ञान का प्रकरण है; अतः यहाँ इन्द्रियों के रूप में ज्ञानेन्द्रियों को ही लिया है,** कर्मेन्द्रियों को नहीं।

उक्त पाँच इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की होती हैं।

तात्पर्य यह है कि इन द्रव्य और भाव के भेदों को पाँचों इन्द्रियों पर घटित करना चाहिए। जैसे ह्न द्रव्य स्पर्शन इन्द्रिय और भाव स्पर्शन इन्द्रिय, द्रव्य रसना इन्द्रिय और भाव रसना इन्द्रिय, द्रव्य घ्राण इन्द्रिय और भाव घ्राण इन्द्रिय, द्रव्य चक्षु इन्द्रिय और भाव चक्षु इन्द्रिय तथा द्रव्य श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय और भाव श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय।

इन्द्रियाकार पुद्गल और आत्मप्रदेशों की रचना द्रव्येन्द्रियाँ हैं तथा क्षयोपशम विशेष से होनेवाला आत्मा का ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम भावेन्द्रियाँ हैं।

नामकर्म से जिसकी रचना हो, उसे निर्वृत्ति कहते हैं। बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति के भेद से निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है।

आत्मप्रदेशों की चक्षु आदि इन्द्रिय के आकाररूप रचना **आभ्यन्तर निर्वृत्ति** है और शरीर पुद्गलों की इन्द्रियों के आकाररूप रचना होना **बाह्य निर्वृत्ति** है।

जो निर्वृत्ति का उपकार करे, वह उपकरण है।

वह उपकरण भी निर्वृत्ति के समान दो प्रकार का होता है ह्न **आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण।**

जिसप्रकार चक्षु इन्द्रिय में जो काला व सफेद मण्डल (गटा) है; वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं।

इसीप्रकार अन्य इन्द्रियों पर भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं और लब्धि के अनुसार **आत्मा का जो जाननेरूप परिणमन होता है, उसे उपयोग कहते हैं।**

ये लब्धि और उपयोग ही भावेन्द्रियाँ हैं।।१५-१८।।

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-२०**

इन्द्रियाँ, उनके विषय और स्वामी

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।।१९।।

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ।।२०।।

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।२१।।

वनस्पत्यन्तानामेकम् ।।२२।।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।।२३।।

संज्ञिनः समनस्काः ।।२४।।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ह्न ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ह्न ये क्रम से उन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं।

श्रुत, मन का विषय है।

वनस्पति है अन्त में जिनके, ऐसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और वायुकायिक जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्यादि के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है।

मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि **स्पर्श,** स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है; **रस,** रसनेन्द्रिय का विषय है; **गंध,** घ्राण इन्द्रिय का विषय है; **वर्ण,** चक्षु इन्द्रिय का विषय है और **शब्द,** कर्ण इन्द्रिय का विषय है।

स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श, **आठ** प्रकार का है ह्न शीत-उष्ण, रूखा-चिकना, कोमल-कठोर और हल्का-भारी।

रसना इन्द्रिय का विषय रस, **पाँच** प्रकार का है ह्न खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा।

घ्राण इन्द्रिय का विषय गंध **दो** प्रकार का है ह्न सुगन्ध और दुर्गन्ध।

चक्षु इन्द्रिय का विषय वर्ण **पाँच** प्रकार का है ह्न काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

कर्ण इन्द्रिय का विषय शब्द **सात** प्रकार के हैं ह्न षढज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, द्यैवत और निषाद।

इसप्रकार पाँच इन्द्रियों के विषय २७ प्रकार के हैं।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती है। न तो कोई इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करती है और न ग्रहण कर सकती है।

प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने विषय में इन्द्रवत् व्यवहार है; वह अपने विषय में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कार्य करती है, उसमें किसी अन्य इन्द्रिय का कोई हस्तक्षेप नहीं होता; इसीलिए उसे इन्द्रिय कहते हैं।

श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ को श्रुत कहते हैं; वह श्रुत अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय है। **श्रुतज्ञान का होना मन का प्रमुख कार्य है। अपने इस कार्य में वह किसी इन्द्रिय की सहायता नहीं लेता।**

ध्यान रहे, श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञान को या श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को श्रुत नहीं कह सकते; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य होने से मतिज्ञान ही है।

मतिज्ञान के बाद जो विचार केवल मनजन्य होता है, वह श्रुतज्ञान है।

तात्पर्य यह है कि पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों के एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार के स्थावर जीवों के मात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि एक स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामी पाँच प्रकार के **स्थावर जीव हैं।**

कृमि, लट, शंख, जोंक आदि के स्पर्शन और रसना ह्न **ये दो**

इन्द्रियाँ होती हैं; पिपीलिका माने चींटी, खटमल आदि के स्पर्शन, रसना और घ्राण ह्न **ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं;** भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ह्न **ये चार इन्द्रियाँ होती हैं;** और मनुष्य, देव, नारकी एवं पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के **पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।**

मन सहित जीवों को **संज्ञी** और मन रहित जीवों को **असंज्ञी** कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के सभी जीव नियम से **असंज्ञी और तिर्यंच** होते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में संज्ञी भी होते हैं और असंज्ञी भी होते हैं। मनुष्य, देव और नारकी नियम से संज्ञी ही होते हैं।

इसप्रकार **संज्ञी जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं।।१९-२४।।**

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

एक गति से अन्य गति में जाने के नियम

जब यह जीव एक देह छोड़कर अन्य देह को धारण करता है तो कैसे करता है ह्न इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं ह्न

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।२५।।

अनुश्रेणिः गतिः ।।२६।।

विग्रहगति में कर्मयोग होता है।

गति श्रेणी के अनुसार होती है।

विग्रह का अर्थ है शरीर। आगामी शरीर के लिए जो गति अर्थात् गमन, उसका नाम है विग्रहगति। एक गति को छोड़कर अगली गति में जब जीव जाता है; तब पुरानी गति तो छोड़ दी और अभी नई गति में पहुँचा नहीं; उन दोनों के बीच का जो समय है, उसे विग्रहगति कहते हैं। उस विग्रहगति में जीव के साथ कर्म अर्थात् कार्माणशरीर तो रहता है, पर नोकर्म अर्थात् यह औदारिकादि शरीर नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि **जिस अवस्था में कर्म का ग्रहण होने पर भी नोकर्म का ग्रहण नहीं होता, वह विग्रह है। इस विग्रह के लिए होनेवाली गति को विग्रहगति कहते हैं।**[1]

कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं और आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं।

आत्मप्रदेशों के इस परिस्पन्दन को कार्मणशरीर निमित्तरूप है; इसलिए उसे कर्मयोग या कार्मण कर्मयोग कहते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि **विग्रह गति में भी नये कर्मों का आस्रव होता है।**

मूल मुद्दे की बात यह है कि **पहले बँधे हुए कर्म अर्थात् कार्मण शरीर तो अगले भव में जीव के साथ जाता है; पर नोकर्म अर्थात् औदारिक आदि नोकर्मरूप शरीर जीव के साथ नहीं जाते।**

---

१. आचार्य अमृतचन्द्र, तत्त्वार्थसार, छन्द ९६

जब शरीर नहीं जाता तो फिर माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद आदि कैसे जा सकते हैं?।

लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रम से स्थित आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं; तब **उनकी गति अनुश्रेणी अर्थात् श्रेणी के अनुसार ही होती है।**

पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जब एक समय में चौदह राजू गमन करता है, तब वह भी श्रेणी के अनुसार ही गमन करता है।

उपर्युक्त श्रेणी की छह दशायें होती हैं ह्न

१. पूर्व से पश्चिम २. उत्तर से दक्षिण तथा ३. ऊपर से नीचे।

अन्य तीन इनसे उल्टी ४. पश्चिम से पूर्व, ५. दक्षिण से उत्तर और ६. नीचे से ऊपर।

तात्पर्य यह है कि विग्रहगति में जीवों का गमन श्रेणी के अनुसार ही होता है।।२५-२६।।

> आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्म-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।
>
> **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३५**

गति का नियम और समय

गति, श्रेणी के अनुसार तो होती है; पर वह गति कैसी होती है, उसमें कितना समय (काल) लगता है इत्यादि के उत्तर में आगे चार सूत्र दिये गये हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

अविग्रहा जीवस्य ।।२७।।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।।२८।।

एकसमयाऽविग्रहा ।।२९।।

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ।।३०।।

जीव की गति अविग्रह अर्थात् मोडा रहित होती है।

संसारी जीवों की गति विग्रहवाली भी होती है; पर विग्रहवाली गति तीन मोड़ों से अधिक मोड़ोंवाली नहीं होती।

अविग्रहगति में अर्थात् बिना मोड़ेवाली गति में मात्र एक समय लगता है। इस अविग्रहगति को ऋजुगति भी कहते हैं।

विग्रहगति में जीव एक समय, दो समय या तीन समय तक अनाहारक रहता है।

तात्पर्य यह है कि संसारी और मुक्त ह्न सभी जीवों की गति अविग्रह तो होती ही है; पर संसारी जीवों की गति विग्रहवाली भी होती है।

कुछ संसारी जीवों को एक देह को छोड़कर अन्य देह में पहुँचने के लिए मोड़े लेने पड़ते हैं; परन्तु तीन मोड़े से अधिक मोड़े किसी को भी नहीं लेने पड़ते।

मुक्त जीव तो अन्तिम देह छोड़कर बिना मोड़ा लिये एकदम सीधे चले जाते हैं; परन्तु संसारी जीवों में कुछ **संसारी जीव भी बिना मोड़ा के सीधे चले जाते हैं, पर कुछ जीव एक मोड़ा लेते हैं, कुछ दो मोड़ा लेते हैं और कुछ तीन मोड़ा लेते हैं।**

प्रश्न ह्न अविग्रहाजीवस्य सूत्र का अर्थ आप ऐसा कर रहे हैं कि जीव की गति अविग्रह (बिना मोड़े की) होती है ह्न क्या यह सही है ?

उत्तर ह्न क्यों, इसमें क्या गलती है ? उक्त सूत्र का सीधा-सच्चा और सही अर्थ तो यही है; क्योंकि **मुक्त और संसारी ह्न सभी जीवों की गति अविग्रह तो होती ही है।**

प्रश्न ह्न होती तो है; पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसे महान ग्रन्थों में इस सूत्र का अर्थ ऐसा किया है कि मुक्त जीवों की गति अविग्रह होती है।

उत्तर ह्न वह अर्थ भी सही है; क्योंकि उन्होंने उसकी सत्यार्थता को सयुक्ति सिद्ध किया है। हमने भी उक्त ग्रन्थों में समागत इस प्रकरण को गंभीरता से देखा है।

वैसे तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि निष्कर्ष तो दोनों का एक ही है। फिर भी न जाने क्यों हमें सहज, सरल प्रतिपादन यह लगा; इसलिए हमने सहजता से यह अर्थ किया है। इसमें अन्य कोई भाव नहीं है।

जब कोई जीव अष्ट कर्मों और सभी विकारों से पूर्णतः मुक्त होकर सिद्धदशा को प्राप्त होता है; तब वह जहाँ है, जिस स्थिति में है; वहीं से, उसी स्थिति में ऊर्ध्वगमन करता है और सीधा एक समय में सात राजू पार कर अगले समय में लोकाग्र में विराजमान हो जाता है।

तथा किसी संसारी जीव को, जहाँ वह है, वहाँ से एकदम सीध में ही जन्म लेना हो तो वह बिना मोड़ा लिए अगले समय में वहाँ जन्म ले लेता है।

इसप्रकार मुक्त व संसारी जीवों की गति अविग्रह होती है।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ह्न इन तीन शरीरों तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करनेवाले जीवों को **आहारक** और उक्त पुद्‌गलों को ग्रहण नहीं करनेवाले जीवों को **अनाहारक** कहते हैं।

जो संसारी जीव एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होते हैं, वे जीव एक समय तक **अनाहारक रहते हैं।** इसीप्रकार जो जीव दो या तीन मोड़ा लेकर जन्म धारण करते हैं, वे क्रमशः **दो या तीन समय तक अनाहारक रहते हैं।**

तात्पर्य यह है कि मोड़े के समय जीव अनाहारक रहता है, किन्तु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पत्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है, उस समय आहारक हो जाता है ।।२७-३०।।

> आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। **अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।**
>
> सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्म-ध्यान होता है तो उसी समय आत्म प्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसी समय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।
>
> **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१**

जन्म और योनि

विग्रहगति में मोड़े और मोड़े के समय अनाहारक रहने की चर्चा के बाद अब **सहजभाव से ही जन्म और योनि की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; क्योंकि विग्रहगति के बाद जीव को कहीं न कहीं जन्म तो लेना ही है।**

यह चर्चा पाँच सूत्रों में सम्पन्न होगी; जो इसप्रकार है ह्न

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ।।३१।।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।।३२।।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।।३३।।

देवनारकाणामुपपादः ।।३४।।

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।३५।।

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ह्न ये तीन प्रकार के जन्म हैं।

१. सचित्त २. शीत और ३. संवृत्त ह्न ये तीन और इन तीन की प्रतिपक्षभूत ४. अचित्त ५. उष्ण और ६. विवृत तथा उक्त तीन जोड़ों की मिश्र अर्थात् मिश्रित, ७. सचित्ताचित्त, ८. शीतोष्ण और संवृत-विवृत ह्न ये नौ जन्म लेने की योनियाँ हैं अर्थात् जन्म लेने के स्थान हैं।

जरायुज, अण्डज और पोत ह्न इन तीन प्रकार के प्राणियों का गर्भजन्म होता है।

देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

गर्भ और उपपाद जन्मवालों को छोड़कर शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

नवीन शरीर के धारण करने को जन्म कहते हैं।

१. तीनों लोकों में सर्वत्र बिना माता-पिता के संबंध के, सब ओर से पुद्गलों को ग्रहण करके होनेवाली शरीर की रचना को **सम्मूर्च्छन जन्म** कहते हैं।

२. महिलाओं के गर्भाशय में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से होनेवाली शरीर की रचना को **गर्भजन्म** कहते हैं।

३. देव-नारकियों के जन्म को **उपपाद जन्म** कहते हैं और उपपाद शय्या (उत्पत्ति स्थान) में पैदा होते ही अन्तर्मुहूर्त में शरीर पूर्ण हो जाता है।

जीवों के उत्पन्न होने के स्थान-विशेष को योनि कहते हैं। जो योनि चेतना सहित हो, उसे **सचित्त योनि** कहते हैं। जो योनि चेतना से रहित हो; उसे **अचित्त योनि** कहते हैं।

जो योनि सचित्त भी और अचित्त भी ह्न दोनों का मिश्रण हो, उसे **सचित्ताचित्त योनि** कहते हैं।

इसीप्रकार ठंडी योनि को **शीत योनि,** गर्म योनि को **उष्ण योनि** तथा शीत और उष्ण ह्न दोनों के मिश्रणरूप योनि को **शीतोष्ण योनि** कहते हैं।

जो योनिस्थान ढंका हुआ हो, उसे **संवृत योनि;** जो योनिस्थान खुला हुआ हो, स्पष्ट दिखाई देता हो, उसे **विवृत** तथा जो स्थान उक्त दोनों योनियों का मिश्रण हो, उसे **संवृत-विवृत योनि** कहते हैं।

उक्त नौ योनियों में उपपाद जन्मवाले देव और नारकियों की योनि **अचित्त, शीत, उष्ण तथा संवृत** होती है।

गर्भ-जन्मवाले जीवों की योनि **सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत-विवृत** होती है।

सम्मूर्च्छन जन्मवालों की योनि **सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण** होती है।

तेजसकायिक जीवों की योनि **उष्ण** ही होती है।

एकेन्द्रियों की **संवृत** और विकलेन्द्रियों अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रियों की योनि **विवृत** होती है।

सामान्य से योनियाँ नौ होती हैं और विस्तार से चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।

योनि और जन्म में आधार-आधेय का संबंध है। योनि आधार है और जन्म आधेय है; क्योंकि जीवों का जन्म योनियों में होता है और योनियों के आधार से होता है।

१. खून-मांस से बने हुए जाल को **जर** कहते हैं। जन्म के समय जो जीव जर में लिपटे रहते हैं, उन्हें **जरायुज** जीव कहते हैं। जैसे ह्न मनुष्य, गाय, बैल वगैरह।

२. जो जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं, उन्हें **अण्डज** कहते हैं। जैसे ह्न कबूतर आदि पक्षी।

३. और जिनके ऊपर कुछ भी आवरण नहीं होता, जो योनि से निकलते ही चलने-फिरने लगते हैं, उन्हें **पोत** कहते हैं। जैसे ह्न शेर आदि।

ध्यान रहे जरायु और अण्डे के साथ 'ज' लगा हुआ है; पर पोत के साथ 'ज' नहीं है; क्योंकि **जरायुज और अण्डज जर और अण्डे से वेष्ठित रहते हैं, पर पोत जन्मवाले पूर्णत: निरावरण रहते हैं।** इसप्रकार यह जन्म और योनियों की संक्षिप्त चर्चा समाप्त हुई।।३१-३५।।

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि **अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।**

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दु:खों का कारण है और **अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है।** अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दु:ख उठा रहा है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

शरीरों का स्वरूप एवं भेद

जब कोई जीव जन्म लेगा तो किसी न किसी शरीर को तो धारण करेगा ही; क्योंकि **नये शरीर को धारण करने को ही तो जन्म कहते हैं।**

शरीरों का यह विवेचन नौ सूत्रों में सम्पन्न होगा; जो इसप्रकार हैं ह्न

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।।३६।।

परं परं सूक्ष्मम् ।।३७।।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।।३८।।

अनन्तगुणे परे ।।३९।।

अप्रतीघाते ।।४०।।

अनादिसम्बन्धे च ।।४१।।

सर्वस्य ।।४२।।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।४३।।

निरुपभोगमन्त्यम् ।।४४ ।।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ह्न ये पाँच शरीर हैं।

औदारिक से लेकर के आगे शरीर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म होते हैं।

प्रदेशों (परमाणुओं) की अपेक्षा तैजस से पहले के शरीर असंख्यात-असंख्यातगुणे परमाणुवाले हैं।

तैजस और कार्मण में परमाणुओं की संख्या क्रमशः अनंत-अनंतगुणी हो जाती है।

ये तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात से रहित हैं।

इनका संबंध संसारी जीवों से अनादि से है।

ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के पाये जाते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर से लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर हो सकते हैं।

कार्मण नामक अन्तिम शरीर उपभोग से रहित होता है।

१. **स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं।** मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर औदारिक शरीर है।

२. **जो शरीर ह्न विक्रिया के द्वारा एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हल्का, भारी आदि रूप किया जा सके, उस शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं।** यह वैक्रियिक शरीर देव और नारकियों के होता है।

३. सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिए या संयम की रक्षा के लिए अन्य क्षेत्र में विद्यमान केवली या श्रुतकेवली के पास जाने (भेजने) के लिए या अन्य क्षेत्र में स्थित जिनालयों की वन्दना के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों द्वारा जिस शरीर की रचना होती है; उसे **आहारक शरीर** कहते हैं।

उक्त कार्यों की सिद्धि के लिए छठवें गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी मुनिराजों के मस्तक से एक हाथ का जो सफेद पुतला निकलता है; वह **आहारक शरीर** है। **वह पुतला केवली या श्रुतकेवली के पास जाकर अपना कार्य करके अंतर्मुहूर्त में वापिस आ जाता है।**

४. औदारिक आदि शरीरों को कान्ति प्रदान करनेवाला शरीर, **तैजस शरीर** है।

५. ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को **कार्मण शरीर** कहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें औदारिक शरीर तो दिखाई देता है, अन्य शरीर दिखाई क्यों नहीं देते ?

उत्तर ह्न औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर सूक्ष्म है, आहारक से तैजस शरीर सूक्ष्म है और तैजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर में और वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर में असंख्यातगुणे पुद्गल परमाणु हैं।

आहारक शरीर से तैजस शरीर में अनंतगुणे परमाणु हैं और कार्मण शरीर में तैजस शरीर से भी अनंतगुणे परमाणु हैं।

जिसप्रकार अग्नि, लोहे के पिण्ड में प्रवेश कर जाती है, वैसे ही इन तैजस और कार्मण शरीर का सर्वत्र प्रवेश अबाध है; क्योंकि **ये अप्रतिघाती हैं। ये वज्रमय पटल से भी नहीं रुकते।**

यद्यपि वैक्रियिक और आहारक शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं और वे भी बहुत कुछ अप्रतिघाती हैं; तथापि उन्हें यहाँ अप्रतिघाती नहीं कहा; क्योंकि **वे समस्त लोक में अप्रतिघाती नहीं हैं।**

आहारक शरीर ढाई द्वीप तक ही जा सकता है। मनुष्य को प्राप्त विक्रियाऋद्धि भी मनुष्य लोक अर्थात् ढाई द्वीप तक ही सीमित है।

देवों को प्राप्त वैक्रियिक शरीर त्रस नाली के भीतर, ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक ही जा सकता है।

अत: वह भी समस्त लोक तक अप्रतिघाती नहीं हैं।

अत: यहाँ उन्हीं शरीरों को अप्रतिघाति कहा है; जो समस्त लोक में अप्रतिघाती हैं।

इन दोनों शरीरों का आत्मा से अनादि संबंध परम्परा की दृष्टि से है; क्योंकि ये शरीर भी बदलते रहते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि पुराने कर्मों का उदय होकर अभाव हो जाता है और नये कर्म निरंतर बंधते रहते हैं। अत: कार्मण शरीर बदलता ही रहता है। इसीप्रकार तैजस शरीर बदलता रहता है; पर अनादिकाल से आजतक यह संसारी जीव एक समय भी इनके संबंध के बिना नहीं रहा; अत: इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ कथंचित् अनादि संबंध है और कथंचित् सादि। **यहाँ जो अनादि संबंध कहा है, वह परम्परा की दृष्टि से ही कहा।**

विग्रहगति में तो जीव के तैजस और कार्मण ह्र ये **दो शरीर** ही होते हैं। विग्रहगति के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर मनुष्य और तिर्यंचों के

औदारिक, तैजस और कार्मण ह्र ये **तीन शरीर** होते हैं अथवा देव और नारकियों के वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ह्र ये **तीन शरीर** होते हैं।

संयमी जीवों में आहारक ऋद्धिवाले छठवें गुणस्थानवर्ती किन्हीं-किन्हीं मुनिराजों के औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण ह्र ये **चार शरीर** हो सकते हैं।

अथवा विक्रिया ऋद्धिधारी मुनिराजों के औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ह्र ये **चार शरीर** भी हो सकते हैं।[१]

वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ नहीं होते; इसकारण एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते।

इन्द्रियों से शब्द वगैरह के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं।

इसप्रकार का उपभोग कार्मण शरीर में नहीं होता, इसलिए वह निरुपभोग है।

विग्रहगति में भावेन्द्रियाँ तो होती ही हैं, पर द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती; इसलिए यहाँ शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं होता। यही कारण है कि कार्मण शरीर उपभोग रहित होता है।।३६-४४।।

१. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, सूत्र ४३ की व्याख्या

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं; क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है, परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों ह्र यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट लेने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का विस्तार वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है। **ह्र परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१७८**

किस जन्म में कौन शरीर

अब यह स्पष्ट करते हैं कि यह **जीव किस जन्म में कौनसा शरीर धारण करता है।**

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।।४५।।

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६।।

लब्धिप्रत्ययं च ।।४७।।

तैजसमपि ।।४८।।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।४९।।

गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म में आदि का शरीर अर्थात् औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

उपपाद जन्म में वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

वैक्रियिक शरीर लब्धि निमित्तिक भी होता है।

तैजस शरीर भी लब्धि निमित्तिक होता है।

आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्त संयत मुनि के ही होता है।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि औदारिक शरीर धारण करनेवाले जीवों का गर्भ या सम्मूर्च्छन जन्म होता है; वैक्रियिक शरीरवाले देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है।

विशेष तप करने से जो ऋद्धि प्राप्त होती है; उसे लब्धि कहते हैं। विक्रियालब्धि से प्राप्त होनेवाला वैक्रियिक शरीर औदारिक जन्मवाले मनुष्यों के भी हो जाता है; यह एक अपवाद है।

तैजस शरीर दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो समस्त संसारी जीवों के पाया जाता है और **सभी शरीरों को कान्ति प्रदान करता है।**

दूसरा वह जो तप के प्रभाव से छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों को

ही होता है। इसे लब्धिनिमित्तिक कहते हैं। यह तैजस शरीर; औदारिक शरीर के दायें या बायें कंधे से एक पुतले के रूप में निकलता है।

यह लब्धिनिमित्तिक तैजस शरीर भी दो प्रकार का होता है ह्न

१. शुभ तैजस और २. अशुभ तैजस।

किसी स्थान विशेष के लोगों को भयंकर रोगों से, भयंकर दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर किसी तपस्वी के हृदय में करुणा भाव उत्पन्न हो जावे तो उसके दाहिने कंधे से एक पुतला निकलता है, **जिसे शुभ तैजस शरीर कहते हैं।** उसके प्रभाव से बारह योजन के जीवों का दु:ख दूर हो जाता है, **दुर्भिक्ष सुभिक्ष में बदल जाता है।**

इसके बाद वह पुतला वापिस आकर उन तपस्वी मुनिराज के शरीर में प्रवेश कर जाता है।

इसीप्रकार किन्हीं क्षेत्र विशेष के लोगों पर किसी कारणवश तपस्वी मुनिराज को क्रोध आ जावे तो उनके बायें कंधे से एक सिन्दूरी पुतला निकलता है; **जिसे अशुभ तैजस शरीर कहते हैं।** उसके प्रभाव से बारह योजन के क्षेत्र के जीव जलकर खाक हो जाते हैं। अन्त में वह पुतला वापिस आकर उन मुनिराज के शरीर को जला डालता है।

द्वीपायन मुनिराज के अशुभ तैजस से द्वारका जैसी सुसम्पन्न नगरी जलकर खाक हो गई थी। यह घटना तो जगप्रसिद्ध है।

सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने के लिए या तीर्थयात्रा के उद्देश्य से छठवें गुणस्थानवर्ती तपस्वी प्रमत्तसंयत मुनिराज के मस्तक से एक हाथ की ऊँचाईवाला धातु-उपधातु से रहित सफेद रंग का एक पुतला निकलता है; वह **आहारक शरीर** है।

समचतुरस्रसंस्थानवाला वह आहारक शरीर न तो किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। वह आहारक शरीर, केवली भगवान के पास से अपनी शंकाओं का समाधान पाकर अन्तर्मुहूर्त के भीतर लौट आता है और मूल शरीर में ह्न औदारिक शरीर में समाहित हो जाता है।।४५-४९।।

उक्त जीवों का लिंग विधान

अब यह बताते हैं कि चारों गति के विभिन्न जन्मवाले जीव किस–किस लिंग के होते हैं।

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।५०।।

न देवाः ।।५१।।

शेषास्त्रिवेदाः ।।५२।।

नारकी और सम्मूर्च्छन जीव, नपुंसक लिंगवाले ही होते हैं।

देव, नपुंसक लिंगवाले नहीं होते। देवगति में पुरुष वेद और स्त्री वेद ह्न ये दो वेद ही होते हैं।

नारकी, देव तथा सम्मूर्च्छन जीवों के सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं।

इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों में स्त्री–पुरुष वेद ही होते हैं।।५०–५२।।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब क्या हैं ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थाएँ हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं।

सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना संभव होता है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ–१९५

आयु का अपकर्षण

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपव–र्त्यायुषः ।।५३।।

औपपादिक जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देह अर्थात् उसी भव से मोक्ष जानेवाले, उत्तमसंहननवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिया जीवों की भुज्यमान आयु का अपकर्षण नहीं होता, शेष जीवों की भुज्यमान आयुकर्म का भी अपकर्षण हो सकता है।

उक्त संदर्भ में आज से ३५ वर्ष पहले ई. सन् १९७८ में मैंने अपने **क्रमबद्धपर्याय**[1] नामक ग्रन्थ में लिखा था; जो इसप्रकार है ह्न

''आयु दो प्रकार की होती है ह्न **१. भुज्यमान आयु और २. बध्यमान आयु।**

जिस आयु को जीव वर्तमान में भोग रहा है, उसे **भुज्यमान आयु** कहते हैं और जो आयु बंध तो गई है, पर **जिसका उपभोग अगले भव** में होगा, उसे बध्यमान आयु कहते हैं।

बध्यमान आयु की स्थिति में तो सभी का अपकर्षण हो सकता है, पर भुज्यमान आयु का अपकर्षण उक्त सूत्र में कथित जीवों के मुख्य रूप से नहीं होता है ह्न यह बताना उक्त सूत्र का उद्देश्य है।

राजा श्रेणिक ने तैंतीस सागर की नरकायु की स्थिति बाँधी थी और उसका अपकर्षण होकर चौरासी हजार वर्ष की रह गई, पर यह पूर्व भव में ही हुआ; **नरकायु का उपभोग आरंभ होने के बाद उसका अपकर्षण संभव नहीं है।** जबकि उक्त सूत्र में कथित जीवों को छोड़कर अन्य जीवों की आयु का अपकर्षण उसी भव में भी हो जाता है।

यह सम्पूर्ण चर्चा आयु के अपकर्षण की है।

१. यह कृति अबतक छह भाषाओं में एक लाख से अधिक प्रकाशित होकर जन–जन तक पहुँच चुकी हैं। इसके अन्त में ४७ साधु–सन्तों और मूर्धन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी छपी हैं। जैनदर्शन का मर्म समझने के लिए उक्त कृति का स्वाध्याय अवश्य करें।

जिसप्रकार जब हम किसी दुकानदार के पास खरीदा हुआ सामान पसंद न आने पर वापिस करने जाते हैं तो वह पैकिटबंद सामान तो सभी वापिस कर लेता है, पर पैकिट खुल जाने पर कुछ सामान तो वापिस कर लेता और कुछ नहीं करता है; उसीप्रकार **जिस आयु का उपभोग आरंभ नहीं हुआ है, उसमें तो सभी में अपकर्षण संभव है, पर उपभोग आरंभ हो जाने पर उक्त सूत्र में कथित आयु का अपकर्षण संभव नहीं है ह्न यही बात उक्त सूत्र में बताई गई है।**

इससे काल की नियमितता में कोई अन्तर नहीं आता और न ही अन्य समवायों की उपेक्षा ही होती है; क्योंकि **आयु का अपकर्षण भी तो अन्य समवायों की सापेक्षता से होता है।**

वस्तुत: यह कथन अकालमृत्यु का न होकर पूर्वबद्ध आयुकर्म के अपकर्षण का है।

इस संदर्भ में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार श्री जिनेन्द्रवर्णी का निम्न लिखित कथन द्रष्टव्य है ह्न

''पाँचवाँ प्रश्न है अकालमृत्यु संबंधी। समय से पहले विषभक्षण आदि से होनेवाली मृत्यु को 'अकालमृत्यु' कहते हैं। कर्मसिद्धान्त के अंतर्गत पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति आदि के घटने-बढने को **'अपकर्षण'** व **'उत्कर्षण'** कहते हैं और प्रकृति के बदल जाने को **'संक्रमण'** कहते हैं। समय से पहले कर्म को उदय में लाना **'उदीरणा'** कहलाती है और समय से पहले उन्हें झाड़ देना **'निर्जरा'** कहलाती है।

आगमकथित ये सब विषय नियति के बाधक हैं ह्न ऐसी आशंका भी करना योग्य नहीं; क्योंकि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके आने पर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वत: होती है। **तीव्र क्रोध आने पर ही विषभक्षण आदि का कार्य होता है, उसके अभाव में नहीं।**

इसीप्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदि के संबंध में भी जानना; क्योंकि **अकालमृत्यु का अर्थ आयुकर्म की उदीरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।**

अकाल तो केवल इसलिए कहा जाता है कि जितनी आयु बंधी, उतनी स्थिति पूरी नहीं की। **वास्तव में कोई भी कर्म ऐसा नहीं, जिसकी स्थिति बंध के अनुसार ही उदय में आती हो।** बुद्धिहीन सूक्ष्म प्राणियों में भी ये उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा-जैसा विकल्प उस-उस समय होता है, वैसी-वैसी प्रवृत्ति ही उस-उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा-वैसा ही नवीन बंध व उत्कर्षण आदि होता है।

उत्कर्षण आदि के परिणाम कोई और हों और बन्ध के कोई और ह्न ऐसा नहीं है। **एक समय के जिस एक परिणाम या प्रवृत्ति से बंध होता है, उसी से उसीसमय यथायोग्य उत्कर्षण, अपकर्षण आदि भी होते हैं; अत: इनसे नियति बाधित नहीं हो सकती।**[1]''

(१२) **प्रश्न ह्न** आप ऐसा क्यों कहते हैं कि केवली के ज्ञानानुसार प्रत्येक मृत्यु स्वकाल में ही होती है; क्योंकि इससे तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि किसी अपेक्षा अकालमृत्यु भी होती होगी?

उत्तर ह्न होती तो क्या है, कही अवश्य जाती है। अपकर्षण, उदीरणा आदि की अपेक्षा इसप्रकार का कथन होता है। इसे क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा भी कह सकते हैं।

जिसप्रकार एक घड़े में दस लीटर पानी है और उसमें एक छेद भी है, जिसमें से वह पानी एक घंटे में एक लीटर की रफ्तार से निकल रहा है।

यदि गणितज्ञ से पूछा जाए कि वह घड़ा कितने समय में खाली हो जावेगा तो वह अपने गणितानुसार दस घंटे ही बतायेगा जो कि सही ही है, पर यदि किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाए कि वह घड़ा कब तक खाली हो जावेगा तो वह यह भी बता सकता है कि पाँच घंटे में; क्योंकि उसे यह भी पता है कि पाँच घंटे बाद एक बालक की ठोकर से यह घड़ा लुढ़क जायेगा और पानी निकल जावेगा।

अब गणित की अपेक्षा उसे असमय से खाली होना कहा जाएगा

---

१. शांतिपथदर्शन, पृष्ठ १२३

और भविष्यज्ञानी अथवा वस्तुस्थिति की अपेक्षा यह कहा जाएगा कि उसकी नियति ही यह थी; अत: स्वसमय में अपनी होनहार के अनुसार उचित निमित्तपूर्वक ही सब-कुछ घटित हुआ है।

इसीप्रकार जैसे किसी अपराधी को दस वर्ष की सजा हुई है ह्न जब उसने न्यायाधीश से, वकील से, जेलर से पूछा कि मैं जेल से कब छूटूँगा ? तो सभी ने एक स्वर से यही उत्तर दिया कि दस वर्ष बाद और इस कथन को झूठ भी नहीं कहा जा सकता है। पर जब किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाएगा तो वह यह भी कह सकता है कि पाँच वर्ष बाद; क्योंकि उसे पता है कि पाँच वर्ष बाद राजा के पुत्र का जन्म होगा और उसकी खुशी में सभी कैदी छोड़ दिये जावेंगे और यह भी छूट जावेगा।

न्यायाधीशादि का कथन फैसले में दी गई सजा के आधार पर है और भविष्यवक्ता का कथन वास्तविकता के आधार पर है; अत: वह वास्तविक है और न्यायाधीशादि का सापेक्ष।

उसीप्रकार किसी जीव ने आयुकर्म की स्थिति अस्सी वर्ष की बाँधी है और चालीस वर्ष की उम्र में उसका अपकर्षण होना है या उसे उदीरणा होकर खिर जाना है। बीस वर्ष की उम्र में उसने अवधिज्ञानी से जिसका कि भविष्य का ज्ञान दस वर्ष से अधिक नहीं है, पूछा कि इसका मरण कब होगा ? उसने अपने अवधिज्ञान से उसकी आयु की स्थिति जानकर बताया कि अस्सी वर्ष की उम्र में। पर जब केवलज्ञानी से पूछा तो उन्होंने बताया कि चालीस वर्ष की उम्र में, तो हमें दोनों में से कोई एक झूठा लगेगा। पर ये कथन झूठे नहीं, किन्तु सापेक्ष कथन होंगे।

अवधिज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा उसे हम अकालमृत्यु कहेंगे और केवलज्ञान की अपेक्षा स्वकाल में ही मरण हुआ कहा जायेगा।

अथवा स्वास्थ्य आदि देखकर हम अपेक्षा तो यह रखते हैं कि यह आदमी अस्सी वर्ष जियेगा, पर विषादिभक्षण से जब वह चालीस वर्ष की उम्र में ही मर जाता है तो कह देते हैं ह्न असमय में मरण हो गया है।

हमारे इस ज्ञान का क्या आधार है कि उसे चालीस वर्ष से अधिक जीना था ? बिना इस ज्ञान के उसे अकाल कहना कथनमात्र के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मरण तो जब होना था, तभी हुआ है; उसमें कोई फेर-फार नहीं हुआ है। जो कुछ भी अन्तर आया है, वह मात्र कथन में आया है।

जिन शब्दों में 'अ' लगाकर निषेधवाचक बनाया जाता है, उनमें 'अकाल' भी एक शब्द है, जिसका अर्थ समय से पहले न होकर काल से भिन्न कोई अन्य कारण होता है; क्योंकि इस प्रकरण में 'काल' शब्द का प्रयोग एक कारण के अर्थ में हुआ है।

मृत्युरूपी कार्य होने में अनेक कारण होते हैं, उनमें काल भी एक कारण है। कथन में अनेक कारण तो एक साथ आ नहीं सकते; अत: किसी एक कारण को मुख्य करके कथन होता है। **जब काल को मुख्य करके कथन होता है, तब उसे कालमृत्यु कहते हैं और जब काल मुख्यकारणरूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विषभक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दें तो उसे अकालमरण कहेंगे।**

अकालमृत्यु की परिभाषा में कहा भी गया है कि विषभक्षणादि के द्वारा होनेवाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहते हैं।

इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अकाल' शब्द असमय का सूचक न होकर काल के अतिरिक्त अन्य कारणों का द्योतक है।

जब हम किसी के मरने पर पूछते हैं कि कल तक तो वह ठीक था, आखिर उसे अचानक हुआ क्या ? तो यही उत्तर मिलता है कि कुछ नहीं, समझ लो उसका काल ही आ गया था। जिसका काल आ जाय, उसे कौन बचा सकता है ? फिर कोई कारण का पता चलता तो उसका इलाज भी किया जाता।

तथा यदि कोई विषभक्षण, एक्सीडेंट आदि अन्य कारण दिखाई देता है तो कोई यह नहीं कहता कि उनका काल ही आ गया था, अपितु यह कहा जाता है कि घर से तो अच्छे चले थे, पर एक्सीडेंट हो

गया या किसी ने जहर दे दिया अथवा और जो कुछ हुआ होता है, वह कारण बताया जाता। साथ में यह भी कहा जाता है कि भाई वे तो बेचारे अकालमौत के शिकार हो गये।

इसप्रकार अकालमृत्यु असमय की सूचक न होकर काल के अतिरिक्त मुख्यरूप से अन्य कारणों से होनेवाली मृत्यु की सूचक है।[१]''

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि **उक्त सूत्र में मुख्यरूप से आयुकर्म की स्थिति के अपकर्षण की चर्चा है। अकालमृत्यु की बात तो उक्त कथन के आधार पर मनीषियों द्वारा निकाला गया निष्कर्ष है;** जो एक प्रकार से सापेक्ष कथन है, वस्तुस्थिति का वास्तविक निष्कर्ष नहीं।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि जीवों के जीवन-मरण और सुख-दु:ख जिस रूप में केवलज्ञानी के ज्ञान में आये हैं; उसी रूप में स्वसमय में ही होते हैं; उन्हें इन्द्र या जिनेन्द्र ह्न कोई भी बदलने में समर्थ नहीं है।

इसप्रकार जीव के असाधारण भावों, जीव के लक्षण, भेद-प्रभेद, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय, जन्म, योनि, शरीर आदि का स्वरूप बतानेवाला दूसरा अध्याय समाप्त होता है।।५३।।

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ८६

> एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अंतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षा-कल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।
>
> संयोग और संयोगीभावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अत: संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ३९**

तीसरा अध्याय

पृष्ठभूमि

तत्त्वार्थों के निरूपण करनेवाले इस तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र में मोक्षमार्ग से लेकर मोक्ष तक का निरूपण है। इसलिए इसका अपर नाम **मोक्षशास्त्र** भी सार्थक ही है।

अबतक इसमें मोक्षमार्ग और उसमें समागत सम्यग्दर्शन के संदर्भ में सात तत्त्वार्थों की चर्चा आरंभ हुई।

उक्त सात तत्त्वार्थों के बारे में क्या-क्या और कैसे-कैसे जानना चाहिए; इसके संदर्भ में प्रमाण, नय; नाम, स्थापना आदि निक्षेपों; निर्देश, स्वामित्व आदि एवं सत्संख्यादि को जानना आवश्यक है ह्न यह बताया।

इसके बाद प्रमाण के रूप में पाँच ज्ञानों, उनके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद आदि की चर्चा हुई और अन्त में नैगमादि सात नयों के निरूपण के साथ पहला अध्याय समाप्त हो गया।

दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व के संदर्भ में जीव के त्रेपन प्रकार के असाधारण भावों की चर्चा के उपरान्त जीव का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद की चर्चा की गई। तदुपरान्त जीवों के जन्म, योनियाँ, शरीर आदि की चर्चा के साथ दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

अब तीसरे अध्याय में तीन लोक में ये संसारी जीव कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं; इसके संदर्भ में सबसे पहले अधोलोक फिर मध्यलोक की चर्चा होगी। ऊर्ध्वलोक की चर्चा चौथे अध्याय में होगी।

मुक्त जीव तो लोकाग्र अर्थात् ऊर्ध्वलोक के अन्त में स्थित हैं, सिद्ध परमात्मा सिद्धशिला पर नहीं; सिद्धशिला से ऊपर घनोदधि वातवलय, घनवातवलय एवं उससे भी ऊपर तनुवातवलय है, उसके अंत में रहते हैं।[१] पर संसारी जीव तीन लोक में कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं; इस बात को स्पष्ट करने के लिए **सबसे पहले अधोलोक का वर्णन आरंभ करते हैं।** ●

१. तिलोयपण्णत्ति, अध्याय ९, गाथा-३

अधोलोक

अधोलोक में सात नरक हैं, जिनका स्वरूप इसप्रकार है ह्व

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातम:प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ।।१।।

अधोलोक में ह्व १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. वालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमप्रभा और ७. महातमप्रभा ह्व ये सात नरक की भूमियाँ क्रम से नीचे–नीचे हैं और ये भूमियाँ घनोदधि वातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।

जिसमें घना पानी और घनी वायु हो, वह **घनोदधिवातवलय** है।[1] जहाँ घनी वायु हो, वह **घनवातवलय** है और जहाँ हल्की वायु हो, वह **तनुवातवलय** है।

वस्तुत: इन सात नरकों के रूढ़िगत नाम तो १. धम्मा, २. वंशा, ३. मेघा, ४. अंजना, ५. अरिष्टा, ६. मघवी, और ७. माघवी हैं।

रत्नप्रभा आदि सार्थक नाम तो उन नरकों की भूमि की प्रभा के आधार पर बताये गये हैं।

जहाँ रत्नों जैसी प्रभा हो, वह **रत्नप्रभा;** जहाँ शर्करा (शक्कर) जैसी प्रभा हो, वह **शर्कराप्रभा;** जहाँ वालु (रेत) जैसी प्रभा हो, वह **वालुकाप्रभा;** जहाँ कीचड़ जैसी प्रभा हो, वह **पंकप्रभा;** जहाँ धुएँ जैसी प्रभा हो, वह **धूमप्रभा;** जहाँ अंधकार जैसी प्रभा हो, वह **तमप्रभा** और जहाँ घने अंधकार जैसी प्रभा हो, वह **महातमप्रभा** है।

ये सातों भूमियाँ क्रमश: नीचे–नीचे हैं। इस मध्यलोक के नीचे सबसे पहले प्रथम नरक के रूप में **रत्नप्रभा भूमि** है, फिर उसके नीचे **शर्कराप्रभा भूमि**, फिर उसके नीचे **वालुकाप्रभा भूमि**, फिर उसके नीचे पंकप्रभा भूमि, फिर उसके नीचे **धूमप्रभा भूमि**, फिर उसके नीचे **तमप्रभा**

१. भाप का घना वातावरण

भूमि और फिर उसके नीचे अन्त में **महातमप्रभा भूमि** है।

यह लोक मध्यलोक के नीचे होने से तो अधोलोक कहलाता ही है; पर इस लोक में होनेवाली भूमियों की रचना भी क्रमश: नीचे–नीचे हैं; इसलिए भी इस लोक को अधोलोक कहते हैं।

रत्नप्रभा नामक पहली भूमि के तीन भाग हैं ह्व १. खरभाग, २. पंकभाग और ३. अब्बहुलभाग।

पहली भूमि में नारकी ही रहते हों, यह बात नहीं है; उसमें व्यन्तर और भवनवासी देव भी रहते हैं। खर भाग में राक्षस को छोड़कर शेष सात प्रकार के व्यन्तर और असुरकुमार को छोड़कर शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। राक्षस और असुरकुमार पंकभाग में रहते हैं।

कुछ व्यन्तर तीर्थों, पर्वतों, खण्डहरों, समुद्रों और वृक्षों आदि पर मध्यलोक में भी रहते हैं।

पहली भूमि **एक लाख अस्सी हजार योजन**[1] मोटी है। इसके तीन भाग हैं ह्व **१. खरभाग ह्व** सोलह हजार योजन मोटा है।

२. पंकभाग ह्व चौरासी हजार योजन मोटा है।

३. अब्बहुलभाग ह्व अस्सी हजार योजन मोटा है।

दूसरी भूमि **बत्तीस हजार योजन** मोटी है, तीसरी भूमि **अट्ठाईस हजार योजन** मोटी है, चौथी भूमि **चौबीस हजार योजन** मोटी है, पाँचवीं भूमि **बीस हजार योजन** मोटी है, छठी भूमि **सोलह हजार योजन** मोटी है और सातवीं भूमि **आठ हजार योजन** मोटी है।

ये सातों भूमियाँ घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार से स्थित हैं अर्थात् सभी भूमियाँ घनोदधि वातवलय के आधार से स्थित हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार से स्थित है, घनवातवलय तनुवातवलय के आधार से स्थित है, तनुवातवलय आकाश के आधार से स्थित है और **आकाश स्वयं के आधार से स्थित है।।१।।**

१. दो हजार कोस का एक योजन होता है।

नरक की भूमियों में होनेवाले बिल

जिसप्रकार देवों के रहने के स्थान के रूप में ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) में विमान और मनुष्यलोक में मनुष्यों को रहने के लिए मकान होते हैं; उसीप्रकार अधोलोक की नरक भूमियों में नारकियों को रहने के लिए बिल होते हैं। **कौन से नरक में कितने बिल हैं ह्न यह बतानेवाला दूसरा सूत्र इसप्रकार है ह्न**

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।२।।

उन पृथिवियों में क्रम से पहली पृथिवी में ३० लाख, दूसरी पृथिवी में २५ लाख, तीसरी पृथिवी में १५ लाख, चौथी पृथिवी में १० लाख, पाँचवीं पृथिवी में ३ लाख, छठवीं पृथिवी में पाँच कम एक लाख और सातवीं पृथिवी में केवल ५ बिल हैं। इसप्रकार कुल ८४ लाख बिल हैं।

ये बिल जमीन में गढ़े हुए ढोल की पोल के समान हैं और ये गोल, चौकोन, त्रिकोन, षट्कोन व अष्टकोन आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

इन बिलों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है ह्न १. इन्द्रक (इन्द्रों के समान महत्त्वपूर्ण) बिल, २. श्रेणीबद्ध (पंक्ति में बद्ध) बिल और ३. पुष्पप्रकीर्णक बिल।

इन बिलों की भौगोलिक स्थिति इसप्रकार है ह्न

नरक की सात भूमियाँ ४९ पटलों[1] में विभाजित हैं। पहले नरक की भूमि के खर व पंक भाग को छोड़कर अब्बहुल भाग में **१३ पटल** हैं और उनमें सीमन्तक, निरय, रौरव आदि **१३ इन्द्रक बिल** हैं। दूसरी भूमि (नरक) में **११ पटल** हैं और उनमें स्तनक, संस्तनक आदि **११ इन्द्रक बिल** हैं। तीसरी भूमि में **९ पटल** हैं और तप्त, त्रस्त आदि ९ **इन्द्रक बिल** हैं। चौथी भूमि में **७ पटल** हैं और उनमें आर, मार आदि

१. प्रस्तर/पाथड़े/खन आदि पटल के ही पर्यायवाची हैं।

७ इन्द्रक बिल हैं। पाँचवीं भूमि में **५ पटल** हैं और उनमें तम, भ्रम आदि **५ इन्द्रक बिल** हैं। छठवीं भूमि में **३ पटल** हैं और हिम, वर्दल और ललक ये **३ इन्द्रक बिल** हैं। सातवीं भूमि में मात्र **१ पटल** है और केवल **१ अप्रतिष्ठान नाम का इन्द्रक बिल** है।

इसप्रकार इन पटलों के मध्यबिन्दु में १-१ इन्द्रक बिल हैं। प्रथम नरक के प्रथम पटल में चारों दिशाओं में ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल हैं और विदिशाओं में ४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल हैं।

इसके बाद नीचे-नीचे के पटलों में १-१ श्रेणीबद्ध बिल घटता जाता है अर्थात् प्रथम नरक के दूसरे पटल की दिशाओं में ४८-४८ और विदिशाओं में ४७-४७ बिल होते हैं।

इसीप्रकार घटते-घटते छठवें नरक के तीसरे अर्थात् अन्तिम पटल में २-२ श्रेणीबद्ध बिल और विदिशाओं में १-१ श्रेणीबद्ध बिल रह जाते हैं।

सातवें नरक की भूमि में एक ही पटल होता है और उसमें एक इन्द्रक बिल और चार दिशाओं में चार श्रेणीबद्ध बिल ह्न इसप्रकार कुल ५ बिल होते हैं।

सातवें नरक में विदिशाओं में बिल नहीं हैं। पूर्व दिशा में काल, पश्चिम दिशा में महाकाल, दक्षिण दिशा में रौरव, उत्तर दिशा में महारौरव और मध्य में अप्रतिष्ठान नामक बिल हैं।

भूमि का जो अंश शेष रहता है, उसमें पुष्पप्रकीर्णक बिल होते हैं। जिसप्रकार हम हाथ में पुष्पों को लेकर क्षेपण करते हैं, फैंक देते हैं, उसमें कोई भी पुष्प कहीं भी अव्यवस्थितरूप से गिर जाता है, उसीप्रकार इन बिलों की स्थिति है, इसलिए इनको **पुष्पप्रकीर्णक बिल** कहते हैं।

इसप्रकार ये बिल इन्द्रक बिल, श्रेणिबद्ध बिल और पुष्पप्रकीर्णक बिल के रूप में तीन विभागों में विभाजित हैं।

इन बिलों की संख्या को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है ह्न

पृथवी	इन्द्रक बिल	श्रेणीबद्ध बिल	पुष्पप्रकीर्णक बिल	योग
रत्नप्रभा	१३	४४२०	२९९५५६७	३०,०००००
शर्कराप्रभा	११	२६८४	२४९७३०५	२५,०००००
वालुकाप्रभा	९	१४७६	१४९८५१५	१५,०००००
पंकप्रभा	७	७००	९९९२९३	१०,०००००
धूमप्रभा	५	२६०	२९९७३५	३०,००००
तमप्रभा	३	६०	९९९३२	९९,९९५
महातमप्रभा	१	४	ह्न	५
	४९	९,६०४	८३,९०३४७	८४,०००००

इन सातों पृथिवियों में कुछ बिल संख्यात लाख योजन विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) वाले और कुछ असंख्यात लाख योजन विस्तारवाले हैं। पाँचवें भाग (२० प्रतिशत) तो संख्यात योजन विस्तारवाले और ४ भाग (८० प्रतिशत) असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं।

इन्द्रक बिलों की गहराई प्रथम नरक में १ कोस[१] और आगे क्रमशः आधा-आधा कोस बढ़ती हुई सातवें में ४ कोस हो जाती है।

श्रेणीबद्ध बिलों की गहराई अपने इन्द्रक बिलों की गहराई से तिहाई और अधिक है।

पुष्पप्रकीर्णकों की गहराई, श्रेणीबद्ध बिलों और इन्द्रक बिलों ह्न इन दोनों की मिली हुई गहराई के बराबर है।

ये सब बिल ऊँट आदि के समान अशुभ आकारवाले हैं। इनके शोचन रोदन आदि भद्दे-भद्दे नाम हैं।

जिसप्रकार लोक में अपेक्षाकृत संपन्न लोगों को पृथक्-पृथक् कमरों में ठहराया जाता है और सामान्यजन को सामूहिक रूप से एक हॉल में ठहरा दिया जाता है, उसीप्रकार ऊपर-ऊपर के नरकों में अपेक्षाकृत छोटे बिल हैं और नीचे के नरकों में अपेक्षाकृत बड़े बिल हैं॥२॥

१. एक कोस में दो मील होते हैं।

नारकियों के दुःखों का वर्णन

अधोलोक की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करने के उपरांत अब वहाँ रहनेवाले **नारकी जीवों के दुःखों का वर्णन करते हैं।**

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदना-विक्रियाः ।।३।।

परस्परोदीरितदुःखाः ।।४।।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।।५।।

नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर शरीर, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया को धारण करते हैं।

नारकी जीव परस्पर एक-दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं। वे निरन्तर परस्पर में लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

उन नारकियों को चौथी पृथिवी से पहले अर्थात् तीसरी पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम के धारक अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा दुःख दिए जाते हैं अर्थात् अम्ब-अम्बरिष असुरकुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवों को दुःख देते हैं तथा उनके पूर्व के वैर का स्मरण करा-कराके परस्पर लड़ाते हैं और दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं।

नारकी जीव स्वभाव से क्रूर स्वभाववाले होते हैं। एक-दूसरे को देखते ही उनका क्रोध भभक उठता है और वे एक-दूसरे को मारने काटने लगते हैं। उनका शरीर वैक्रियिक होता है; वे उस वैक्रियिक शरीर से ही नाना प्रकार के आयुध बनाकर, उनसे दूसरे नारकियों को पीड़ा पहुँचाते हैं।

तीसरे नरक तक देवों का भी गमन होता है, इसलिए असुरकुमार नामक भवनवासी देव भी कुतूहलवश उन्हें आपस में भिड़ा देते हैं और उनका घात-प्रत्याघात देखकर प्रसन्न होते हैं।

पर यह काम सभी असुरकुमार देव नहीं करते, किन्तु **अम्बावरीष** आदि जाति के कुछ असुरकुमार देव ही करते हैं।

प्रथम और दूसरी पृथिवी में **कापोत लेश्या** है। तीसरी पृथिवी में ऊपर के भागों में **कापोत लेश्या** है और नीचे के भाग में **नील लेश्या** है। चौथी पृथिवी में **नील लेश्या** है। पाँचवी पृथिवी में ऊपर के भाग में **नील लेश्या** है और नीचे के भाग में **कृष्ण लेश्या** है। छठी पृथिवी में **कृष्ण लेश्या** है और सातवीं पृथिवी में **परम कृष्ण लेश्या** है।

इसप्रकार नीचे-नीचे के नरकों में ऊपर के नरकों से अधिक अशुभ लेश्याएँ होती हैं। **यह भाव लेश्याओं का कथन है।**

भाव लेश्याएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, पर वे भी स्वस्थान के अनुसार ही होती हैं।

उन नारकियों के परिणाम, शरीर की आकृतियाँ, वेदना और विक्रिया भी नीचे-नीचे के नरकों में अधिक-अधिक अशुभ होते हैं।

पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथवी में मात्र **उष्ण वेदनावाले** बिल हैं। पाँचवीं पृथिवी में ऊपर के दो लाख बिल **उष्ण वेदनावाले हैं** और नीचे के एक लाख बिल शीत वेदनावाले हैं तथा छठी और सातवीं पृथिवी के बिल **शीत वेदनावाले** ही हैं।

वस्तुत: वे नारकी जीव अपनी मिथ्या मान्यता, आत्मा संबंधी अज्ञान और कषाय भावों के कारण ही दु:खी होते हैं। बाह्य संयोग तो निमित्तमात्र हैं। जिनके परिणाम अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते हैं, उनके संयोग भी नियम से वैसे ही अशुभ होते हैं।

अत: जिन लोगों को नरकों में प्राप्त होनेवाले उक्त दु:खों से बचने की भावना हो; उन्हें वस्तुस्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए, अपने आत्मा को जानना-पहिचानना चाहिए और कषाय भावों का त्याग कर अपने आत्मा में ही समा जाना चाहिए।

सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है॥३-५॥

नारकी जीवों की आयु

नरकों के भयंकर दु:खों को जानकर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि नारकियों को ये दु:ख कितने काल तक भोगना पड़ते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में अगले सूत्र की रचना हुई है, जो इसप्रकार है ह्न

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।६।।

उन नरकों में नारकी जीवों के रहने की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर है।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु पहले नरक में एक सागर, दूसरे नरक में तीन सागर, तीसरे नरक में सात सागर, चौथे नरक में दस सागर, पाँचवें नरक में सत्रह सागर, छठवें नरक में बाईस सागर और सातवें नरक में तैंतीस सागर है।

जिसप्रकार सागर अर्थात् समुद्र में अगाध और अपार जल होता है; उसीप्रकार काल के मापरूप सागर में भी बहुत लम्बा काल होता है।

सागर का स्वरूप आगम में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

दो हजार कोस गहरे तथा इतने ही चौड़े गोलाकार गड्ढे को, कैंची से जिसके दो टुकड़े न हो सकें ह्न ऐसे तथा एक से सात दिन की उम्र के उत्तम भोगभूमि के मेंढे के बालों से भर दिया जाये। फिर उसमें से सौ-सौ वर्ष के अंतर से एक-एक बाल का टुकड़ा निकाला जाये।

जितने काल में उन सब बालों को निकाल दिया जाये, उसे 'व्यवहार पल्य' कहते हैं; व्यवहारपल्य से असंख्यातगुने समय को 'उद्धारपल्य' और उद्धारपल्य से असंख्यातगुने काल को 'अद्धापल्य' कहते हैं। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर होता है।

इसप्रकार ये नारकी जीव बहुत लम्बे काल तक नरक की यातना को भोगते हैं।।६।।

नरकों के संबंध में कुछ विशेष जानकारी

इन नरकों में रहनेवाले सभी नारकी जीव परस्पर में अत्यधिक मारकाट करते रहते हैं; परन्तु आयुकर्म की समाप्ति तक चाहकर भी मर नहीं पाते।

चारों गतियों में नरकगति ही एक ऐसी गति है, जहाँ के जीव मरना चाहते हैं। अन्य गतियों में कोई भी जीव कितने ही कष्ट में क्यों न हो; पर वह मरना नहीं चाहता। अंत समय तक मृत्यु से बचने का ही प्रयास करता रहता है; क्योंकि **जो जीव जैसी भी स्थिति में पहुँच गया है, वह वहीं रम जाता है। उसे बदलना नहीं चाहता।**

नरक एक ऐसी गति है, जहाँ कोई भी जीव रमता नहीं है, रमना नहीं चाहता; इसलिए नरक की व्याख्या इसप्रकार की गई है कि **''न रता इति नारका'' जहाँ जीव रमे नहीं, उस स्थान को नरक कहते हैं।**

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि ऐसा कोई स्थान अभी तक देखने में नहीं आता; अत: नरकों के अस्तित्व पर भरोसा नहीं होता।

इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यह है कि यदि कोई व्यक्ति एक व्यक्ति की हत्या करता है तो उसे एक बार फांसी पर लटकाया जाता है; यदि वही जीव हजारों लाखों जीवों का घात करे तो उसकी सजा में भी एक बार ही तो फांसी पर लटकाया जाता है; क्योंकि एक बार मर जाने पर उसे दुबारा फांसी पर लटकाना संभव नहीं है।

पर यह न्यायसंगत तो नहीं है। यह बात न्यायसंगत कैसे हो सकती है कि एक जीव को मारने की भी वही सजा और अनेकों जीवों को मारने की भी वही सजा।

अत: कोई न कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ उसे प्रतिदिन मारणान्तिक पीड़ा प्राप्त हो, मरण तुल्य कष्ट प्राप्त हो, पर वह मर न सके, मरे नहीं।

यही कारण है कि ऐसे महापाप करनेवाले जीव नरक में जाते हैं और वहाँ सागरों पर्यन्त रहकर निरन्तर मारणान्तिक दु:ख भोगते हैं।

हाँ, पर एक बात अवश्य है कि आयु की समाप्ति पर जब नारकी जीवों का मरण होता है, तब वे मरकर दुबारा नरक नहीं जाते, देव भी नहीं होते या तो वे तिर्यंचगति में जन्म लेते हैं या मनुष्यगति में।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि नरक से मनुष्य या तिर्यंचगति में आनेवाले जीव नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं; जबकि **देवगति से आनेवाले एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं।**

इससे एक बात सहज ही सिद्ध होती है कि जिसप्रकार आराम से सो जानेवाले यात्रियों का सामान चोरी हो जाता है, पर खड़े-खड़े यात्रा करनेवालों का सामान चोरी नहीं होता; उसीप्रकार **भोगों में निरत रहनेवाले सुप्त जीव अनुकूलता में ज्ञानधन को गंवा देते हैं; किन्तु पीड़ा में ही सही, पर निरन्तर सजग रहनेवाले ज्ञानधन को नहीं गंवाते।**

सभी नारकी नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और सभी को नियम से भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान भी होता है; पर वे अपने इस ज्ञान का दुरुपयोग ही करते हैं और उसके माध्यम से अनन्त दु:ख उठाते हैं। माँ और बेटा ह्न दोनों नरक में हों तो बेटा अवधिज्ञान से यह जान लेता है कि पिछले भव में यह मेरी माँ थी और प्रतिदिन मेरी आँख फोड़ने का प्रयास करती थी। यदि मैं प्रयत्नपूर्वक अपनी आँख न बचा पाता तो यह तो मुझे अंधा ही कर देती।

माँ उसकी आँख की सुरक्षा के लिए काजल लगाती थी, पर उसके ज्ञान में यही आता कि ये मेरी आँख फोड़ने का प्रयास करती थी।

हिंसादि महापापों के साथ-साथ मिथ्यात्व नामक महापाप भी नरकगति का कारण है; क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि **सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक नहीं जाते।**

अत: जिन्हें नरक के भयंकर दु:खों से बचना हो, वे अपने आत्मा को जानकर-पहिचानकर, स्वयं में अपनापन स्थापित कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और आत्मा में ही जमकर, रमकर चारित्रवंत होकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़े।

इसप्रकार अधोलोक का वर्णन समाप्त होता है। ●

मध्यलोक

अधोलोक के वर्णन के उपरान्त अब मध्यलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है। **तीन लोक के बीच में होने से इसे मध्यलोक कहते हैं और यह तिरछा बसा है; इसलिए इसे तिर्यक् लोक भी कहा जाता है।**

जिसप्रकार नरक एक-दूसरे के नीचे-नीचे हैं; उसप्रकार द्वीप और समुद्र एक-दूसरे के नीचे-नीचे नहीं, बल्कि **एक-दूसरे को घेरे हुए अगल-बगल में तिरछे बसे हुए हैं।**

मध्यलोक में स्थित द्वीप समुद्रों की चर्चा करनेवाले इस अध्याय के सातवें, आठवें और नौवें सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।।७।।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।८।।

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।।९।।

शुभ हैं नाम जिनके, ऐसे जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र मध्यलोक में हैं।

ये दूने-दूने विस्तारवाले द्वीप और समुद्र अपने से पहलेवाले को घेरे हुए चूड़ी के आकार के समान वलयाकृत हैं।

उन द्वीप समुद्रों के मध्य में, मेरु है नाभि जिसकी, ऐसा एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप नामक द्वीप है।

तात्पर्य यह है कि ये द्वीप और समुद्र ग्राम और नगरों के समान नहीं बने हैं, बल्कि सबसे बीच में एक लाख योजन के विस्तारवाला **जम्बूद्वीप** है। उसे चारों ओर से घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **लवण समुद्र** है, उस लवण समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **धातकीखण्ड द्वीप** है।

उस धातकीखण्ड द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **कालोदधि** नाम का समुद्र है।

उस कालोदधि समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **पुष्करवर द्वीप** है, उस पुष्करवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तार वाला **पुष्करवर समुद्र** है।

उस पुष्करवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **वारुणीवर द्वीप** है, उस वारुणीवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **वारुणीवर समुद्र** है।

उस वारुणीवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **क्षीरवर द्वीप** है, उस क्षीरवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **क्षीरवर समुद्र** है।

उस क्षीरवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **घृतवर द्वीप** है, उस घृतवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **घृतवर समुद्र** है।

उस घृतवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **इक्षुवर द्वीप** है, उस इक्षुवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **इक्षुवर समुद्र** है।

उस इक्षुवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **नंदीश्वर द्वीप** है, उस नंदीश्वर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **नंदीश्वर समुद्र** है।

उस नंदीश्वर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **अरुणवर द्वीप** है, उस अरुणवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **अरुणवर समुद्र** है।

उस अरुणवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **अरुणाभाष द्वीप** है, उस अरुणाभाष द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **अरुणाभाष समुद्र** है।

उस अरुणाभाष समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **कुण्डलवर द्वीप** है, उस कुण्डलवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **कुण्डलवर समुद्र** है।

उस कुण्डलवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **शंखवर द्वीप** है। उस शंखवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **शंखवर समुद्र** है।

उस शंखवर समुद्र को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **रुचकवर द्वीप** है। उस रुचकवर द्वीप को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाला **रुचकवर समुद्र** है।

इसप्रकार ये तेरह द्वीप और तेरह समुद्र हैं।

इसीप्रकार आगे-आगे जिस नाम का द्वीप है, उसी नाम का उससे दूने विस्तारवाला समुद्र है। इसीप्रकार पीछेवाले को घेरे हुए उससे दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

सबसे अंत में **स्वयंभूरमण द्वीप** एवं **स्वयंभूरमण समुद्र** है।

आठवें नंदीश्वर द्वीप में बावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं, जिनकी वंदना करने अष्टाह्निका पर्व में देवगण जाते हैं।

इसके अतिरिक्त ग्यारहवें **कुण्डलवर द्वीप** में तथा तेरहवें **रुचकवर द्वीप** में भी ४-४ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इन सभी की पूजन हम सब तेरहद्वीप विधान अथवा इन्द्रध्वज विधान में करते हैं।

चौथै से सातवें, नौवें-दसवें एवं बारहवें द्वीपों में अकृत्रिम चैत्यालय नहीं हैं।

पाँचवें समुद्र क्षीरसागर का जल निर्जन्तुक एवं दूध के समान सफेद और निर्मल होता है। तीर्थंकरों का जन्माभिषेक उसी निर्जन्तुक पवित्र जल से किया जाता है।

अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन के विस्तारवाला महामत्स्य होता है, जिसके कान में तंदुल के आकार का एक मत्स्य होता है, जो उनके कान का मैल खाकर जिन्दा रहता है।

उक्त तंदुल मत्स्य का उदाहरण शास्त्रों में परिणामों की मलिनता के लिए दिया जाता है।

कहा जाता है कि वह हजार योजन वाला महामत्स्य अपने विशाल मुख को खोले हुए, समुद्र में छह माह तक सोता रहता है, उसके मुख में हजारों छोटी-छोटी मछलियाँ आती-जाती रहती हैं। उन्हें देखकर यह तंदुल मत्स्य सोचता है कि यदि ये मछलियाँ मेरे मुख में आती तो मैं एक को भी नहीं छोड़ता, सभी को निगल जाता; पर यह मूर्ख अपने मुँह में आई मछलियों को भी वापिस चला जाने देता है।

अपने इन दुष्ट परिणामों के कारण एक भी जीव का घात नहीं कर पाने पर भी वह तंदुल मत्स्य मरकर नरक में जाता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं तो आपने मात्र तेरह द्वीपों के ही नाम क्यों गिनाये ?

उत्तर ह्न असंख्यात नाम तो गिने नहीं जा सकते, उनके नाम भी आगम में प्राप्त नहीं होते; हम कैसे गिनाते ?

दूसरी बात यह भी तो है कि यदि आगम में प्राप्त भी होते और हम गिना भी देते तो क्या आप उन्हें याद रखते, ध्यान से पढ़ते; तेरह नामों में ही लोगों को कंटाला छूटने लगता है। तेरह नाम भी कौन याद रखता है, किस-किसको याद हैं ?

प्रश्न ह्न यदि ऐसी बात है तो आपने तेरह का ही आँकड़ा क्यों चुना, दस ही गिनाते या फिर सोलह गिना देते।

उत्तर ह्न तुम ठीक कहते हो, पर बात यह है कि **तेरहवें द्वीप तक अकृत्रिम चैत्यालय हैं, उनके नाम न केवल आगम में अपितु पूजन-विधान में भी आते रहते हैं। इसलिए हमने यहाँ तेरह द्वीप-समुद्रों के नाम गिनाये हैं।**

प्रश्न ह्न फिर अन्तिम द्वीप-समुद्र का नाम क्यों गिनाया ?

उत्तर ह्न एक तो उसमें रहनेवाले तन्दुल मत्स्य की चर्चा अभीष्ट थी, दूसरे कहते हैं कि अन्तिम समुद्र में असंख्यात तिर्यंच पंचम गुणस्थानवर्ती विद्यमान हैं। उनकी उपेक्षा भी हमसे संभव नहीं हुई।।७-९।।

जम्बूद्वीप

जम्बूद्वीप और जम्बूद्वीप के बाहर के द्वीप–समुद्रों की चर्चा हुई। अत: अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि **जम्बूद्वीप के भीतर क्या है ?** इस प्रश्न के उत्तर में आगामी सूत्रों का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार हैं ह्व

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः
क्षेत्राणि।।१०।।

तद्विभाजिनःपूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील–
रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।।११।।

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ।।१२।।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरिमूले च तुल्यविस्ताराः ।।१३।।

भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ह्व ये सात वर्ष हैं, जिन्हें क्षेत्र भी कहते हैं।

इन क्षेत्रों को विभाजित करनेवाले और पूर्व–पश्चिम तक लम्बे हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिण ह्व ये छह वर्षधर अर्थात् वर्षों (क्षेत्रों) को धारण करनेवाले, विभाजित करनेवाले पर्वत हैं।

ये छहों पर्वत; क्रम से सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना ह्व इन मय हैं, इनके समान रंगवाले हैं।

इनके पार्श्व (अगल–बगल) भाग अनेक प्रकार की विचित्र मणियों से जड़े हुए हैं; और ऊपर, मध्य एवं मूल में एक से विस्तार (चौड़ाई) वाले हैं।

तात्पर्य यह है कि ये पर्वत, पर्वतों जैसे ऊबड़–खाबड़ नहीं हैं, अपितु **दीवालों जैसे ऊपर–नीचे और मध्य में एकसी चौड़ाई वाले हैं और अनेक प्रकार की रंगीन मणियों से जड़े हुए हैं, सुशोभित हैं।**

जम्बू नाम के वृक्ष के कारण पड़ा है नाम जिसका, ऐसा यह प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप चारों ओर से लवणसमुद्र से घिरा हुआ गोलाकार चूड़ी के आकार जैसा एक द्वीप है। इस द्वीप में पूरब से लेकर पश्चिम दिशा तक फैले हुए हिमवन आदि छह पर्वत हैं, जिनके कारण ये द्वीप भरतादि सात क्षेत्रों में विभाजित हो गया है।

ये पर्वत विभिन्न प्रकार की मणियों से जड़े हुए अत्यंत मजबूत सुव्यवस्थित दीवालों जैसे नीचे से ऊपर तक एकसी चौड़ाईवाले हैं।

उक्त जम्बू नाम का वृक्ष वस्तुत: वृक्ष नहीं है, वनस्पतिकाय नहीं है। यह तो वृक्ष जैसे आकार की पृथिवी है, पृथिवीकाय है ।।१०–१३।।

सरोवर, कमल और देवियाँ

उक्त हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित सरोवर और कमल तथा उनकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई एवं उन कमलों पर रहनेवाली देवियाँ ह्न इन सब बातों को स्पष्ट करनेवाले आगामी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

पद्ममहापद्मतिगिंछकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदा-स्तेषामुपरि ।।१४।।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ।।१५।।

दशयोजनावगाहः ।।१६।।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।।१७।।

तद्द्विगुणद्विगुणा विस्ताराः ह्रदाः पुष्कराणि च ।।१८।।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्यो-पमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ।।१९।।

हिमवन आदि पर्वतों के ऊपर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के सरोवर (तालाब) हैं।

पहला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा है।

पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है।

इसके बीच में एक योजन का कमल है।

आगे के सरोवर और कमल दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

इन कमलों में क्रमशः श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ह्न ये छह देवियाँ सामानिक और पारिषद देवों के साथ निवास करती हैं तथा इनकी आयु एक पल्योपम है।

इन हिमवन, महाहिमवन आदि पर्वतों पर क्रमशः पद्म, महापद्म आदि सरोवर (तालाब) हैं।

पद्म नामक प्रथम सरोवर (तालाब), पूरब से पश्चिम तक एक हजार योजन लंबा और उत्तर से दक्षिण तक पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तल भाग वज्र से बना हुआ है और उसके किनारे अनेक प्रकार की मणियों और सोने से चित्र-विचित्र हैं, विभिन्न रंगों वाले हैं।

इस पद्म सरोवर की गहराई दस योजन है और इसमें **एक योजन का कमल बना हुआ है। यह कमल वनस्पतिकाय का नहीं है; किन्तु यह कमल के आकार की पृथिवी ही है।**

इसके आगे तिगिंछ सरोवर तक के सरोवर और कमल लंबाई-चौड़ाई आदि की अपेक्षा दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

केशरी नामक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई तिगिंछ सरोवर के समान ही है।

महापुण्डरीक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई केशरी से आधी है और पुण्डरीक सरोवर की लंबाई, चौड़ाई और गहराई महापुण्डरीक से आधी है।

इसप्रकार पहला पद्म सरोवर, पूरब से पश्चिम तक एक हजार योजन लम्बा, उत्तर से दक्षिण तक पाँच सौ योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई दश योजन है और उसमें **एक योजन लंबा-चौड़ा कमल है।**

दूसरा महापद्म सरोवर, दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई बीस योजन है और उसमें **दो योजन लंबा-चौड़ा कमल है।**

तीसरा तिगिंछ सरोवर, चार हजार योजन लम्बा और दो हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई चालीस योजन है और उसमें चार योजन लंबा-चौड़ा कमल है।

चौथा केशरी सरोवर, चार हजार योजन लम्बा और दो हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई चालीस योजन है और **उसमें चार योजन लंबा-चौड़ा कमल है।**

पाँचवाँ महापुण्डरीक सरोवर, दो हजार योजन लम्बा और एक हजार योजन चौड़ा है एवं उसकी गहराई बीस योजन है और उसमें **दो योजन लंबा–चौड़ा कमल है।**

छठवाँ पुण्डरीक सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा एवं उसकी गहराई दस योजन है और उसमें **एक योजन लंबा–चौड़ा कमल है।**

तात्पर्य यह है कि पद्म और पुण्डरीक तालाब समान आकार वाले हैं। इसीप्रकार महापद्म और महापुण्डरीक की स्थिति तथा तिगिंछ और केशरी सरोवरों की स्थिति भी समान ही है।

इसप्रकार सुमेरु पर्वत से उत्तर भाग की सम्पूर्ण रचना दक्षिण भाग के समान ही लम्बी–चौड़ी है।

उक्त पद्म, महापद्म, तिगिंछ आदि सरोवरों के कमलों में एक पल्य की स्थितिवाली **श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ सामानिक और पारिषद देवों के साथ रहती हैं।**

इसप्रकार पद्म नामक सरोवर के कमल में **श्री** नामक देवी, महापद्म नामक सरोवर के कमल में **ह्री** नामक देवी, तिगिंछ नामक सरोवर के कमल में **धृति** नामक देवी, केशरी नामक सरोवर के कमल में **कीर्ति** नामक देवी, महापुण्डरीक नामक सरोवर के कमल में **बुद्धि** नामक देवी एवं पुण्डरीक नामक सरोवर के कमल में **लक्ष्मी** नामक देवी रहती है।

सामानिक और पारिषद देवों की विशेष चर्चा चौथे अध्याय में कल्पोपन्न देवों के संदर्भ में होगी।

इनमें श्री, ह्री, धृति ह्न ये देवियाँ सौधर्म इन्द्र की सेवा में रहती हैं एवं कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ह्न ये देवियाँ ईशान इन्द्र की सेवा में रहती हैं।।१४–१९।।

गंगा–सिन्धु आदि नदियाँ

हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित पद्म आदि सरोवरों से गंगा–सिंधु आदि १४ नदियाँ निकलती हैं; जो भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं। इनकी स्थिति बतानेवाले सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा–नारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्म–ध्यगाः ।।२०।।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।।२१।।

शेषास्त्वपरगाः ।।२२।।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ।।२३।।

भरत क्षेत्र में गंगा–सिंधु; हैमवत क्षेत्र में रोहित–रोहितास्या; हरिक्षेत्र में हरित–हरिकान्ता; विदेह क्षेत्र में सीता–सीतोदा; रम्यक् क्षेत्र में नारी–नरकान्ता; हैरण्यवत क्षेत्र में स्वर्णकूला–रूप्यकूला और ऐरावत क्षेत्र में रक्ता–रक्तोदा ह्न इसप्रकार सात क्षेत्रों के बीच में चौदह नदियाँ बहती हैं।

हर एक, दो के समूह में से पहली नदी, पूर्व की ओर बहती है।

बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाती हैं।

गंगा और सिन्धु नदियाँ चौदह–चौदह हजार सहायक नदियों से घिरी हुई हैं।

ये गंगा–सिन्धु आदि नदियाँ हिमवन आदि पर्वतों पर स्थित, पद्म आदि सरोवरों से निकलती हैं। पद्म नामक सरोवर से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या; महापद्म सरोवर से रोहित और हरितकान्ता; तिगिंछ नामक सरोवर से हरित और सीतोदा; केशरी नामक सरोवर से सीता और नरकान्ता; महापुण्डरीक सरोवर से नारी और रूप्यकूला तथा पुण्डरीक नामक सरोवर से स्वर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ निकलती हैं।

भरत क्षेत्र के उत्तर में हिमवन पर्वत है, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में लवण समुद्र है। भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है तथा पच्चीस योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है।

भूमि से दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वत के दक्षिण तथा उत्तर में दो श्रेणियाँ हैं, **जिनमें विद्याधरों के नगर बसे हुए हैं।**

वहाँ से और दस योजन ऊपर जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों ओर पुन: दो श्रेणियाँ हैं, **जिनमें व्यन्तर देव रहते हैं।**

वहाँ से पाँच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत का शिखर तल है, **जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं।**

इस पर्वत में दो गुफाएँ हैं, जो आर-पार हैं। हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म सरोवर से निकल कर गंगा-सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओं की देहली के नीचे से निकलती हुई लवण समुद्र के दक्षिण भाग में मिलती है।

विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं। तीन खण्ड विजयार्ध के उत्तर में हैं और तीन खण्ड दक्षिण में हैं। दक्षिण के तीन खण्डों के बीच का खण्ड आर्य खण्ड कहलाता है। शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं।

उक्त गुफाओं में से पूर्वदिशावाली खण्डप्रपात नामक गुफा से **चक्रवर्ती उत्तर के तीनों खण्डों को जीतने जाता है और पश्चिमदिशावाली तिमिस्र नामक गुफा से लौटकर वापिस आता है।**

इसी से **इस पर्वत का नाम विजयार्ध** है; क्योंकि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्ती की आधी विजय हो जाती है। उत्तर के तीन खण्डों के बीच के खण्ड में **वृषभाचल पर्वत है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम उत्कीर्ण कर देता है।**

पुराणों में चर्चा आती है कि **जब भरत चक्रवर्ती उक्त वृषभाचल पर अपना नाम लिखने गये तो वहाँ रंचमात्र स्थान खाली नहीं था।**

तात्पर्य यह है कि अभी तक भरत क्षेत्र में इतने अधिक चक्रवर्ती हो गये हैं कि भरत चक्रवर्ती को वहाँ अपना नाम लिखने को जगह नहीं मिली। **अन्ततोगत्वा भरत ने एक का नाम मिटाकर अपना नाम लिख दिया।**

भरत चक्रवर्ती को इस बात का अभिमान था कि मैं भरत क्षेत्र का पहला चक्रवर्ती हूँ; पर यह सब देखकर उनका मान गल गया और वे सोचने लगे कि जब **अगला चक्रवर्ती दिग्विजय करता हुआ यहाँ आवेगा तो वह मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिख देगा।**

जगह-जगह पट्टियों पर नाम लिखानेवालों को भी कुछ सोचना चाहिए।

भरत क्षेत्र की तरह ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमें भी विजयार्ध पर्वत वगैरह हैं तथा विजयार्ध पर्वत और रक्ता-रक्तोदा नदी के कारण उसके भी छह खण्ड हो गये हैं।

सब क्षेत्रों के बीच में विदेहक्षेत्र है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वत के मध्य स्थित है। **वहाँ मनुष्य आत्मध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके देह के बंधन से सदा छूटते रहते हैं। इसी से उसका 'विदेह' नाम पड़ा हुआ है। वहाँ हमेशा चौथे काल जैसी स्थिति ही रहती है।**

उस विदेह क्षेत्र के बीच में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशावाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं।

नील पर्वत से निकलकर सीता नदी पूर्व विदेह के मध्य से होकर बहती है और निषध पर्वत से निकलकर सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इससे इन नदियों के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के भी दो-दो भाग हो गये हैं। इस तरह विदेह के चार भाग हैं।

प्रत्येक भागों में आठ-आठ उप विभाग हैं। यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतंत्र देश है। **अत: विदेह क्षेत्र में ८ह्व४=३२ देश हैं,** वे सब

विदेह कहलाते हैं। इन देशों में भी छह-छह खण्ड हैं। वहाँ पर एक देश के एक-एक चक्रवर्ती होते हैं, हो सकते हैं।

सुमेरु पर्वत एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वी के अन्दर उसकी नींव है और निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है। ऊपर चालीस योजन की चूलिका है।

उसके चारों ओर पृथ्वी पर भद्रशाल नाम का वन है। उसमें पाँचसौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वत के चारों ओर की कटनी पर **दूसरा नन्दन वन है।**

नन्दन वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर **तीसरा सौमनस वन है।**

सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है। उसके बीच में चालीस योजन ऊँची चूलिका है और चूलिका के चारों ओर पाण्डुक वन है। इस वन के चारों दिशाओं में पाण्डुक शिला, पाण्डुकम्बल शिला, रक्त शिला और रक्तकम्बल शिला नाम की चार शिलायें हैं।

उन शिलाओं पर भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक पाण्डुक शिला पर, पश्चिम विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक पाण्डुकम्बल शिला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक रक्त शिला पर और पूर्व विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक रक्तकम्बल शिला पर होता है।

गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा की १४-१४ हजार सहायक नदियाँ हैं, रोहित-रोहितास्या और स्वर्णकूला-रूप्यकूला की २८-२८ हजार सहायक नदियाँ हैं, हरित-हरिकान्ता और नारी-नरकान्ता की ५६-५६ हजार सहायक नदियाँ हैं एवं सीता-सीतोदा की १ लाख १२ हजार सहायक नदियाँ हैं।।२०-२३।।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

अब तक भरतादि क्षेत्रों एवं हिमवन आदि पर्वतों की विविध प्रकार से चर्चा हुई। अब **उनके विस्तार की चर्चा करते हैं।**

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागायोजनस्य।।२४।।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः।।२५।।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः।।२६।।

भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग अधिक है।

विदेहक्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र, भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र, दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तारवाले हैं।

भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस ($५२६^{६}/१९$) योजन है।

हिमवन पर्वत और शिखरिण पर्वत में प्रत्येक का विस्तार एक हजार बावन एवं बारह बटा उन्नीस ($१०५२^{१२}/१९$) योजन है।

हैमवत क्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच एवं पाँच बटा उन्नीस ($२१०५^{५}/१९$) योजन है।

महाहिमवन पर्वत और रुक्मि पर्वत में प्रत्येक का विस्तार चार हजार दो सौ दस एवं दस बटा उन्नीस ($४२१०^{१०}/१९$) योजन है।

हरि क्षेत्र और रम्यक् क्षेत्र में प्रत्येक का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस एवं एक बटा उन्नीस ($८४२१^{१}/१९$) योजन है।

निषध पर्वत और नील पर्वत में प्रत्येक का विस्तार सोलह हजार आठ सौ ब्यालीस एवं दो बटा उन्नीस (१६८४२ ^{२}/१९) योजन है।

विदेह क्षेत्र का विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी एवं चार बटा उन्नीस (३३६८४ ^{४}/१९) योजन है।।२४-२६।।

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खड़े हो जाइए और देखिये इस दुनिया का उतावलापन/चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खड़ा है, आपको रोकने के लिए, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं।

यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सड़क पार करना खतरे से खाली नहीं, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिसवाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं ? क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है ? इतनी भी जल्दी किस काम की? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है।

क्या यह इस देश का दुर्भाग्य नहीं है कि आप अपने उतावलेपने के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर न मर जावें, मात्र इस इसलिए लाखों पुलिसमैनों को चोराहों पर खड़ा रहना पड़ता है।

क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२२१

कालचक्र

उक्त **क्षेत्रों में काल का परिवर्तन किसप्रकार होता है ?** अब आगामी सूत्रों में यह बताते हैं ह्न

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-सर्पिणीभ्याम् ।।२७।।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ।।२८।।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-कुरवकाः ।।२९।।

तथोत्तराः ।।३०।।

विदेहेषु संख्येयकालाः ।।३१।।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ।।३२।।

छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में एक ही अवस्था रहती है, उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के मनुष्य, तिर्यंच क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

उत्तर के क्षेत्रों में रहनेवाले मनुष्य भी दक्षिण में स्थित हैमवतादि के मनुष्यों के समान आयुवाले होते हैं।

विदेह क्षेत्रों में मनुष्य और तिर्यंचों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग है।

प्रश्न ह्न भरतक्षेत्र का विस्तार पहले पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस (५२६ ^{६}/१९) योजन बताया था और अब यहाँ जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ (१९०वाँ) भाग बता रहे हैं ह्न यह भिन्नता क्यों है ?

उत्तर ह्व दोनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि १ लाख में १९० का भाग दो तो उत्तर पाँच सौ छब्बीस एवं छह बटा उन्नीस (५२६^{६}/१९) ही आता है। मात्र सरलता के लिए यह सूत्र लिखा गया है।

दूसरी बात यह है कि जहाँ ५२६^{६}/१९ योजन लिखा है, वहाँ भरत क्षेत्र के विस्तार का नाप बताया है और यहाँ जम्बूद्वीप का १९०वाँ भाग लिखकर जम्बूद्वीप के विस्तार से भरतक्षेत्र के विस्तार की तुलना की गई है।

जहाँ **उत्सर्पिणी काल में क्रमश: विकास की प्रक्रिया है, वहाँ अवसर्पिणी काल में क्रमश: ह्रास की प्रक्रिया है।** उत्सर्पिणी में प्राणियों के बल, आयु और शरीरादि का प्रमाण क्रमश: बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इसप्रकार यदि **उत्सर्पिणी बढ़ने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर है।**

इसप्रकार कुल मिलाकर **बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल** होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थंकरों की **दो चौबीसी होती हैं।** एक अवसर्पिणी में और एक उत्सर्पिणी में।

अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं ह्व (१) सुखमा-सुखमा (२) सुखमा (३) सुखमा-दु:खमा (४) दु:खमा-सुखमा (५) दु:खमा (६) दु:खमा-दु:खमा।

इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी छह प्रकार का होता है ह्व (६) दु:खमा-दु:खमा (५) दु:खमा (४) दु:खमा-सुखमा (३) सुखमा-दु:खमा (२) सुखमा (१) सुखमा-सुखमा।

उक्त कालों में सुख-दु:ख की स्थिति उनके नामानुसार ही होती है। यहाँ सुख शब्द लौकिक सुख (भोग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तृतीय काल तक भोग की ही प्रधानता रहती है, यहाँ तक कि आध्यात्मिक उन्नति के तो अवसर ही प्राप्त नहीं होते।

पहला काल (सुखमा-सुखमा) **चार कोड़ाकोड़ी सागर** का है। दूसरा काल (सुखमा) **तीन कोड़ाकोड़ी सागर** का है। तीसरा काल (सुखमा-दु:खमा) **दो कोड़ाकोड़ी सागर का** है। चौथा काल (दु:खमा-सुखमा) **ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का** है। पाँचवाँ काल (दु:खमा) **इक्कीस हजार वर्ष का** तथा छठवाँ काल (दु:खमा-दु:खमा) भी **इक्कीस हजार वर्ष का** है।

तीर्थंकरों की उत्पत्ति चतुर्थकाल (दु:खमा-सुखमा) में ही होती है और मुक्तिमार्ग भी चतुर्थकाल में ही चलता है। इस दृष्टि से चतुर्थकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय काल में चौदह कुलकर और चतुर्थ काल में त्रेसठ शलाका महापुरुष होते हैं। त्रेसठ शलाका महापुरुष निम्नानुसार हैं ह्व **२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र।**

वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचमकाल चल रहा है। इसमें न तो कुलकर ही होते हैं और न त्रेसठ शलाका महापुरुषों की उत्पत्ति ही होती है। किसी को मुक्ति (मोक्ष) की भी प्राप्ति नहीं होती है। **चतुर्थकाल में जो त्रेसठ शलाका महापुरुष हुए हैं, विशेषकर उनके चरित्रों का वर्णन ही जैनपुराणों का कथ्य है।**

इसप्रकार अबतक अनन्त कल्पकाल बीत चुके हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। तदनुसार तीर्थंकरों की अनन्त चौबीसियाँ इस भरत क्षेत्र में हो चुकी हैं और भविष्य में अनन्त और होंगी। ऐसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र की है।

विदेह क्षेत्र की व्यवस्था इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। वहाँ सदा चतुर्थकाल के आरंभ जैसी स्थिति रहती है।

अभी भरत-ऐरावत क्षेत्र में **हुण्डावसर्पिणी** काल चल रहा है। असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक **हुण्डावसर्पिणी** काल आता है। **इस काल में कुछ अनहोनी बातें होती हैं।**

यथा ह्न तृतीय काल में तीर्थंकर की उत्पत्ति, तृतीय काल में मुक्ति, तीर्थंकरों के उपसर्ग, चक्रवर्ती का मानभंग आदि।

छठवें दु:खमा-दु:खमा काल के अन्त में प्रलयकाल आता है।

सम्पूर्ण आर्यखंड में प्रलय होने पर मनुष्यों के बहत्तर युगल अथवा अनेक मनुष्य शेष रह जाते हैं। ये विजयार्द्ध गुफा में चले जाते हैं।

प्रलयकाल में क्रम से **सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष और क्षार मेघ सात-सात दिन बरसते हैं। इसप्रकार ४९ दिन तक होता है।**

इसप्रकार दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण **अवसर्पिणी** का काल समाप्त होता है।

इसके बाद (प्रलय के बाद) दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्पसर्पिणी काल प्रारंभ होता है। उसमें सर्वप्रथम दु:खमा-दु:खमा नामक छठवाँ काल रहता है। इसके प्रारंभ में उनचास दिन पर्यन्त रात-दिन **क्षीरमेघ** बरसते हैं, पुन: उतने ही दिन **अमृतमेघ** बरसते हैं। पृथ्वी रुक्षता को छोड़ देती है। उन मेघों के माहात्म्य से वर्ण आदि गुण उत्पन्न होता है। **औषधि, वृक्ष, गुल्म, तृण आदि सरस हो जाते हैं।**

अवसर्पिणी के अन्त समय में जो युगल या अनेक मनुष्य विजयार्द्ध गुफा में प्रविष्ट हुए थे, वे गुफा से निकलकर सरस औषधि और धान्य आदि का सेवन कर अपने जीवन को सहर्ष व्यतीत करते हैं।

ये सब स्थिति भरत और ऐरावत क्षेत्र की है।

दक्षिण में स्थित हैमवत क्षेत्र की और उत्तर में स्थित हैरण्यवत क्षेत्र की स्थिति तीसरे काल (सुखमा-दु:खमा) के समान रहती है। आयु एक पल्य, ऊँचाई दो हजार धनुष, आहार एक दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग नील कमल के समान होता है।

दक्षिण में स्थित हरि क्षेत्र में और उत्तर में स्थित रम्यक क्षेत्र की स्थिति दूसरे काल (सुखमा) के समान रहती है। आयु दो पल्य, ऊँचाई चार हजार धनुष, आहार दो दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग शंख के समान सफेद होता है।

दक्षिण में स्थित देवकुरु क्षेत्र में और उत्तर में स्थित उत्तर कुरु क्षेत्र की स्थिति पहले काल (सुखमा-सुखमा) के समान रहती है। आयु तीन पल्य, ऊँचाई छह हजार धनुष, आहार तीन दिन के अन्तराल से और शरीर का रंग सोने के समान पीला होता है।

पूर्व एवं पश्चिम विदेह क्षेत्र के ३२ देशों की स्थिति सदा चतुर्थ काल (दु:खमा-सुखमा) के आरंभ के समान रहती है।[१]

ऊँचाई पाँच सौ धनुष, प्रतिदिन भोजन करनेवाले, उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व प्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

पूर्व के संबंध में **सर्वार्थसिद्धि** नामक टीका ग्रन्थ में एक गाथा उद्धृत की गई है; जो इसप्रकार है ह्न

पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं।।

एक पूर्व का परिमाण (नाप) सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि एक पूर्व, सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष का होता है।।२७-३२।।

१. राजवार्तिक, भाग-१, पृष्ठ ३८८

समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है। अत: निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-५८

धातकीखण्ड एवं पुष्करार्द्ध द्वीप

जम्बूद्वीप की चर्चा होने के उपरान्त अब **दूसरे द्वीप धातकीखण्ड और तीसरे द्वीप पुष्करार्द्ध की चर्चा करते हैं ह्न**

द्विर्धातकीखण्डे ।।३३।।

पुष्करार्द्धे च ।।३४।।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।।३५।।

धातकीखण्ड नाम के दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

पुष्करार्द्ध द्वीप में भी सब रचना जम्बूद्वीप की रचना से दूनी-दूनी है।

मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं, मानुषोत्तर पर्वत से परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

अपने सिरे से लवणोदधि और कालोदधि नामक समुद्रों को स्पर्श करनेवाले और दक्षिण से उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतों से विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीप के दो भाग हो जाते हैं ह्न पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड।

इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डों के मध्य में दो मेरु पर्वत हैं। इन दोनों के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवन आदि पर्वत हैं।

इसप्रकार दो भरत दो हिमवन इत्यादि रूप से जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड द्वीप में दूनी संख्या जाननी चाहिए।

जम्बूद्वीप में हिमवन आदि पर्वतों का जो विस्तार है, धातकीखण्ड द्वीप में हिमवन आदि पर्वतों का उससे दूना विस्तार है। **जम्बूद्वीप में जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है, धातकीखण्डद्वीप में धातकी वृक्ष स्थित है। इसके संबंध से द्वीप का नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है।** इसको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है; जिसका विस्तार आठ लाख योजन है। कालोदधि को घेरे हुए पुष्करद्वीप है, जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है।

जिसप्रकार धातकीखण्ड द्वीप में हिमवन आदि का विस्तार कहा है; उसीप्रकार पुष्करार्ध में हिमवन आदि का विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही हैं। दो इष्वाकार और दो मेरु पर्वत पहले के समान जानना चाहिए। जहाँ पर जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, वहाँ पुष्करद्वीप में पुष्करवृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीप का पुष्करद्वीप यह नाम रूढ़ हुआ है।

ढ़ाई द्वीप और इनके मध्य में आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोक की सीमा पर स्थित होने से इसका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है।

मनुष्य इसी क्षेत्र में रहते हैं, उनका बाहर जाना सम्भव नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि गर्भ में आने के बाद मरणपर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीर के साथ वे इस क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते।

सम्मूर्च्छन मनुष्य तो आर्यखण्ड की महिलाओं के औदारिक शरीर के आश्रय से होते हैं, इसलिए उनका मनुष्यलोक के बाहर जाना सम्भव नहीं है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी अवस्था में मनुष्य जीव इस क्षेत्र के बाहर नहीं पाये जाते हैं। ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं, जिनके होने पर मनुष्य जीव इस क्षेत्र के भी बाहर पाये जाते हैं।

१. जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीप के बाहर उत्पन्न होनेवाले हैं, वे यदि मरण के पहले मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो इसके द्वारा उनके आत्मप्रदेशों का ढाई द्वीप के बाहर गमन देखा जाता है।

२. ढाई द्वीप के बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, उनके मनुष्यायु और मनुष्य गतिनाम कर्म का उदय होने पर भी ढाई द्वीप में प्रवेश करने के पूर्व तक उनका इस क्षेत्र के बाहर अस्तित्व देखा जाता है।

३. केवलिसमुद्घात के समय उनके आत्मप्रदेशों का मनुष्यलोक के बाहर अस्तित्व देखा जाता है।

इन तीन अपवादों को छोड़कर और किसी अवस्था में मनुष्यों का मनुष्यलोक के बाहर अस्तित्व नहीं देखा जाता।

ढाई द्वीप में पाँच मेरु पर्वत हैं, जिनके नाम सुदर्शन मेरु, विजय मेरु, अचल मेरु, मंदर मेरु और विद्युन्माली मेरु हैं।

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सुदर्शन नामक मेरु है; इसे सुमेरु पर्वत भी कहते हैं।

पूर्व धातकीखण्ड के विदेह क्षेत्र में विजय नामक मेरु है। पश्चिम धातकीखण्ड के विदेह क्षेत्र में अचल नामक मेरु है।

पूर्व पुष्करार्ध के विदेह क्षेत्र में मंदर नामक मेरु है। पश्चिम पुष्करार्ध के विदेह क्षेत्र में विद्युन्माली नामक मेरु है।

इन सबकी वास्तविक स्थिति को निम्नांकित ढाईद्वीप के मानचित्र से भलीभाँति समझा जा सकता है।।३३-३५।। **(आवरण पृष्ठ २ भी देखें)**

ढाईद्वीप

मनुष्यों के प्रकार

ढाईद्वीप में रहनेवाले मनुष्यों की चर्चा के संदर्भ में अब उनके अनेक प्रकारों की चर्चा करते हैं ह्न

आर्या म्लेच्छाश्च ।।३६।।

आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं।

मनुष्य दो प्रकार के हैं ह्न आर्य और म्लेच्छ। आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं ह्न ऋद्धिधारी और बिना ऋद्धिवाले।

जो आठ प्रकार की चौंसठ ऋद्धियों में से किसी एक या एकाधिक ऋद्धि के धारी होते हैं; उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है, वे बिना ऋद्धिवाले आर्य हैं।

बिना ऋद्धिवाले आर्य पाँच प्रकार के होते हैं ह्न क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य और दर्शन आर्य।

काशी, कोशल आदि आर्य क्षेत्रों में जन्म लेनेवाले मनुष्य **क्षेत्र आर्य** हैं।

इक्ष्वाकु, भोज आदि वंशों में जन्म लेनेवाले मनुष्य **जाति आर्य** हैं।

कर्म आर्य तीन प्रकार के होते हैं ह्न **सावद्यकर्म आर्य, अल्प सावद्यकर्म आर्य और असावद्य कर्म आर्य।**

सावद्य कर्म आर्य छह प्रकार के होते हैं ह्न

१. जो तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि करने की जीविका करते हैं, वे **असिकर्म आर्य** हैं।

२. जो आय-व्यय आदि लिखने की आजीविका करते हैं, वे **मसिकर्म आर्य** हैं।

३. जो खेती के द्वारा आजीविका करते हैं, वे **कृषिकर्म आर्य** हैं।

४. जो विविध कलाओं में प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका करते हैं, वे **विद्याकर्म आर्य** हैं।

५. धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह **शिल्पकर्म आर्य** हैं।

६. वणिज/व्यापार करनेवाले **वणिक् कर्म आर्य** हैं।

ये छहों सावद्य कर्म आर्य के होते हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं, वे **अल्प सावद्य कर्म आर्य** होते हैं और पूर्ण संयमी साधु **असावद्य कर्म आर्य** हैं।

चारित्र आर्य दो प्रकार के होते हैं ह्न

१. जो बिना उपदेश के स्वयं ही चारित्र का पालन करते हैं।

२. जो पर के उपदेश से चारित्र का पालन करते हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं ह्न **१. अन्तर्द्वीपज और २. कर्मभूमिज।**

१. लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र के भीतर जो छ्यानवे द्वीप हैं, उनके वासी मनुष्य, **अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ** कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार-विहार सभी असंस्कृत होता है।

२. म्लेच्छ खण्डों के अधिवासी मनुष्य, **कर्मभूमिज म्लेच्छ** कहे जाते हैं।।३६।।

> इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती हैं; पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती हैं और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अत: यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। **चर्चा तो वही अपेक्षित होती, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले।**
>
> **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८७**

कर्मभूमि और भोगभूमि

अब **अढाईद्वीप में कर्मभूमियाँ और भोगभूमियाँ कहाँ-कहाँ हैं ह्न** यह स्पष्ट करते हैं।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तर-कुरुभ्यः ।।३७।।

पाँच मेरु संबंधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ह्न इन दोनों को छोड़कर पाँच विदेह ह्न इसप्रकार ढाईद्वीप में कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

जहाँ शुभाशुभ कर्मों (कार्य) को करने की और आठ कर्मों का नाश करने की प्रधानता हो, उसे **कर्मभूमि** कहते हैं।

कर्मभूमि के जीव पाप का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करें तो **सातवें नरक तक जा सकते हैं।** पुण्य का उत्कृष्ट पुरुषार्थ करें तो **सर्वार्थसिद्धि में जा सकते हैं** और कर्म के नाश का पुरुषार्थ करें तो **मोक्ष भी जा सकते हैं।**

चारों गतियों के और पंचमगति/मोक्ष का रास्ता इन कर्मभूमियों से खुलता है।

भोगभूमि में कर्म की नहीं भोगने की प्रधानता होती है। वहाँ आजीविका के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; **सबकुछ भोग सामग्री कल्पवृक्षों से उपलब्ध हो जाती है।**

भोगभूमि के जीव मरकर नियम से देवगति में ही जाते हैं। न तो वे नरकादि गतियों में जाते हैं और न मोक्ष में।

ढाईद्वीप में ये कर्मभूमियाँ १५ और भोगभूमियाँ ३० हैं।

पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर ५ विदेह ह्न ये १५ कर्मभूमियाँ हैं। इनका खुलासा इसप्रकार है ह्न

जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर एक विदेह ह्न **ये तीन।**

धातकीखण्डद्वीप में दो भरत, दो ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर दो विदेह ह्न **ये छह।**

पुष्करार्ध में दो भरत, दो ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर दो विदेह ह्न **ये छह।**

इसप्रकार ये १५ कर्मभूमियाँ हैं।

देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक और हैरण्यवत ह्न ये **भोगभूमियाँ** कही जाती हैं। इसका खुलासा इसप्रकार है ह्न

जम्बूद्वीप में एक हैमवत, एक हरि, एक रम्यक, एक हैरण्यवत, एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु ह्न **ये छह।**

धातकीखण्डद्वीप में दो हैमवत, दो हरि, दो रम्यक, दो हैरण्यवत, दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु ह्न **ये बारह।**

पुष्करार्द्धद्वीप में दो हैमवत, दो हरि, दो रम्यक, दो हैरण्यवत, दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु ह्न **ये बारह।**

इसप्रकार ये ३० भोगभूमियाँ हैं।

इसप्रकार ढाईद्वीप में १५ कर्मभूमियाँ और ३० भोगभूमियाँ ह्न कुल ४५ भूमियाँ हैं।।३७।।

> भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। **स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है। ह्न ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है।** तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जायेगा, कृतकृत्य हो जायेगा। **एक बार ऐसा स्वीकार करके तो देख।** **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३**

मनुष्य और तिर्यंचों की स्थिति

अब अध्याय के अन्त में मनुष्य और तिर्यंचों की आयुकर्म की स्थिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह्न

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।।३८।।

तिर्यग्योनिजानां च।।३९।।

मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है।

मनुष्यों की स्थिति के समान ही तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

पल्यों का स्वरूप सागर के स्वरूप के साथ स्पष्ट किया जा चुका है।

पल्य तीन प्रकार के होते हैं ह्न व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य।

इन तीन पल्यों में से पहला **व्यवहारपल्य** तो केवल दो पल्यों के निर्माण का मूल है, उसी के आधार पर उद्धारपल्य और अद्धापल्य बनते हैं। इसी से इसे व्यवहारपल्य का नाम दिया गया है।

उद्धारपल्य के रोमों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या गिनी जाती है और **अद्धापल्य के द्वारा नारकियों की, तिर्यंचों की, देवों और मनुष्यों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।**

उक्त सूत्रों में मनुष्य और तिर्यंचों की आयु की उत्कृष्ट स्थिति **तीन पल्य** की कही गई है। उसमें पल्य के रूप में अद्धापल्य को जानना चाहिए।

दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का एक अद्धा सागर होता है।

तिर्यंच तीन प्रकार के होते हैं ह्न एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

एकेन्द्रियों में शुद्ध पृथिवीकायिक जीवों की आयु **बारह हजार वर्ष** होती है और खर पृथिवीकाय की आयु **बाईस हजार वर्ष** होती है।

जलकायिक जीवों की आयु **सात हजार वर्ष,** वायुकायिक की **तीन हजार वर्ष** और वनस्पतिकायिक की **दस हजार वर्ष** उत्कृष्ट आयु होती है। अग्निकायिक की आयु **तीन दिन-रात** होती है।

विकलेन्द्रियों में, दो इन्द्रियों की उत्कृष्ट आयु **बारह वर्ष,** तेइन्द्रियों की **उनचास रात-दिन** और चौइन्द्रियों की **छह मास** होती है।

पंचेन्द्रियों में जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु **एक पूर्व कोटि,** नकुल वगैरह की **नौ पूर्वांग,** सर्पों की **बयालीस हजार वर्ष,** पक्षियों की **बहत्तर हजार वर्ष** और चौपायों की **तीन पल्य** होती है।

सभी की जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त की होती है।

इसप्रकार इस तीसरे अध्याय में नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों तथा कुछ देवों के रहने के स्थान आदि की चर्चा हुई। इसी प्रसंग में अधोलोक और मध्यलोक (तिर्यग लोक) की भी चर्चा हुई।।३८-३९।।

इसप्रकार यहाँ तीसरा अध्याय समाप्त होता है।

> पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। **भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है;** शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।
>
> **ह्न सारसमयसार, पृष्ठ-४-५**

चौथा अध्याय
पृष्ठभूमि

चतुर्गति के जीव कहाँ-कहाँ रहते हैं ? ह्न इस संदर्भ में तीसरे अध्याय में तीन लोक की चर्चा आरंभ हुई थी; क्योंकि एक आकाश (अलोकाकाश) को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य तो लोकाकाश में ही रहते हैं। लोकाकाश तीन लोकों में विभाजित है।

नारकी अधोलोक में रहते हैं और **मनुष्य मध्यलोक** में; किन्तु **तिर्यंच और देव तीनों लोकों में पाये जाते हैं।** पाँचों सूक्ष्म स्थावरकायिक जीव भी तिर्यंच ही हैं और वे सर्वत्र पाये ही जाते हैं।

देवों में भी कुछ व्यन्तर और भवनवासी प्रथम नरक के खर और पंक भाग के रूप में अधोलोक में तथा कुछ व्यन्तर मध्यलोक में रहते हैं।

ज्योतिषी तो मध्यलोक में रहते ही हैं। **एक वैमानिकदेव ही हैं; जो ऊर्ध्वलोक में रहते हैं, स्वर्गों में रहते हैं।**

अधोलोक और मध्यलोक की चर्चा तीसरे अध्याय में हो चुकी है। यद्यपि अब ऊर्ध्वलोक की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; तथापि अभी देवगति के जीवों की चर्चा भी बहुत कुछ शेष है; अत: **सर्वप्रथम देवों की चर्चा आरंभ करते हैं।** ●

> दिव्यध्वनि में स्वभावगत स्वतंत्रता की घोषणा के साथ-साथ पर्याय में पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए स्वावलम्बन का मार्ग बताया गया है। **रंग, राग और गुणभेद से भिन्न निज शुद्धात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है।** स्वतन्त्रता अपने बल पर ही प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख में प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ नहीं हैं और न उन्हें दूसरों के बल पर प्राप्त किया जा सकता है।
>
> **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-८३**

देवगति

अब दिव्य भोगों को भोगनेवाले देवों की चर्चा करते हैं ह्न

देवाश्चतुर्णिकायाः ।।१।।

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।।२।।

देवों के चार निकाय होते हैं अथवा देव चार निकायवाले हैं।

आरंभ के तीन निकायों में पीत है अन्त में जिनके ऐसी चार लेश्यायें होती हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत ह्न ये चार लेश्यायें होती हैं।

किसी भी **वस्तु के समूह को काय कहते हैं और कायों के समूह को निकाय कहते हैं। यहाँ देवों के समूहों के समूहों की चर्चा है; अत: उन्हें चार निकायवाला कहा है।**

देवगति नामकर्म के उदय से जो अनेक प्रकार की बाह्य विभूति से **द्वीप–समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं; वे देव कहलाते हैं।**

वे देव चार प्रकार के होते हैं ह्न **१. भवनवासी, २. व्यंतर, ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।**

कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को **लेश्या** कहते हैं। ये लेश्यायें छह प्रकार की होती हैं; जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं ह्न

१. कृष्ण, २. नील, ३. कापोत, ४. पीत, ५. पद्म और ६. शुक्ल।

द्रव्य लेश्या तो नामानुसार ही होती है। तात्पर्य यह है कि वर्ण की अपेक्षा कृष्ण लेश्यावालों के शरीर का रंग **भौंरें के समान काला**। नील लेश्यावालों का रंग **नीलमणि के समान नीला**। कापोत लेश्यावालों का रंग **कबूतर के समान सलेटी**। पीत लेश्यावालों का रंग **स्वर्ण के समान पीला अथवा सुनहरी**। पद्म लेश्यावालों का रंग **कमल के समान** और शुक्ल लेश्यावालों का रंग **शंख के समान सफेद** होता है।

भाव लेश्या संक्लेश और विशुद्ध परिणामों के तारतम्यरूप है।

कृष्ण, नील और कापोत ह्न ये तीन लेश्यायें **अशुभभावरूप हैं, संक्लेश परिणाम के तारतम्यरूप हैं।**

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें **शुभभावरूप हैं, विशुद्ध परिणाम के तारतम्यरूप हैं।**

तात्पर्य यह है कि कृष्ण लेश्या अशुभतम संक्लेशरूप है, नील लेश्या अशुभतर संक्लेशरूप है और कापोत लेश्या अशुभ संक्लेशरूप है।

इसीप्रकार पीत लेश्या शुभ विशुद्धभावरूप है, पद्म लेश्या शुभतर विशुद्धभावरूप है और शुक्ल लेश्या शुभतम विशुद्धभावरूप है।

इन लेश्याओं के स्वरूप को हम निम्नांकित उदाहरण से समझ सकते हैं ह्न

छह व्यक्ति एक जंगल में भटक जाते हैं। भूखे–प्यासे वे लोग पके हुए आमों से लदे वृक्ष को देखकर इसप्रकार सोचते हैं ह्न

१. कृष्ण लेश्या के अशुभतम परिणामोंवाला सोचता है कि मैं इस पेड़ को जड़ से उखाड़ कर इसके फल खाऊँगा। २. नील लेश्या के अशुभतर परिणामोंवाला सोचता है कि मैं डाली को काट कर अपना पेट भरूँगा। ३. कापोत लेश्या के अशुभ परिणामोंवाला सोचता है कि नहीं मैं तो टहनियों को काटकर अपना पेट भर लूँगा।

४. शुभभावरूप पीत लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो गुच्छे को तोड़कर अपनी भूख मिटा लूँगा। ५. शुभतर पद्म लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो मात्र पके–पके फल ही तोडूँगा। ६. पर शुभतम शुक्ल लेश्यावाला सोचता है कि मैं तो स्वयं ही टूटे हुए जमीन पर पड़े फलों से ही अपना काम चला लूँगा।

ध्यान रहे पेट तो सभी को भरना है, भूख तो सभी को मिटाना है; पर उनके परिणामों में जो अन्तर है, वही लेश्याओं के स्वरूप में अंतर है।

ध्यान रहे, आरंभ की तीन निकायवाले भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की पर्याप्त अवस्था में तो एकमात्र पीत लेश्या ही होती है; किन्तु अपर्याप्त अवस्था में आरंभ की तीन अशुभ लेश्यायें पाई जाती हैं।।१–२।।

षट् लेश्या दर्शन

देवों के इन्द्र-सामानिक आदि दश भेद

भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों के असुरकुमार, नागकुमार आदि अवान्तर भेद भी होते हैं। तथा जिसप्रकार मनुष्यों में व्यवस्था की दृष्टि से राजा, मंत्री, सेनापति, सेना, पुलिस आदि भेद होते हैं; उसीप्रकार **देवों में भी इन्द्र, सामानिक आदि के भेद पाये जाते हैं।** अब उनकी चर्चा करते हैं ह्न

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ।।३।।

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानी-कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ।।४।।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।।५।।

कल्पोपन्न देवों तक चार निकायों के क्रमशः दश, आठ, पाँच और बारह भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासी देव दश प्रकार के, व्यन्तरदेव आठ प्रकार के, ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के और कल्पवासी देव बारह प्रकार के होते हैं।

इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ह्न ये दश प्रकार हैं।

व्यन्तरों और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते; उनके शेष इन्द्रादि आठ प्रकार होते हैं।

भवनवासी आदि के अवान्तर भेदों की चर्चा नाम सहित आगे के सूत्रों में पृथक् से होगी।

अतः अब यहाँ इन्द्रादि दश प्रकारों की चर्चा करते हैं ह्न

१. जो अन्य देवों में नहीं पाये जानेवाले असाधारण गुणों से शोभित होते हैं; जिनकी आज्ञा चलती है और जो ऐश्वर्यवाले हैं; वे **इन्द्र** हैं।

२. आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार और भोगोपभोग आदि में इन्द्रों के समान हैं; उन्हें **सामानिक** कहते हैं।

ये लोग राजा के पिता, गुरुओं और उपाध्यायों के समान होते हैं।

३. जो मंत्री और पुरोहितों के समान हित चाहनेवाले होते हैं; वे त्रायस्त्रिंश हैं। ये तैंतीस ही होते हैं; इसलिए **त्रायस्त्रिंश** कहलाते हैं।

४. जो इन्द्रसभा में मित्रों और स्नेहीजनों के समान बैठते हों; वे **पारिषद** हैं। ये इन्द्र की सभा के सदस्य हैं।

५. जो अंगरक्षकों के समान हों, वे **आत्मरक्ष** कहलाते हैं।

६. जो अर्थचरों के समान रक्षक हैं; वे लोक का पालन करनेवाले **लोकपाल** हैं।

७. जो पदाति (पैदल) घुड़सवार आदि सात प्रकार की सेना के समान होते हैं; वे **अनीक** कहे जाते हैं।

८. जो नागरिकों के समान फैले हुए रहते हैं; वे **प्रकीर्णक** हैं।

९. जो दासों के समान वाहन (ऐरावत हाथी) आदि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; वे **आभियोग** हैं।

१०. पापकर्मों की बहुलतावाले **किल्विषिक** कहलाते हैं।

उक्त दश प्रकारों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ह्न ये दो प्रकार व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के नहीं होते।।३-५।।

> आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षों का अवलम्बन करनेवाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।
>
> **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१५**

इन्द्र कितने

उक्त चार निकाय के देवों में कहाँ-कहाँ कितने-कितने इन्द्र होते हैं ? यह आगामी सूत्र में दिया जा रहा है।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।।६।।

पहले के दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पहले के दो निकायों अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरों के सभी प्रकारों में दो-दो इन्द्र होते हैं। इसप्रकार भवनवासियों में बीस (२०) और व्यन्तरों में सोलह (१६) इन्द्र होते हैं।

भवनवासियों में ह्न

१. **असुरकुमारों के** चमर और वैरोचन ये **दो इन्द्र** होते हैं।
२. **नागकुमारों के** धरणानन्द और भूतानन्द ये **दो इन्द्र** हैं।
३. **विद्युत्कुमारों के** घोष और महाघोष ये **दो इन्द्र** हैं।
४. **सुपर्णकुमारों के** वेणुदेव और वेणुधारी ये **दो इन्द्र** हैं।
५. **अग्निकुमारों के** अग्निशिखी और अग्निवाहन ये **दो इन्द्र** हैं।
६. **वातकुमारों के** वेलंब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं।
७. **स्तनितकुमारों के** हरिषेण और हरिकान्त ये **दो इन्द्र** हैं।
८. **उदधिकुमारों के** जलकान्त और जलप्रभ ये **दो इन्द्र** हैं।
९. **दीपकुमारों के** पूर्ण और वशिष्ट ये **दो इन्द्र** हैं।
१०. **दिक्कुमारों के** अमितगति और अमितवाहन ये **दो इन्द्र** हैं।

व्यन्तरों में ह्न

१. **किन्नरों के** किम्पुरुष और किन्नर ये **दो इन्द्र** हैं।
२. **किम्पुरुषों के** सत्पुरुष और महापुरुष ये **दो इन्द्र** हैं।
३. **महोरगों के** महाकाय और अतिकाय ये **दो इन्द्र** हैं।
४. **गन्धर्वों के** गीतरति और गीतयशा ये **दो इन्द्र** हैं।
५. **यक्षों के** मणिभद्र और पूर्णभद्र ये **दो इन्द्र** हैं।
६. **राक्षसों के** भीम और महाभीम ये **दो इन्द्र** हैं।
७. **भूतों के** सुरूप और प्रतिरूप ये **दो इन्द्र** हैं।
८. **पिशाचों के** काल और महाकाल ये **दो इन्द्र** हैं।।६।।

देवों के मैथुन संज्ञा

इन देवों के स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख किसप्रकार होता है ?ह्न आगामी सूत्रों में यह बताते हैं।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।।७।।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ।।८।।

परेऽप्रवीचाराः ।।९।।

ईशान स्वर्ग तक कायप्रवीचार होता है। उसके आगे शेष स्वर्गों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रवीचार होता है। इनके अतिरिक्त ऊपर के अहमिन्द्रों में प्रवीचार होता ही नहीं है।

मैथुन सेवन की क्रिया को प्रवीचार कहते हैं। ईशान नामक दूसरे स्वर्ग तक काय से प्रवीचार होता है। तात्पर्य यह है कि भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों के तथा कल्पवासी देवों में सौधर्म और ईशान ह्न इन दो स्वर्गों में; **मनुष्यों के समान शारीरिक क्रियारूप मैथुन सुख होता है, स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख होता है।**

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के स्पर्श मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं और इसीप्रकार वहाँ की देवियाँ भी देवों के **स्पर्श मात्र से संतुष्ट हो जाती हैं।** ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के श्रृंगार, आकृति, विलास, चतुराई और मनोज्ञ वेष तथा **मनोज्ञ रूप के देखनेमात्र से सन्तुष्ट रहते हैं।** शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव; देवांगनाओं के मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित कथन और भूषणों के **कोमल कलरव सुननेमात्र से ही संतुष्ट रहते हैं।** तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव; अपनी अंगनाओं का **मन में संकल्प करने मात्र से ही संतुष्ट होते हैं।**

इसके ऊपर के कल्पातीत देवों के प्रवीचार क्रिया होती ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि सोलह स्वर्गों के ऊपर नव ग्रैवेयकों, नव अनुदिशों और पाँच अनुत्तर विमानों के अहमिन्द्रों के मन में भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य विषय की कामना उत्पन्न नहीं होती है। वासनाजन्य पीड़ा के अभाव से वे सहज ही सुखी हैं, **वहाँ देवांगनायें होती ही नहीं ।।७-९।।**

भवनवासी और व्यन्तर देवों के प्रकार

अब दश प्रकार के भवनवासी और आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रकार गिनाते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो-दधिद्वीपदिक्कुमाराः ।।१०।।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूत-पिशाचाः ।।११।।

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं ह्न असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तरदेव आठ प्रकार के हैं ह्न किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

जिनका स्वभाव भवनों में वास करने का विशेष हो, **वे भवनवासी हैं।** इन भवनवासियों के सभी भेदों में कुमार शब्द लगा है; क्योंकि इनका स्वभाव, वेशभूषा, वाहन, यान और क्रीड़ा आदि में कुमारों (किशोरों) के समान होता है। **जिसप्रकार की चंचलता मनुष्यों में कुमारावस्था में पाई जाती है; उसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ उनमें जीवनभर पाई जाती हैं। यही कारण है कि उनके नामों में कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है।**

यह तो पहले बताया ही जा चुका है कि इनमें से असुरकुमारों के भवन अधोलोक की **रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकभाग में हैं और शेष नौ प्रकारों के भवन खरभाग में है।**

विभिन्न स्थानों पर रहने के कारण व्यन्तरों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरों के रहने के स्थानों के बारे में बताया जा चुका है।।१०-११।।

भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२०२**

ज्योतिषियों के प्रकार

भवनवासी और व्यन्तरों के प्रकार स्पष्ट हो जाने के बाद अब ज्योतिषियों के प्रकार बताते हैं ह्न

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतार–काश्च ।।१२।।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।१३।।

तत्कृतः कालविभागः ।।१४।।

बहिरवस्थिताः ।।१५।।

ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के होते हैं ह्न १. सूर्य, २. चन्द्रमा, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र और ५. सर्वत्र फैले हुए तारे।

ये ज्योतिषी देव मनुष्यलोक (मध्य लोक के ढाईद्वीप) में मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए निरन्तर गति करते रहते हैं, घूमते रहते हैं।

काल का विभाग इन ज्योतिषी देवों के गमन के आधार पर ही होता है।

ढाईद्वीप के बाहर ये ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

इनके आवास के संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रंथ में एक गाथा उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

णउदुत्तरसत्तसया दससीदी चदुगं तियचउक्कं ।
ताराखिससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ।।

इस पृथिवी-तल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर **तारा** हैं। ताराओं के दस योजन ऊपर **सूर्य** हैं। सूर्य के अस्सी योजन ऊपर **चन्द्रमा** हैं।

चन्द्रमा के चार योजन ऊपर **नक्षत्र** और नक्षत्रों के चार योजन ऊपर **बुध** हैं।

बुध से तीन योजन ऊपर **शुक्र** हैं। शुक्र से तीन योजन ऊपर **बृहस्पति** हैं। बृहस्पति से तीन योजन ऊपर **मंगल** हैं और मंगल से तीन योजन ऊपर **शनि** है।

उक्त कथन आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका के आधार से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य अकलंकदेव कृत राजवार्तिक में इससे कुछ हटकर बात है; जो इसप्रकार है ह्न

इस भूमितल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर ज्योतिर्मण्डल में सबसे नीचे **तारागण** हैं। उससे दश योजन ऊपर **सूर्य,** उससे अस्सी योजन ऊपर **चन्द्रमा,** उससे तीन योजन ऊपर **नक्षत्र,** उससे तीन योजन ऊपर **बुध,** उससे तीन योजन ऊपर **शुक्र,** उससे तीन योजन ऊपर **बृहस्पति,** उससे चार योजन ऊपर **मंगल** और उससे चार योजन ऊपर **शनैश्चर** हैं।

इसीप्रकार का अन्तर दोनों में उद्धृत गाथाओं में भी है।

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ भी इसप्रकार का अन्तर हमें दिखाई दिया है; वहाँ हमने सर्वार्थसिद्धि के कथन को मुख्यता प्रदान कर उसका उल्लेख प्रमुखरूप से किया है।

इसतरह एक सौ दस योजन की मोटाई में सब ज्योतिषी देव रहते हैं तथा तिर्यक् रूप से घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं।

इनमें चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र हैं।

ये ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में अर्थात् ढाईद्वीप में मेरु पर्वतों से ग्यारह सौ इक्कीस (११२१) योजन दूर रहकर उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूप निरन्तर घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीप में **दो,** लवण समुद्र में **चार,** धातकीखण्डद्वीप में **बारह,** कालोदधि में **ब्यालीस** और पुष्करार्द्ध में **बहत्तर चन्द्रमा** हैं। इसप्रकार ढाईद्वीप में **एक सौ बत्तीस चन्द्रमा** हैं।

एक चन्द्रमा के परिवार में एक सूर्य, अठासी ग्रह, अट्ठाईस नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

काल दो प्रकार का होता है ह्न **१.** निश्चय काल और **२.** व्यवहार काल। घड़ी, मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि को व्यवहार काल कहते हैं। इस व्यवहार काल का व्यवहार इन चन्द्रमा-सूर्य की गति से होता है। **दिन और रात सूर्य की गति से तथा पक्ष और मास चन्द्रमा की गति से सुनिश्चित होते हैं ।।१२-१५।।**

ऊर्ध्वलोक/वैमानिक देव

अधोलोक और मध्यलोक की एवं भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की चर्चा होने के उपरान्त अब **ऊर्ध्वलोक और वैमानिक देवों की चर्चा आरंभ करते हैं।**

वैमानिक देवों के स्वरूप को बतानेवाले कुछ सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

वैमानिकाः ।।१६।।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।१७।।

उपर्युपरि ।।१८।।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तव–कापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरार–णाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापरा–जितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।१९।।

यद्यपि रहने के स्थान को तो घर ही कहते हैं; तथापि लोक में भगवान के रहने के स्थान को मंदिर, राजा के रहने के स्थान को महल, सेठ के रहने के स्थान को कोठी, साहब के रहने के स्थान को बंगला और गरीबों के रहने के स्थान को झोपड़ी कहा जाता है; उसीप्रकार पुण्यशाली प्रभावक देवों के रहने के स्थान को विमान कहते हैं।

उक्त विमानों में रहनेवाले देवों को वैमानिक देव कहते हैं।

यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन आरंभ होता है। सोलहवाँ सूत्र मात्र इतनी बात ही बताता है।

वे वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं ह्न

१. कल्पोपन्न और २. कल्पातीत।

जहाँ इन्द्र सामानिक आदि की कल्पना होती है; उन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं और जहाँ इसप्रकार की कल्पना या भेद नहीं है, सभी एक समान ही हैं, सभी अहमिन्द्र ही हैं; उन नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों को कल्पातीत कहते हैं।

ये सोलह स्वर्ग और नव ग्रैवेयक आदि सभी ऊपर–ऊपर हैं।

सौधर्म–ऐशान, सनत्कुमार–माहेन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लांतव–कापिष्ठ, शुक्र–महाशुक्र, शतार–सहस्रार ह्न इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में; आनत–प्राणत ह्न इन दो स्वर्गों में; आरण–अच्युत ह्न इन दो स्वर्गों में; नव ग्रैवेयक विमानों में; नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि ह्न इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

प्रश्न ह्न इन्द्रादि के भेद तो भवनवासी आदि में भी हैं; अत: उन्हें कल्पोपन्न क्यों नहीं कहते ?

उत्तर ह्न यद्यपि यह सत्य है कि भवनवासी आदि में इन्द्रादिक भेद होते हैं; तथापि **रूढि से सोलह स्वर्गवाले वैमानिक देवों को ही कल्पवासी कहते हैं।**

जिसप्रकार अधोलोक में सब एक–दूसरे के नीचे–नीचे हैं। जैसे रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभा के नीचे बालुकाप्रभा आदि हैं, इसलिए वहाँ सूत्र में **अधोध:** का प्रयोग किया गया है।

उसीप्रकार स्वर्गों में सब ऊपर–ऊपर हैं।

मध्यलोक में सब तिरछे बसे हुए हैं और एक द्वीप को एक समुद्र घेरे हुए है और एक समुद्र को एक द्वीप घेरे हुए है। तीन लोक और ढाईद्वीप के नक्शे को देखकर यह बात आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार नरकों में बिल तीन प्रकार के होते हैं ह्न इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक। उसीप्रकार स्वर्गों में **विमान भी तीन प्रकार के होते हैं; उनके नाम भी इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक है।**

जो विमान इन्द्रक बिल की तरह अन्य विमानों के बीच में रहता है, उसे **इन्द्रक** विमान कहते हैं। उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं, वे **श्रेणीबद्ध** कहे जाते हैं और विदिशाओं में जहा–तहाँ बिखरे फूलों की तरह जो विमान होते हैं, उन्हें **पुष्पप्रकीर्णक** विमान कहते हैं।

सर्वप्रथम **सौधर्म और ऐशान कल्प (स्वर्ग)** हैं। इनके ऊपर **सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प** हैं। इनके ऊपर **ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प** हैं। इनके ऊपर **लान्तव और कापिष्ठ कल्प** हैं। इनके ऊपर **शुक्र और महाशुक्र कल्प** हैं। इनके ऊपर **शतार और सहस्रार कल्प** हैं। इनके ऊपर **आनत और प्राणत कल्प** हैं। इनके ऊपर **आरण और अच्युत कल्प** हैं।

ध्यान रहे, कल्प (स्वर्ग) सोलह हैं और इन्द्र बारह। उनकी व्यवस्था इसप्रकार है ह्न

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र ह्न इन चार कल्पों के **चार** इन्द्र हैं।

ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पों का **एक ब्रह्म** नामक इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पों में एक **लान्तव** नाम का इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्र में एक **शुक्र** नाम का इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पों में एक **शतार** नाम का इन्द्र है।

तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ह्न इन चार कल्पों के **चार** इन्द्र हैं।

इसप्रकार कल्पवासियों के बारह इन्द्र होते हैं।

सुमेरु पर्वत एक हजार योजन पृथ्वी के भीतर गहरा है और पृथ्वी के ऊपर निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक है। मेरु पर्वत की जितनी ऊँचाई है, उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, **सुमेरु पर्वत से एक बाल के अन्तर से ऋजुविमान है, जो सौधर्म कल्प का इन्द्रक विमान है।**

यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि जो कल्पों (स्वर्गों) के नाम हैं, वही नाम इन्द्रों के भी हैं। जहाँ दो कल्पों में एक इन्द्र है; वहाँ उनमें जो प्रथम स्वर्ग का नाम है, वही इन्द्र का नाम है।

कल्पातीत नव ग्रैवेयक के विमान एक के ऊपर एक नौ हैं जो कि तीन-तीन पटलरूप से हैं अर्थात् सबसे पहले, **अधो ग्रैवेयक के तीन**

पटल, उसके ऊपर मध्य ग्रैवेयक के तीन पटल, उसके ऊपर ऊर्ध्व ग्रैवेयक के तीन पटल हैं।

इसके ऊपर अनुदिशों के नौ विमान हैं, जो कि एक ही पटल में है और अनुत्तर विमानों में सबसे बीच में सर्वार्थसिद्धि नामक विमान है और उसकी चारों दिशाओं में शेष चार अनुत्तर विमान (विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित) हैं।

एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि भवनवासियों के ४०, व्यन्तरों के ३२, कल्पवासियों के २४ एवं ज्योतिषियों के चन्द्रमा और सूर्य ह्न ऐसे दो ह्न इसप्रकार यह सब मिलाकर ९८ इन्द्र होते हैं।

मनुष्यों का इन्द्र, चक्रवर्ती और पशुओं का इन्द्र, जंगल का राजा शेर ह्न इसप्रकार मिलकर सौ इन्द्र हो जाते हैं।

संबंधित गाथा इसप्रकार है ह्न

भवणालय चालीसा, विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामरचउवीसा, चंदो सूरो णरो तिरियो ।।[1]

भवनवासियों के ४०, व्यन्तरदेवों के ३२, कल्पवासियों के २४, ज्योतिषियों के चन्द्रमा और सूर्य ह्न इसप्रकार दो, मनुष्यों का चक्रवर्ती और तिर्यंचों का शेर ह्न इसप्रकार ये सौ इन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान की वन्दना करते हैं।।१६-१९।।

---

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह की पहली गाथा की ब्रह्मदेवकृत संस्कृतवृत्ति में उद्धृत

> पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नजर आते हैं, पर द्रव्य-दृष्टिवंत के पर्यायदृष्टि इतनी गौण हो गई है, विशेषकर अनुभूति के काल में, कि उसमें विकार दृष्टिगत होता ही नहीं है। उसे विकार से क्या? होगा तो होगा।
>
> **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३१**

वैमानिक देवों में हीनाधिकता

वैमानिक देवों में नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में क्रमश: कुछ **चीजों में अधिकता और कुछ चीजों में हीनता होती है।** अब यह दिखाते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-
विषयतोऽधिकाः ।।२०।।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।।२१।।

वैमानिक देवों में स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव अधिक हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं।

वैमानिक देवों में नीचे के देवों से ऊपर के देवों की **आयु अधिक** होती है, **प्रभाव अधिक** होता है, लौकिक सुख की **अनुकूलता भी अधिक** होती है, शरीरादिक की **कान्ति भी उत्कृष्ट** होती है, कषायें मन्द होने से **लेश्याओं की विशुद्धि भी अधिक** होती है तथा पाँच इन्द्रियों और अवधिज्ञान से **जानने का विषय भी अधिक** होता जाता है।

आवागमन, शरीर की ऊँचाई, भोगसामग्रीरूप परिग्रह और अभिमान नीचे से ऊपर के देवों में क्रमश: कम होता जाता है।

यद्यपि ऊपर के देवों में नीचे के देवों की अपेक्षा आवागमन की शक्ति अधिक होती है; तथापि विषयाभिलाषा कम होने से उनका आवागमन कम होता है।

शरीर की ऊँचाई भी क्रमश: कम होती जाती है, जो इसप्रकार है ह्न

सौधर्म-ऐशान के देवों का शरीर **सात अरत्नि** (हाथ) ऊँचा है। सानत्कुमार, माहेन्द्र में **छह अरत्नि** (हाथ) ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ में **पाँच अरत्नि** ऊँचा है।

शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में **चार अरत्नि** ऊँचा है। आनत, प्राणत में **साढे तीन अरत्नि** और आरण, अच्युत में **तीन अरत्नि** ऊँचा है।

अधो ग्रैवेयकों में **अढाई अरत्नि**, मध्य ग्रैवेयक में **दो अरत्नि** और उपरिम ग्रैवेयकों में तथा **नौ अनुदिशों में डेढ अरत्नि** ऊँचा है और पाँच अनुत्तरों में **एक अरत्नि ऊँचा शरीर** है।

तथा नीचे से ऊपर के देवों की भोगसामग्री भी कम ही होती है; क्योंकि विषयाभिलाषा भी ऊपर-ऊपर कम होती जाती है। विमान आदि परिग्रह भी ऊपर-ऊपर कम है।

नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में कषाय की मंदता होने से अभिमान भी कम है; क्योंकि **जिनकी कषाय मंद होती है, वे ही जीव ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं।।२०-२१।।**

> कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत: मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है, तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है; उसीप्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता, किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं, तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते।
>
> **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-२७**

वैमानिक देवों में लेश्यायें

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में होनेवाली लेश्याओं का वर्णन दूसरे सूत्र में किया जा चुका है।

अब **आगामी सूत्र में वैमानिक देवों में होनेवाली लेश्याओं का वर्णन करते हैं ह्न**

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।।२२।।

दो, तीन कल्प युगलों में तथा शेष वैमानिकों में क्रमश: पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं।

तात्पर्य यह है कि सौधर्म-ऐशान तथा सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प (स्वर्ग) में **पीत लेश्या;** ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ और शुक्र-महाशुक्र कल्प में **पद्म लेश्या** तथा इसके ऊपर के कल्पों अर्थात् शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पों में तथा कल्पातीत विमानों अर्थात् नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में **शुक्ललेश्या** होती है।

यह कथन सूत्र के अनुसार सामान्य कथन है; सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में किये कथन के अनुसार यदि विशेष कथन की अपेक्षा देखें तो वह इसप्रकार है ह्न

सौधर्म और ऐशान कल्प में **पीत** लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में **पीत और पद्म** लेश्याएँ हैं।

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पों में **पद्म** लेश्या है।

शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पों में **पद्म और शुक्ल** ये दो लेश्याएँ हैं।[१]

इसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में और नव ग्रैवेयक में शुक्ल लेश्या है तथा नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में **परमशुक्ल लेश्या** है।।२२।।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ १९१

कल्प का स्वरूप

यहाँ कल्प शब्द बार-बार आ रहा है; अत: अब कल्प का स्वरूप कहते हैं ह्न

प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा: ।।२३।।

ग्रैवेयकों से पहले के वैमानिक देवों के आवास कल्प कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि वैमानिक देवों के आवासों में पहले स्वर्ग से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के विमान **कल्प** कहलाते हैं और उनमें रहनेवाले वैमानिक देव **कल्पवासी** कहे जाते हैं।

सोलह स्वर्ग से ऊपर के अर्थात् नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर या उनमें रहनेवाले देव कल्पातीत हैं।

कल्पों में इन्द्रादि भेदों की कल्पना होती है और कल्पातीत में सभी देव अहमिन्द्र होते हैं। सभी समान होते हैं; उनमें छोटे-बड़े का भेद नहीं है।।२३।।

लौकान्तिक देव

संपूर्ण वैमानिकों का कथन हुआ; पर अब तक यह नहीं आया कि **लौकान्तिक देव कहाँ रहते हैं ? लौकान्तिक देव भी तो वैमानिक हैं।** इस शंका के समाधान में ही आगामी सूत्र आये हैं ह्न

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका: ।।२४।।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधा-रिष्टाश्च ।।२५।।

ब्रह्मलोक नाम का पाँचवाँ कल्प है आवास जिनका, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं।

तात्पर्य यह है कि लौकान्तिक देव ब्रह्म नामक पंचम स्वर्ग के अंतिम भाग में रहते हैं, इसलिए उन्हें लौकान्तिक देव कहा जाता है।

दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिनके संसार समुद्र का किनारा अत्यन्त निकट आ गया है, वे लौकान्तिक देव हैं; क्योंकि वे वहाँ से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं।

ये लौकान्तिक देव ब्रह्मचारी होते हैं। अत्यंत वैराग्य प्रवृत्ति के होते हैं। विषयविरक्त होने से देवर्षि कहे जाते हैं। ये चौदह पूर्व के पाठी, ज्ञानोपयोगी, संसार से उद्विग्न, अनित्य आदि भावनाओं को भानेवाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं।

यहाँ तक कि ये तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों में भी आद्योपान्त नहीं रहते। मात्र दीक्षाकल्याणक के अवसर पर तीर्थंकर देव के वैराग्य की अनुमोदना करने के लिए आते हैं।

पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओं में क्रम से सारस्वत आदि देवगण रहते हैं। पूर्वोत्तर कोण में सारस्वतों के विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्यों के विमान हैं। पूर्व-दक्षिण दिशा में वह्नि देवों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण विमान हैं। दक्षिण-पश्चिम कोने में गर्दतोय देवों के विमान हैं। पश्चिम दिशा में तुषित देवों के विमान हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा में अव्याबाध देवों के विमान हैं और उत्तर दिशा में अरिष्ट देवों के विमान हैं।

ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इन्द्र के आधीन नहीं हैं। सब समान हैं। इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है।।२४-२५।।

> आत्मानुभूति की दशा शुद्ध भाव है और आत्मानुभूति प्राप्त करने का विकल्प शुभ भाव। आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प अशुभ भावों के अभावपूर्वक ही आते हैं। **आत्मानुभूति की प्राप्ति के प्रयत्न काल में हिंसादि और भोगादि के विकल्प बने रहें, यह संभव ही नहीं।**
>
> **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१४**

द्विचरमशरीरी

ये लौकान्तिक देव एक चरमशरीरी होते हैं। अब प्रश्न होता है कि **और भी कोई चरमशरीरी होते हैं क्या ? इसका उत्तर** आगामी सूत्र में दिया जा रहा है ह्न

विजयादिषु द्विचरमाः ।।२६।।

विजयादि दो चरमवाले होते हैं।

तात्पर्य यह है कि विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों में द्विचरम होते हैं। इनमें समानता इसलिए है कि सभी पूर्व सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र हैं। सर्वार्थसिद्धि नाम से ही सूचित होता है कि वहाँ के देव सर्वोत्कृष्ट हैं और एकचरम हैं।

द्विचरमत्व मनुष्यदेह की अपेक्षा है अर्थात् विजयादिक से च्युत होकर सम्यग्दर्शन को कायम रखते हुए मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, फिर संयम की आराधना कर वैमानिकों में उत्पन्न होते हैं। फिर च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। **इसतरह मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमत्व है, वैसे तो दो मनुष्यभव तथा एक देवभव मिलाकर त्रिचरम गिने जा सकते हैं।**

जो देव अहमिन्द्र होने के साथ-साथ जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनका यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया है। इसलिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र देव मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष जाते हैं अर्थात् विजयादिक से चय कर मनुष्य होते हैं। फिर संयम धारण कर पुनः वैमानिकों में जन्म लेते हैं। फिर वहाँ से चयकर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसतरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं; क्योंकि **मनुष्यभव से ही मोक्ष मिलता है, इसलिए मनुष्यभव को चरमदेह कहते हैं।**

यहाँ इतना विशेष जानना कि नौ अनुदिश तथा चार अनुत्तरों के देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं।

यहाँ अधिक से अधिक दो भव बतलाये हैं, इसी से सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण यहाँ नहीं किया; क्योंकि **सर्वार्थसिद्धि के देव अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं। इसी से उनके विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है। वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं।**

त्रिलोकसार में लिखा है कि सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, इन्द्राणी शचि ह्न ये सब एक मनुष्यभव धारण करके मोक्ष पा जाते हैं।।२६।।

तिर्यंचगति

नारकी, मनुष्य और देवों का वर्णन हुआ। अब संसारी जीवों में तिर्यंच ही शेष रहते हैं; अतः अब उनकी बात करते हैं ह्न

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।।२७।।

उपपाद जन्मवाले अर्थात् देव और नारकी तथा मनुष्यों को छोड़कर शेष जो संसारी जीव हैं, वे सब तिर्यंच हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य, देव और नारकी ह्न सभी सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं; परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यंच ही हैं। निगोदिया जीव भी तिर्यंच ही हैं। सैनी पंचेन्द्रिय भी तिर्यंच होते हैं।

तिर्यंचों का कोई एक स्थान सुनिश्चित नहीं है; वे सम्पूर्ण लोकाकाश में पाये जाते हैं।।२७।।

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। **आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एक मात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है।**

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१०

देवों की आयु का निर्देश

नारकी, मनुष्य और तिर्यंचों की आयुकर्म की स्थिति का निरूपण यथास्थान हो चुका है; अब उपपाद जन्मवाले देवों की उत्कृष्ट आयु का निरूपण करते हैं।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योप-मार्धहीनमिताः ।।२८।।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ।।२९।।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।।३०।।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ।।३१।।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।३२।।

भवनवासियों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकी के बचे छह कुमारों की आयु क्रमशः एक सागर, तीन पल्य, इसके बाद आधा-आधा पल्य कम करते जावो ह्न ऐसी है।

तात्पर्य यह है कि असुरकुमारों की एक सागर, नागकुमारों की तीन पल्य, सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य, शेष बचे छह कुमारों की अर्थात् विद्युतकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार और दिक्कुमार ह्न इन सभी की आयु डेढ-डेढ पल्य है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

घातायुष्क देवों की आयु अन्य देवों की अपेक्षा आधा सागर अधिक होती है।

जिन्होंने पहले ऊपर के स्वर्गों की आयु बांधी थी, बाद में संक्लेश परिणामों के कारण जो आयु में ह्रास करके नीचे के स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, वे घातायुष्क कहलाते हैं।

घातायुष्क जीवों की उत्पत्ति बारहवें स्वर्ग तक ही होती है। इसलिए कुछ अधिक आयुवाली बात भी वहीं तक होती है।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

पूर्व सूत्र में कहे हुए युगलों की आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु, उसके बाद के स्वर्गों में है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में दस सागर से कुछ अधिक, लान्तव-कापिष्ठ युगल में चौदह सागर से कुछ अधिक, शुक्र-महाशुक्र में सोलह सागर से कुछ अधिक, शतार-सहस्रार में अठारह सागर से कुछ अधिक तथा आनत-प्राणत में बीस सागर और आरण-अच्युत में बाईस सागर आयु है।

आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर के नव ग्रैवेयकों में, नव अनुदिशों में, विजय इत्यादि विमानों में और सर्वार्थसिद्धि विमानों में देवों की आयु एक-एक सागर अधिक है।

तात्पर्य यह है कि पहले ग्रैवेयक में २३ सागर, दूसरे ग्रैवेयक में २४ सागर, तीसरे ग्रैवेयक में २५ सागर, चौथे ग्रैवेयक में २६ सागर, पाँचवें ग्रैवेयक में २७ सागर, छठवें ग्रैवेयक में २८ सागर, सातवें ग्रैवेयक में २९ सागर, आठवें ग्रैवेयक में ३० सागर और नौवें ग्रैवेयक में ३१ सागर आयु है।

नव अनुदिशों में ३२ सागर और अनुत्तरों में ३३ सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धि में मात्र उत्कृष्ट स्थिति ही होती है और वह तैंतीस सागर है ।।२८-३२।।

आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१८

जघन्य स्थिति

अभी तक देव और नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति बता रहे थे; अब **मुख्यरूप से जघन्य स्थिति की बात करते हैं ह्न**

अपरापल्योपममधिकम् ।।३३।।

परतः परतःपूर्वा पूर्वानन्तराः ।।३४।।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ।।३५।।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।३६।।

भवनेषु च ।।३७।।

व्यन्तराणां च ।।३८।।

सौधर्म और ऐशान कल्प में जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

पहले के अर्थात् नीचे के कल्प युगल में जो उत्कृष्ट स्थिति है; वह उनसे अगले अर्थात् ऊपर के कल्प युगल की जघन्य स्थिति है।

इसीप्रकार नरकों की स्थिति में भी समझना चाहिए।

पहले नरक की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

भवनवासियों की भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

इसीप्रकार व्यन्तरों की भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष ही है।

तात्पर्य यह है कि सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जो साधिक दो सागर उत्कृष्ट स्थिति है; वही सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग की जघन्य स्थिति है।

इसीप्रकार सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग की जो साधिक सात सागर स्थिति कही है; वही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग की जघन्य स्थिति बन जाती है।

इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

नरकों में भी जो स्थिति प्रथम नरक की उत्कृष्ट स्थिति है, वही दूसरे नरक की जघन्य स्थिति है।

दूसरे नरक की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही तीसरे नरक की जघन्य स्थिति है। इसीप्रकार आगे भी लगा लेना चाहिए।

प्रथम नरक, भवनवासी और व्यंतर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष ही है।।३३-३८।।

व्यन्तरों, ज्योतिषियों और लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति

अब शेष बचे देव और नारकियों की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति बताते हैं ह्न

परा पल्योपममधिकम् ।।३९।।

ज्योतिष्काणां च ।।४०।।

तदष्टभागोऽपरा ।।४१।।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।।४२।।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषियों की भी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषियों की जघन्य स्थिति; ज्योतिषियों की उत्कृष्ट स्थिति के आठवें भाग (१/८) है।

सभी लौकान्तिक देवों की स्थिति आठ सागर है। इनमें उत्कृष्ट जघन्य का भेद नहीं है। सभी की स्थिति समान ही होती है।

इन सभी लौकान्तिक देवों के शुक्ल लेश्या होती है और शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि देव और नारकियों की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तैंतीस सागर तक है।

विचार करने की बात यह है कि यदि हम अपने मिथ्यात्व सहित अशुभ भावों के कारण नरकों में चले गये तो अपरिमित काल तक

अनंत प्रतिकूलता को भोगना पड़ेगा। नरकों की प्रतिकूलताओं का विवेचन तीसरे अध्याय में विस्तार से किया ही गया है।

यदि मिथ्यात्व सहित शुभभाव भी किये और भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में पैदा हो गये, नववें ग्रैवेयक तक भी चले गये; तब भी संसार का अंत आनेवाला नहीं है।

इसलिए सभी भव्य आत्माओं को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए कि मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करके संसार का अंत कैसे करें ?

यही कारण है कि इस ग्रंथ में भव के अन्त का उपाय, मुक्ति का मार्ग सबसे पहले बताया गया है। **संसार के दु:खों का स्वरूप सुनकर यह जीव घबड़ाये नहीं; अपितु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मुक्ति के मार्ग में लगें ह्न यही भावना रही है आचार्यदेव की।।३९-४२।।**

इसप्रकार यहाँ चौथा अध्याय समाप्त होता है।

> चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो पाता; तब तक मुख्यत: मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणतिरूप परिणत हो जायेगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्यायरूप परिणमित हो जायेगा।
>
> **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१०**

पाँचवाँ अध्याय
पृष्ठभूमि

सात तत्त्वार्थों में जीव और अजीव तत्त्वार्थ द्रव्यरूप हैं और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वार्थ पर्यायरूप हैं।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में जीव तत्त्वार्थ की चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ संपन्न हुई। अब अजीव तत्त्वार्थ की चर्चा इस पाँचवें अध्याय में चलेगी। इसप्रकार **पाँच अध्यायों में द्रव्य तत्त्वार्थों की चर्चा सम्पन्न होगी।**

इसके बाद छठवें अध्याय से पर्याय तत्त्वार्थों की चर्चा आरंभ होगी; जो दसवें अध्याय में होनेवाली मोक्षतत्त्वार्थ की चर्चा के बाद समाप्त होगी।

यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि **छठवें अध्याय में** सामान्य आस्रव के साथ अशुभ आस्रव की एवं **सातवें अध्याय में** शुभास्रव की चर्चा होगी। **आठवें अध्याय में** बंध, **नौवें अध्याय में** संवर, निर्जरा एवं **दसवें अध्याय में** मोक्ष तत्त्वार्थ की चर्चा होगी।

अजीव तत्त्वार्थ की चर्चा करनेवाले इस अध्याय में जैनदर्शन के मर्म को उद्घाटित करनेवाले ऐसे छह सूत्रों पर भी चर्चा होगी; जिनका संबंध अकेले अजीव तत्त्वार्थ से नहीं है, अपितु वे पूरे जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश डालनेवाले होंगे।

वे महत्त्वपूर्ण सूत्र निम्नानुसार हैं ह्न

१. सद्द्रव्यलक्षणम्   २. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्
३. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्   ४. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः
५. तद्भावः परिणामः   ६. अर्पितानर्पितसिद्धेः

इन सूत्रों की चर्चा यथास्थान होगी ही। अभी तो अजीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं। ●

अजीव द्रव्य

विगत अध्यायों में हुई जीव की चर्चा के उपरान्त अब अजीव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।।१।।

द्रव्याणि ।।२।।

जीवाश्च ।।३।।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४।।

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ह्ल ये चार द्रव्य अजीव और कायवान् (बहुप्रदेशी) हैं; अजीवकाय हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ह्ल ये सभी द्रव्य हैं।

जीव भी द्रव्य है।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

पुद्गल द्रव्य रूपी है।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ह्ल ये चार द्रव्य जीव से भिन्न होने से, जीवरूप न होने से अजीव हैं और बहुप्रदेशी होने से कायवान् हैं। इसप्रकार अजीवकाय हैं। यहाँ काय शब्द का भाव बहुप्रदेशी होना ही है।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ह्ल ये चारों अजीव और काय होने के साथ-साथ द्रव्य भी हैं।

जीव भी द्रव्य हैं। यद्यपि जीव, अजीव द्रव्य नहीं हैं; तथापि जीव द्रव्य तो हैं ही।

जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाये जाते हैं, उस द्रव्य को रूपी कहते हैं। अभी कहे गये पाँच द्रव्यों में मात्र एक पुद्गल में ही स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाये जाते हैं; अतः एक मात्र वही रूपी है, शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं।

यह अध्याय अजीव तत्त्वार्थ का निरूपण करनेवाला अध्याय है; इसलिए इसमें सर्वप्रथम अजीव द्रव्यों की चर्चा की गई है।

यद्यपि द्रव्य, छह प्रकार के हैं ह्ल जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; तथापि यहाँ पहले सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ह्ल इन चार द्रव्यों की बात आरंभ की है; क्योंकि यहाँ उन्हीं को लेना अभीष्ट था; जो अजीव हों और बहुप्रदेशी भी हों।

अजीव न होने से जीव की और बहुप्रदेशी न होने से कालद्रव्य की चर्चा यहाँ नहीं की; किन्तु जब दूसरे सूत्र में इनके द्रव्यपने की बात कही तो साथ में यह कहना अनिवार्य हो गया कि जीव भी द्रव्य है।

यद्यपि काल भी द्रव्य है, अजीव है, अजीवद्रव्य है; तथापि उसके बहुप्रदेशी न होने से यहाँ उसकी बात नहीं कही। आगे यथासमय ३९वें सूत्र में उसकी भी चर्चा करेंगे।

जब उक्त द्रव्यों को नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा गया तो साथ में यह स्पष्ट करना भी आवश्यक हो गया कि पुद्गलद्रव्य रूपी है ।।१-५।।

द्रव्यों की एवं उनके प्रदेशों की संख्या

अबतक पाँच द्रव्यों की चर्चा हुई। अब यह बताते हैं कि ये द्रव्य कितने-कितने हैं और उनके प्रदेश कितने-कितने हैं ह्ल

आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।।

निष्क्रियाणि च ।।७।।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।।८।।

आकाशस्यानन्ताः ।।९।।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।१०।।

नाणोः ।।११।।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं।

उक्त तीनों द्रव्य निष्क्रिय भी हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं।

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं।

पुद्गल द्रव्यों के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं।

अणु रूप पुद्गल द्रव्य के प्रदेश नहीं हैं।

धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है और आकाशद्रव्य भी एक ही है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य में क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप क्रिया नहीं होती। इन द्रव्यों का गमनागमन नहीं होता।

धर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं, अधर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं और एक जीवद्रव्य में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त तीनों के प्रदेशों की संख्या समान है।

लोकाकाश और अलोकाकाश ह्न दोनों का मिला हुआ आकाश एक अखण्ड आकाशद्रव्य है। उक्त अखण्ड आकाशद्रव्य के अनन्त प्रदेश होते हैं।

लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं।

पुद्गल द्रव्य मूलत: तो अणु ही है और वह एक प्रदेशी ही होता है। एक प्रदेशी पदार्थ को अप्रदेशी भी कहते हैं।

अनेक परमाणुओं के पिण्डरूप स्कंध को संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी भी कहा गया है।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य निश्चयनय से एक प्रदेशी या अप्रदेशी और व्यवहारनय से संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी है।।६-११।।

द्रव्यों का अवगाह

अब यह बताते हैं कि ये द्रव्य रहते कहाँ हैं ?

लोकाकाशेऽवगाहः ।।१२।।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।।१३।।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।१४।।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।।१५।।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।।१६।।

उक्त धर्मादिक द्रव्यों का अवगाह (रहना) लोकाकाश में होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं।

पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक हो सकता है।

जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है।

जिसप्रकार दीपक का प्रकाश कम-अधिक स्थान में बन जाता है; उसीप्रकार जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार स्वभाव के कारण वह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में बन जाता है।

आकाश के जिस भाग में सभी द्रव्य पाये जाते हैं; उस भाग को **लोकाकाश** कहते हैं। शेष भाग को **अलोकाकाश** कहते हैं। **अलोकाकाश में मात्र आकाश-आकाश ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं।**

इस सम्पूर्ण लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य उसी तरह व्याप्त हैं, जिसतरह तिल में तेल व्याप्त रहता है।

ध्यान रहे, पुद्गल का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र परिपूर्ण द्रव्य है। अत: निश्चय से तो पुद्गल द्रव्य एकप्रदेशी ही है, अप्रदेशी है; वह भी अस्तिकाय नहीं है। **पुद्गल को तो स्कन्ध की अपेक्षा उपचार से बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहा जाता है।**

यदि पुद्गल का एक परमाणु अबद्ध अवस्था में है तो उसे रहने के

लिए आकाश का एक प्रदेश चाहिए; क्योंकि एक प्रदेश से कम जगह में वह रह नहीं सकता और एक प्रदेश से अधिक जगह वह घेर नहीं सकता; किन्तु बद्ध या अबद्ध दो परमाणु आकाश के एक प्रदेश में भी रह सकते हैं और दो प्रदेशों को भी घेर सकते हैं। इसीप्रकार बद्ध या अबद्ध तीन परमाणु आकाश के एक प्रदेश में भी रह सकते हैं और दो या तीन प्रदेशों को भी घेर सकते हैं।

इसीप्रकार आगे बढ़ते जायें तो संख्यात बद्ध या अबद्ध परमाणु एक प्रदेश में भी बन सकते हैं और दो, तीन, चार...संख्यात प्रदेशों को भी घेर सकते हैं। इसीप्रकार असंख्यात और अनंत परमाणु भी एक प्रदेश से लेकर लोकाकाश प्रमाण क्षेत्र को घेर सकते हैं।

सूत्र में कहे गये एक प्रदेशादि से भाज्य का आशय यही है।

अब **असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ह्र** इस पर विचार करते हैं।

एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो सकता है। केवलिसमुद्घात के समय एक समय ऐसा आता है कि जब यह जीव लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है; क्योंकि एक जीव के भी उतने ही प्रदेश हैं, जितने लोकाकाश के हैं।

प्रश्न ह्र यद्यपि एक जीव अधिक से अधिक तो सम्पूर्ण लोक को घेर सकता है, पर उसे रहने के लिए कम से कम कितना स्थान चाहिए ?

उत्तर ह्र इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि कम से कम लोक का असंख्यातवाँ भाग तो चाहिए ही।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि लोक का असंख्यातवाँ भाग तो एक प्रदेश ही होगा; क्योंकि लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है ?

इसका उत्तर यह है कि असंख्यात भी तो असंख्यात प्रकार का होता है। असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग ऐसा भी हो सकता है कि जिसमें असंख्यात प्रदेश हों।

ध्यान रहे **जीव लोकाकाश के एक प्रदेश में नहीं बन सकता; उसे रहने के लिए असंख्य प्रदेश तो लगते ही हैं।**

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि ऐसी स्थिति में असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में असंख्यप्रदेशी अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं और लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी जीव लोक के असंख्यातवें भाग आदि रूप शरीरों में कैसे रह सकता है ?

इन प्रश्नों का समाधान आचार्य पूज्यपाद अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ में इसप्रकार करते हैं ह्र

''जीव दो प्रकार के हैं ह्र सूक्ष्म और बादर, अत: उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव हैं, उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है; किन्तु जो सूक्ष्म हैं, यद्यपि वे सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होने के कारण एक निगोदिया जीव लोकाकाश के जितने प्रदेशों में अवगाहन करता है, उतने में साधारण शरीरवाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में और बादरों के साथ व्याघात को प्राप्त नहीं होते, इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता।

पुन: शंकाकार का कहना है कि जब एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर बतलाये हैं तो लोक के असंख्यातवें भाग में वह जीव कैसे रह सकता है, उसे तो सब लोक व्याप्त करके ही रहना चाहिए ?

इसी का समाधान करते हुए कहते हैं कि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों में संकोचविस्तार की शक्ति होने के कारण लोकाकाश के असंख्येय भागादिक में जीवों का अवगाह बन जाता है।[१]''

जिसप्रकार एक कमरे को एक दीपक अपने प्रकाश से भर देता है, उसी एक कमरे में अन्य अनेक दीपकों का प्रकाश भी समा जाता है। एक दीपक का प्रकाश पूरे कमरे में भी व्याप्त होता है और उसे छोटी पेटी अथवा घड़े में रखा जाय तो उतने में भी सिमट सकता है। यह प्रकाश के सिकुड़ने और फैलने की शक्ति के कारण ही होता है। इसीप्रकार जीवों में संकोचविस्तार की असीम शक्ति है, इसकारण लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों में असंख्य प्रदेशी अनेक जीव समा जाते हैं।।१२-१६।।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र १५-१६ की टीका, पृष्ठ २१३

उपकार निर्देश

अब द्रव्यों के परस्पर उपकार का निर्देश किया जाता है ह्न

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ।।१७।।

आकाशस्यावगाहः ।।१८।।

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।१९।।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।।२०।।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।।२१।।

वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ।।२२।।

स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों के गमन में निमित्त होना धर्मद्रव्य का उपकार है तथा गमनपूर्वक स्थिति में, ठहरने में निमित्त होना अधर्मद्रव्य का उपकार है।

सभी द्रव्यों को अवकाश देना, रहने का स्थान देना, सभी द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त होना आकाश का उपकार है।

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास में निमित्त होना जीवों के प्रति पुद्गलों का उपकार है।

इसीप्रकार सुख-दुःख और जीवन-मरण में निमित्त होना पुद्गलों का जीवों के प्रति उपकार है।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता में परस्पर में निमित्त होना ह्न यह जीवों का परस्पर उपकार है।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व में निमित्त होना ह्न ये कालद्रव्य का सभी द्रव्यों के प्रति उपकार हैं।

यद्यपि लोक में मुख्यरूप से उपकार शब्द का अर्थ भलाई करना ही माना जाता है; तथापि यहाँ इस प्रकरण में उपकार शब्द का अर्थ भलाई करना नहीं है; क्योंकि यहाँ **सुख के साथ दुःख देने को और जीवन के साथ मरण को भी उपकारों में गिनाया गया है।**

जीवों के प्रति पुद्गल के उपकार गिनाते हुए मूल सूत्र में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि **शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं। साथ में सुख-दुःख और जीवन-मरण भी जीवों के प्रति पुद्गल के उपकार हैं।**

अब आप ही बताइये कि दुःख देने और मृत्यु प्राप्त कराने को भलाई कैसे माना जा सकता है?

शरीर पौद्गलिक है। शरीर का संयोग जीव के प्रति पुद्गल का उपकार है। शरीर तो हमारे लिये जेल है, बंधन है; कार्मण शरीर तो बंधन है ही, औदारिक आदि शरीर भी बंधन ही है।

कहा भी है ह्न

"पाप-पुण्य मिल दोय पायन बेड़ी डारी।
तनकारागृह माँहि मोहि दियो दुखभारी।।[१]"

पापकर्म और पुण्यकर्म ह्न इन दोनों कर्मों ने मेरे पैरों में बेड़ियाँ डाल कर मुझे शरीररूपी जेल में कैद कर भारी दुःख दिये हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि पाप के उदय से प्राप्त होनेवाले प्रतिकूल तन-वचन का संयोग और पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाले अनुकूल तन-वचन का संयोग ह्न दोनों बेड़ियाँ हैं, तन तो कारागृह (जेल) ही है ह्न ये सभी पुद्गल द्रव्य के जीव के प्रति उपकार हैं। इनमें अकेली भलाई की बात कहाँ है ? **यहाँ भलाई-बुराई ह्न दोनों को ही पुद्गल द्रव्य के उपकार बताया गया है।**

अरे, भाई ! गंभीरता से विचार करो कि देह का बंधन उपकार है या अपकार ?

आप कह सकते हैं कि यह मानवदेह तो उपकार ही है, पर भाई ! नारकियों और तिर्यंचों का शरीर भी तो शरीर ही है, निगोदिया का शरीर भी तो शरीर ही है। यहाँ तो सभी के शरीरों को पुद्गल द्रव्य का उपकार बताया गया है।

१. कविवर भूधरदास : देवस्तुति, बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ ७५

अरे, भाई ! **यहाँ कहे गये उपकार शब्द से तो भले–बुरे सभी शरीरों को उपकारी बताया जा रहा है। यहाँ उपकारों में उपकार के साथ अपकार भी शामिल हैं।**

समयसारादि अनेक ग्रंथों के भाषा टीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इन्हीं सूत्रों की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धि वचनिका में उपकार शब्द का अर्थ इसप्रकार करते हैं ह्न

''उपकार शब्द का अर्थ भला करना नहीं लेना, कछु कार्य को निमित्त होय, तिसको उपकारी कहिये है।''

पण्डित कैलाशचन्दजी उपकार शब्द का अर्थ इसप्रकार करते हैं ह्न

''यहाँ उपकार का मतलब केवल भलाई नहीं लेना चाहिए, बल्कि किसी भी कार्य में सहायक होना उपकार है।[१]''

रामजीभाई उपकार शब्द का अर्थ इसप्रकार करते हैं ह्न

''उपकार (उपग्रह) शब्द का अर्थ किसी का भला करना नहीं; किन्तु निमित्त मात्र ही समझना चाहिए; नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि 'जीवों को दुःख, मरणादि के उपकार' पुद्गल द्रव्य के हैं।[२]''

यद्यपि लगभग सभी लोगों ने यही स्वीकार किया है कि यहाँ उपकार शब्द का अर्थ मात्र निमित्त होना ही है; तथापि समझाने के लिए जो उदाहरण दिये हैं; वे सब भलाई संबंधी ही दिये हैं।

इसकारण उपकार के अर्थ के संबंध में लोगों की बुद्धि में पहले से ही जमी हुई भलाईवाली मान्यता पुष्ट होती रहती है।

वस्तुतः बात ऐसी है कि जिसप्रकार राष्ट्रपति-उपराष्ट्रपति, सभापति-उपसभापति, अध्यक्ष-उपाध्यक्ष, मंत्री-उपमंत्री होते हैं; उसीप्रकार कारक और उपकारक भी होते हैं।

उप विशेषण का प्रयोग समीपता के अर्थ में होता है। जैसे नगर और उपनगर। जो नगर के समीप स्थित हो उसे उपनगर कहते हैं। जयपुर एक नगर है और बापूनगर उसका उपनगर है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ८१

२. मोक्षशास्त्र, सूत्र २० की टीका, पृष्ठ ३४०

इसीप्रकार **प्रत्येक कार्य का कारक उपादान होता है और उपकारक निमित्त।**

कार्य अच्छा हो या बुरा, अपने लिए अनुकूल हो या प्रतिकूल; उस कार्य के कारक तो हम स्वयं हैं और उपकारक (निमित्त) कोई न कोई परद्रव्य होगा। तात्पर्य यह है कि **प्रत्येक द्रव्य स्वयं में होनेवाले कार्य का कारक है और कोई न कोई परद्रव्य निमित्तरूप से उसका उपकारक है। उपकारक का अर्थ उपकार करनेवाला नहीं, अपितु निमित्तरूप गौण कारक है।**

भैया भगवतीदासजी लिखते हैं ह्न

उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।

प्रत्येक कार्य का उपादानरूप स्वद्रव्य निश्चय कारक (कर्त्ता-करण) है और परद्रव्यरूप निमित्त उपकारक है, उपचार कारक है, व्यवहार कारक है, मात्र कहने का कारक है।

इसतरह यहाँ जितने उपकारक या उपकार गिनाये हैं; उन सभी का अर्थ भलाई ही नहीं है, बुराई भी हो सकता है। इस बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है।

आकाश द्रव्य ने सभी द्रव्यों को अवकाश देकर, धर्मद्रव्य ने स्वयं चलते हुए जीव-पुद्गलों के गमन करने में निमित्त होकर तथा अधर्म द्रव्य ने गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को स्वयं स्थित होने में निमित्त बनकर किसी का क्या उपकार (भला) किया है ?

अरे, भाई ! उन द्रव्यों का तो यह सहज स्वभाव है।

इसीप्रकार सभी द्रव्य स्वयं परिणमनशील हैं, परिणमन करना उनका सहज स्वभाव है; उस परिणमन में निमित्त बनकर कालद्रव्य ने उनकी क्या भलाई की है? क्योंकि जिसका जो भी भला-बुरा हो रहा है, सभी में कालद्रव्य निमित्त है। इसीप्रकार अकेले स्वर्ग में नहीं, नरक में रहने में भी तो आकाशद्रव्य निमित्त (उपकारक) है। अकेले मोक्ष में नहीं, नरक में जाने में भी तो धर्मद्रव्य निमित्त (उपकारक) है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि ये जीव और पुद्गल अपनी

स्वयं की पर्यायगत योग्यता से चाहे नरक, चाहे स्वर्ग, चाहे निगोद, चाहे मोक्ष ह्न सर्वत्र, धर्मद्रव्य जाने में; आकाशद्रव्य रहने में, अधर्मद्रव्य गमन पूर्वक स्थिति में, ठहरने में और कालद्रव्य परिणमन में निमित्त होंगे ही; इसी को ये सूत्र उनका उपकार कहते हैं।

इसीप्रकार जीव भी परस्पर चाहे एक-दूसरे का सहयोग करें या आपस में लड़े-मरें ह्न ये सूत्र तो दोनों को उपकार ही कहेंगे। समझ लीजिए इसमें सबकुछ आ गया है।

यदि हम ऐसा अर्थ समझेंगे तो फिर उपकार शब्द का सही भाव हमारे ध्यान में आवेगा।

बिना समझे-बूझे ही हमने इसे अपना मोटो बना लिया है। लगभग सभी लोग इसतरह बात करते हैं कि जैसे **परस्परोग्रहो जीवानाम्** ह्न यह सूत्र हमें ऐसा आदेश दे रहा है कि हमें एक-दूसरे के काम आना चाहिए।

अरे, भाई ! हमारे लिए तो संबंधित सभी परजीव चेतन परिग्रह हैं और शरीरादि अचेतन परिग्रह हैं। जैनदर्शन में तो परिग्रहरूप इन पदार्थों के प्रति एकत्व-ममत्व एवं राग-द्वेष को त्याग करने योग्य कहा है।

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि इस उपकारों के प्रकरण में **'उपकार' पद का अर्थ भलाई करना नहीं, मात्र निमित्त होना है।**

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हमें किसी का उपकार करना चाहिए या नहीं ?

अरे, भाई ! यहाँ तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराना प्रयोजन है, करने-कराने का नहीं।

जहाँ जिस अपेक्षा जो बात कही हो, वहाँ वही समझना समझदारी है।

जब निश्चय से कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता; तब हमें किसी का कुछ करना चाहिए या नहीं ह्न यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

यद्यपि निश्चय से उक्त कथन परम सत्य है, तथापि **ज्ञानी धर्मात्माओं में भी अन्य का भला करने का भाव आये बिना नहीं रहता।** यही कारण है कि व्यवहार से किसी का बुरा नहीं करने और भला करने का उपदेश दिया जाता है।।१७-२२।।

पुद्गल द्रव्य

उपकारों के प्रकरण में बार-बार पुद्गल द्रव्य की चर्चा हुई है। अत: अब **पुद्गल द्रव्य के स्वरूप पर विचार करते हैं ह्न**

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तःपुद्गलाः ।।२३।।

पुद्गल द्रव्य; स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला है।

जो स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से छूकर जाना जाता है; उसे **पुद्गल द्रव्य का स्पर्श गुण** कहते हैं। वह स्पर्श आठ प्रकार का है ह्न

१. स्निग्ध, २. रूक्ष, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. कोमल, ६. कठोर, ७. हल्का और ८. भारी।

स्पर्श के इन आठ प्रकारों को हम निम्नांकित चार युगलों में भी प्रस्तुत कर सकते हैं ह्न

१. रूखा-चिकना, २. शीत-उष्ण, ३. कोमल-कठोर और ४. हलका-भारी।

जो रसना इन्द्रिय के माध्यम से चखकर जाना जाता है; उसे **पुद्गल द्रव्य का रस गुण** कहते हैं। वह रस पाँच प्रकार का है ह्न

१. खट्टा, २. मीठा, ३. कडवा, ४. कषायला और ५. चरपरा।

जो घ्राण इन्द्रिय के माध्यम से सूंघकर जाना जाता है; उसे **पुद्गल द्रव्य का गंध गुण** कहते हैं। वह गंध दो प्रकार की है ह्न

१. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध।

जो चक्षु (आँख) इन्द्रिय के माध्यम से देखकर जाना जाता है; उसे **पुद्गल द्रव्य का वर्ण (रूप) गुण** कहते हैं। वह वर्ण पाँच प्रकार का हैह्न

१. काला, २. नीला, ३. लाल, ४. पीला और ५. सफेद।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य के संक्षेप में चार और विस्तार से बीस प्रकार हैं।।२३।।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें

पुद्गल द्रव्य के गुणों की चर्चा के उपरान्त अब उसकी पर्यायों की बात करते हैं ह्न

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपो-द्योतवन्तश्च ।।२४।।

पुद्गल द्रव्य; १. शब्द, २. बन्ध, ३. सूक्ष्मपना, ४. स्थूलपना, ५. संस्थान, ६. भेद, ७. तम, ८. छाया, ९. आतप और १०. उद्योत ह्न इन पर्यायोंवाला है।

तात्पर्य यह है कि ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

१. शब्द दो प्रकार के होते हैं ह्न

(क) भाषारूप और (ख) अभाषारूप।

(क) भाषारूप शब्द भी दो प्रकार के हैं ह्न अक्षररूप और अनक्षररूप।

मनुष्यों के व्यवहार में आनेवाली अनेक बोलियाँ **अक्षररूप भाषात्मक शब्द** हैं और पशु-पक्षियों वगैरह की टें-टें-में-में **अनक्षररूप भाषात्मक शब्द** हैं।

(ख) अभाषारूप शब्द भी दो प्रकार का है ह्न प्रायोगिक और वैस्रसिक (स्वाभाविक)।

जो पुरुष के प्रयत्न से पैदा होते हैं, उन्हें **प्रायोगिक अभाषारूप शब्द** कहते हैं और जो बिना पुरुष के प्रयत्न के मेघ आदि की गर्जना से उत्पन्न होते हैं, उन्हें **वैस्रसिक (स्वाभाविक) अभाषारूप शब्द** कहते हैं।

२. बन्ध भी दो प्रकार का है ह्न **(क)** वैस्रसिक और **(ख)** प्रायोगिक।

(क) जो बन्ध बिना पुरुष के प्रयत्न के स्वयं होता है, उसे **वैस्रसिक बंध** कहते हैं। जैसे **पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से स्वयं ही बादल, बिजली और इन्द्रधनुष वगैरह बन जाते हैं।**

(ख) पुरुष के प्रयत्न से होनेवाला बन्ध **प्रायोगिक बंध** है। उसके भी दो भेद हैं ह्न **एक अजीव का बन्ध,** जैसे लकड़ी और लाख का बन्ध।

दूसरा **जीव और अजीव का बन्ध,** जैसे आत्मा से कर्म और नोकर्म का बन्ध।

३. सूक्ष्मपना दो प्रकार का है ह्न **एक सबसे सूक्ष्म,** जैसे परमाणु।

दूसरा **आपेक्षिक सूक्ष्म,** जैसे सेव से सूक्ष्म आंवला और आंवले से सूक्ष्म बेर।

४. स्थूलपना भी दो प्रकार का है ह्न एक सबसे अधिक स्थूल, जैसे समस्त जगत में व्याप्त महास्कन्ध।

दूसरा **आपेक्षिक स्थूल,** जैसे बेर से स्थूल आंवला और आंवला से स्थूल सेव।

५. संस्थान यानी आकार भी दो तरह का है ह्न **इत्थं लक्षण संस्थान** और **अनित्थं लक्षण संस्थान।**

गोल, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकारों को 'इत्थं लक्षण संस्थान' कहते हैं; क्योंकि उन्हें कहा जा सकता है और जिस आकार को कह सकना शक्य न हो, जैसे बादलों में अनेक प्रकार के आकार बनते-बिगड़ते रहते हैं, उन्हें 'अनित्थं लक्षण संस्थान' कहते हैं।

६. भेद छह प्रकार का है ह्न १. उत्कर, २. चूर्ण, ३. खण्ड, ४. चूर्णिका, ५. प्रतर, ६. अणुचटन।

आरा से लकड़ी चीरने पर जो बुरादा निकलता है, उसका नाम **उत्कर** है।

जौ, गेहूँ आदि अनाजों के आटे को **चूर्ण** कहते हैं।

घड़े के टुकड़ों को **खण्ड** कहते हैं।

उड़द, मूँग वगैरह की दाल के छिलकों को **चूर्णिका** कहते हैं।

मेघ वगैरह के पटल का नाम **प्रतर** है।

लोहे को गर्म करके पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं, उन्हें **अणु-चटन** कहते हैं।

७. अन्धकार को **तम** कहते हैं।

८. छाया दो प्रकार की होती है ह्न १. तद्वर्णपरिणत, २. प्रतिबिम्ब।

१. तद्वर्णपरिणत ह्न जिस वस्तु की छाया हो, उसका रूप रंग ज्यों का त्यों उसमें आ जाये, जैसे **दर्पण में मुख का रूप रंग वगैरह ज्यों का त्यों आ जाता है।**

२. प्रतिबिम्ब ह्न प्रतिबिम्ब मात्र, जैसे **धूप में खड़े होने से छाया मात्र पड़ जाती है।**

९. सूर्य के प्रकाश को आतप या **धूप** कहते हैं।

१०. चन्द्रमा वगैरह के शीतल प्रकाश को **उद्योत** कहते हैं।

ह्न ये सब पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

ध्यान रहे **अणु पुद्गल द्रव्य** है और स्कन्ध पुद्गल द्रव्य की समान-जाति **द्रव्यपर्याय** है।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ह्न ये पुद्गल द्रव्य के गुण हैं और शब्द, बंध और सूक्ष्मत्व आदि स्कन्धरूप पर्यायों के प्रकार हैं।।२४।।

> सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं; क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अत: यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अत: उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है; क्योंकि **इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है।** ह्न **मैं कौन हूँ, पृष्ठ-३**

पुद्गल के भेद

पुद्गल द्रव्य के गुण और पर्यायों की चर्चा के उपरान्त अब उसके भेदों की चर्चा करते हैं ह्न

अणवः स्कन्धाश्च ।।२५।।

पुद्गल के दो भेद हैं ह्न १. अणु और २. स्कन्ध।

१. अणु या परमाणु ह्न पुद्गल के सबसे छोटे से छोटे भाग को अणु या परमाणु कहते हैं। **यह परमाणु ही मूलतः पुद्गल द्रव्य है।** यह एक प्रदेशी ही होता है। **एक प्रदेशी अणु को अप्रदेशी भी कहते हैं।**

एक पुद्गल परमाणु में; पाँच रसों में से **कोई एक रस,** पाँच रंगों में से **कोई एक रंग (वर्ण),** दो गंधों में से **कोई एक गंध** और आठ स्पर्शों में से **कोई दो अविरोधी स्पर्श** अर्थात् शीत और उष्ण में से कोई एक स्पर्श तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक स्पर्श ह्न इसप्रकार **अणु के मूलतः पाँच गुण होते हैं।**

२. स्कन्ध ह्न अनेक पुद्गल परमाणुओं के पिंड को स्कन्ध कहते हैं। ये स्कन्ध एक से अधिक दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के होते हैं, हो सकते हैं।

वस्तुतः ये स्कन्ध पुद्गल द्रव्य नहीं, पुद्गल द्रव्य की पर्याये हैं। मूल पुद्गल द्रव्य तो अणु या परमाणु ही है। यद्यपि अणु भी रूपी है; तथापि अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह चक्षु इन्द्रिय से दिखाई नहीं देता।

नियमसार में परमाणु की परिभाषा इसप्रकार दी गई है ह्न

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ।।२६।।

इन्द्रियों से ना ग्रहे अविभागि जो परमाणु है।
वह स्वयं ही है आदि एवं स्वयं ही मध्यान्त है।।२६।।

आदि, मध्य और अन्त से रहित, इन्द्रियों से अग्राह्य और जिसका विभाग करना संभव न हो ह्न ऐसा अविभागी पुद्गल परमाणु, द्रव्य है।।२५।।

अणु और स्कन्धों की उत्पत्ति का नियम

अब इन अणु-स्कंधरूप पुद्गलों की उत्पत्ति का नियम बताते हैंह्न

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।।२६।।

भेदादणुः ।।२७।।

भेद से, संघात से और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

अणु की उत्पत्ति स्कन्धों के भेद (टूटने) से होती है, संघात से नहीं होती।

स्कन्धों के टूटने को **भेद** कहते हैं। भिन्न-भिन्न परमाणुओं या स्कन्धों के मिलकर एक हो जाने को **संघात** कहते हैं।

दो परमाणुओं के संघात से दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले एक स्कन्ध और एक अणु के संघात से या तीन अणुओं के संघात से **तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है।**

इसीप्रकार दो-दो प्रदेशवाले दो स्कन्धों के संघात से या तीन प्रदेश वाले एक स्कन्ध और एक अणु के संघात से या चार अणुओं के संघात से **चार प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है।**

इसप्रकार संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनंतानंत अणुओं और स्कन्धों के संघात से; उतने-उतने प्रदेशोंवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

इसीप्रकार संख्यात आदि परमाणुओं के स्कन्धों के भेद से **दो प्रदेश आदि के स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।**

किन्हीं के भेद से और किन्हीं के संघात से यानि भेद-संघात ह्न दोनों से भी स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि स्कन्धों की उत्पत्ति तो संघात से, भेद से और भेद-संघात ह्न इन तीनों से होती है; परन्तु **अणु की उत्पत्ति तो भेद से ही होती है;** संघात या भेद-संघात से नहीं।।२६-२७।।

चाक्षुष स्कन्ध

वर्णवाला होने पर भी, रूपी होने पर भी; अत्यन्त सूक्ष्म होने से, अणु तो चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से देखने में आता ही नहीं है; पर अनंत परमाणुओं के पिण्ड होने पर भी अनेक स्कंध चक्षु इन्द्रिय से देखने में नहीं आते।

जो स्कंध चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से देखने में आवें; उन स्कंधों को **चाक्षुष स्कंध** कहते हैं और जो स्कंध चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से देखने में नहीं आवें; उन स्कंधों को **अचाक्षुष स्कंध** कहते हैं।

यहाँ प्रश्न यह है कि **अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष कैसे बनते हैं?**

इस प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है; जो इसप्रकार है ह्न

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।।२८।।

भेद और संघात दोनों से स्कन्ध, चाक्षुष बनता है अर्थात् चक्षु इन्द्रिय का विषय होता है।

वस्तुस्थिति यह है कि अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होकर भी कोई स्कंध **अचाक्षुष** होता है और कोई स्कन्ध **चाक्षुष** होता है।

औदारिक शरीररूप स्कंध चाक्षुष हैं और उससे अनंतगुणे परमाणु वाले कार्मण शरीररूप स्कंध चाक्षुष नहीं हैं।

बात यह है कि सूक्ष्म परिणमनवाले स्कन्ध का भेद होने पर भी कभी-कभी वह अपनी सूक्ष्मता नहीं छोड़ता; इसलिए उसमें अचाक्षुष पना ही बना रहता है।

वस्तुतः बात यह है कि अकेले भेद से स्कंध चाक्षुष नहीं होता; अपितु **भेद और संघात से स्कन्ध चाक्षुष बनता है।**

किसी एक स्कंध में भेद होने पर, जब उस स्कंध का किसी दूसरे स्कंध से संघात (संयोग) होता है तो उसमें स्थूलता की उत्पत्ति हो जाती है और वह चाक्षुष हो जाता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि एक सूक्ष्म स्कंध से भेद को प्राप्त कर जब वह सूक्ष्म स्कंध अन्य स्कंध से जुड़ता है तो वह स्थूल होकर चाक्षुष हो जाता है, चक्षु इन्द्रिय से जानने में आने लगता है।

ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु हैं, दोनों नेत्र इन्द्रिय से अगोचर स्कन्ध हैं। दोनों के मिलाप होने पर नेत्रइन्द्रियगोचर जल हो जाता है।

इसलिए नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध होने के लिए, जिसमें मिलाप हो, वह स्कंध नेत्रइन्द्रियगोचर होना ही चाहिए ह्न ऐसा नियम नहीं है और सूत्र में भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध चाहिए ही ह्न ऐसा कथन नहीं है। सूत्र में सामान्य कथन है।

तात्पर्य यह है कि एक अचाक्षुष स्कन्ध से टूटकर कोई अचाक्षुष स्कंध दूसरे चाक्षुष स्कन्ध से मिले, तब तो वह स्कंध चाक्षुष हो ही जावेगा; पर यदि किसी अचाक्षुष स्कंध में भी मिले, तब भी चाक्षुष हो सकता है। नहीं भी हो ह्न ऐसा भी हो सकता है।

यह वस्तुस्थिति जानने योग्य है। जानने में आ जावे, तब तो बहुत बढिया है ही; नहीं भी आवे तो अधिक विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इसके नहीं जान पाने से आपका मुक्तिमार्ग अवरुद्ध होनेवाला नहीं है ।।२८।।

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। **नित्यता की भांति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है।** अथवा पर्याय की कर्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीव-द्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? **नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो?**

ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८

द्रव्य का लक्षण

पहले धर्मादिक द्रव्यों की चर्चा हुई है। अत: यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि आखिर द्रव्य है क्या, द्रव्य का लक्षण क्या है, द्रव्य किसे कहते हैं ?

उक्त प्रश्न का उत्तर आगामी सूत्रों में दिया जा रहा है ह्न

सद्द्रव्यलक्षणम् ।।२९।।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।।३०।।

जो सत् है, वह द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण सत् है।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है। इसप्रकार 'द्रव्य' लक्ष्य है और 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत्' द्रव्य का लक्षण है।

स्वयं के स्वभाव (जाति) को छोड़े बिना नवीन अवस्था की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व अवस्था का त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक भावरूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है।

कोयला जलकर राख हो गया। इसमें कोयलारूप पर्याय का व्यय हुआ, राखरूप पर्याय का उत्पाद और कोयला और राख ह्न इन दोनों ही अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य समानरूप से बना रहा, कायम रहा ह्न यही द्रव्य की नित्यता है, ध्रुवता है, ध्रौव्य है।

प्रतिसमय बदलकर भी कभी नहीं बदलना और कभी न बदलकर भी प्रतिसमय बदलते रहना प्रत्येक द्रव्य का मूल स्वभाव है।

कभी नहीं बदलना प्रत्येक वस्तु (द्रव्य) का द्रव्यस्वभाव है और प्रतिसमय बदलते रहना पर्यायस्वभाव है। नयों की भाषा में इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि **प्रत्येक वस्तु (द्रव्य) द्रव्यार्थिकनय से कभी भी नहीं बदलती, पर पर्यायार्थिकनय से प्रतिसमय बदलती ही रहती है ।।२९-३०।।**

नित्यता का लक्षण

इसी अध्याय के चौथे सूत्र में द्रव्यों को नित्य कहा था। अत: अब उक्त **नित्यता का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह्न**

तद्भावाव्ययं नित्यम् ।।३१।।

वस्तु (द्रव्य) का होना और उसका व्यय (अभाव) नहीं होना ही नित्यता है।

प्रत्येक द्रव्य निरन्तर कायम रहकर भी निरंतर बदलता रहता है और निरन्तर बदल कर भी निरन्तर कायम रहता है।

जिसप्रकार जीव निरन्तर अपने क्रमनियमित परिणामों में उत्पन्न होता हुआ भी अजीव नहीं होता; अजीव भी अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ भी जीव नहीं होता; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ भी कभी अन्य द्रव्य रूप नहीं होता, मूल से कभी नष्ट नहीं होता ह्न यही उसकी नित्यता है।

जब हम किसी २५ वर्ष के नवयुवक को देखकर यह कहते हैं कि रे सुरेश ! तू इतना बड़ा हो गया, इतना बदल गया। जब तू पाँच वर्ष का था, तब मैंने तुझे नंगा खेलते देखा है।

आपके इस कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि वह पाँच वर्ष का बालक पूरी तरह बदल गया है; फिर भी उसमें कुछ ऐसा है, जिसके कारण तुमने उसे पहिचान लिया।

तात्पर्य यह है कि बहुत कुछ बदलकर भी कुछ न कुछ ऐसा है, जो नहीं बदला है। तुम्हारे इस ज्ञान को ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। बस यही समझ लीजिए कि आपके इस प्रत्यभिज्ञानरूप ज्ञान के कारण को नित्यता कहते हैं।।३१।।

अर्पित और अनर्पित

यह तो अनुभवसिद्ध सत्य है कि प्रत्येक द्रव्य बदलकर भी नहीं बदलता है और नहीं बदलकर भी बदल जाता है।

इस महासत्य की सिद्धि **मुख्यता और गौणता की अपेक्षा होती है।**

यही बात आगामी सूत्र में कही जा रही है ह्न

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।।३२।।

मुख्य को अर्पित और गौण को अनर्पित कहते हैं। इस मुख्यता और गौणता की अपेक्षा ही एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्मयुगलों का अखण्डपिण्ड है; अनन्त स्वभावों और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है।

यद्यपि ये गुण, धर्म युगल, स्वभाव और शक्तियाँ; प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप में ही समाहित हैं, तद्रूप ही हैं, अभिन्न ही हैं; तथापि ये सब गुण, धर्म, स्वभाव और शक्तियाँ द्रव्य से कथंचित् (किसी अपेक्षा) पृथक् भी हैं।

यद्यपि ये सभी द्रव्यदृष्टि से, द्रव्यार्थिकनय से; द्रव्य में अभेद हैं, अखण्ड हैं, नित्य हैं, एक हैं; तथापि पर्यायदृष्टि से, पर्यायार्थिकनय से; भिन्न-भिन्न हैं, खण्ड-खण्ड हैं, अनित्य हैं और अनेक हैं तथा प्रमाण से भेदाभेदरूप हैं, खण्डाखण्डरूप हैं, नित्यानित्यरूप हैं और एकानेक रूप हैं।

उक्त अपेक्षाओं में से हम जिस अपेक्षा को समझना-समझाना चाहते हैं; वह अपेक्षा मुख्य होती है, अर्पित होती है और विवक्षित होती है; शेष अपेक्षायें गौण रहती हैं, अनर्पित रहती हैं, अविवक्षित रहती हैं। **विवक्षित, अर्पित और मुख्य ह्न ये सब एकार्थवाची ही हैं।**

इसीप्रकार अविवक्षित, अनर्पित और गौण का भी एक ही अर्थ है।

इसप्रकार अर्पित और अनर्पित के प्रयोग से वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है, समझने-समझाने का प्रयोग होता है।

जिसप्रकार एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, पुत्र की अपेक्षा पिता है; इसप्रकार वह पिता भी है और पुत्र भी है।

इसीप्रकार वही व्यक्ति अपने मामा की अपेक्षा भानजा है, भानजे की अपेक्षा मामा है; इसप्रकार वह मामा भी है और भानजा भी है।

इसप्रकार वह पिता, पुत्र, मामा, भानजा ह्न सब कुछ एक साथ ही है।

इसीप्रकार द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक द्रव्य नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है और प्रमाण से नित्य भी है, अनित्य भी है ह्न इसप्रकार नित्यानित्य है। इसप्रकार द्रव्य नित्य, अनित्य और नित्यानित्य ह्न सबकुछ एक साथ ही है।

जब नयों का प्रयोग होता है तो उसमें दृढ़ता प्रदान करने के लिए **'ही'** लगाई जाती; पर जब प्रमाण का प्रयोग करते हैं तो अपरपक्ष की गौणरूप से स्वीकृति के लिए उसमें **'भी'** लगाई जाती है।

जैसे द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य नित्य ही है, पर्यायार्थिकनय से द्रव्य अनित्य ही है और प्रमाण से नित्य भी है, अनित्य भी है; नित्यानित्य है।

इसप्रकार विवक्षित (अर्पित) और अविवक्षित (अनर्पित) रूप से वस्तु का प्रतिपादन होता है, वस्तुस्वरूप समझा जाता है और वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है।।३२।।

> आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; **'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं।**
>
> **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१२९**

स्कन्धरूप बंध का स्वरूप

पुद्‌गल द्रव्य के परमाणुओं का स्कन्धरूप बंध किसप्रकार होता है; अब यह स्पष्ट करते हैं ह्न

स्निग्धरूक्षत्वाद्‌बन्धः ।।३३।।

न जघन्यगुणानाम् ।।३४।।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।।३५।।

द्व्यधिकादिगुणानां तु ।।३६।।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।।३७।।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से पुद्‌गलों का परस्पर बंध होता है।

पर जघन्यगुणवाले पुद्‌गलों का बंध नहीं होता।

इसीप्रकार गुणों की समानता होने पर तुल्यजातिवालों का बंध नहीं होता।

दो अधिक आदि शक्ति के अंशवालों का तो बंध होता है।

बंध होते समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है।

स्निग्धत्व अर्थात् चिकनापन और रूक्षत्व अर्थात् रूखापन।

विगत सूत्रों में पुद्‌गल द्रव्य के मूलतः चार गुणों की एवं विस्तृत रूप से बीस गुणों की चर्चा आई है। उन बीस गुणों में स्पर्श गुण के आठ प्रकारों में **मात्र स्निग्ध और रूक्ष ह्न ये दो गुण ही बन्ध के कारण हैं।** शेष अठारह गुणों के कारण बंध नहीं होता, स्कन्ध नहीं बनते।

यह हम अत्यन्त स्पष्टरूप से देखते हैं कि एक पुस्तक के रूखे दो पृष्ठ आपस में चिपकते नहीं हैं; किन्तु यदि उनके बीच में एक बूँद स्निग्ध गोंद की आ जावे तो वे चिपक जाते हैं। पृष्ठों में व्याप्त रंग, रस और गंध से चिपकने और नहीं चिपकने का कोई संबंध नहीं है। अतः यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है कि स्कंधरूप बंध में स्निग्धता और रूक्षता ही कारण है।

यद्यपि यह सत्य है कि स्निग्धता और रूक्षता से बंध होता है; तथापि परमाणु के स्कंधरूप बंध के लिए और भी अनेक शर्तें हैं। जैसे ह्न **जघन्य गुणवालों का, समानगुणवालों का बंध नहीं होता आदि।**

एक-एक परमाणु में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। वे घटते-बढते रहते हैं। **शक्ति के सबसे जघन्य अंश को अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं।**

जिसप्रकार बकरी, गाय और भैंस के दूध या घी में उत्तरोत्तर अधिक स्निग्धता एवं रेत, बजरी, पत्थर आदि में उत्तरोत्तर अधिक रूक्षता पाई जाती है; उसीप्रकार परमाणुओं में भी न्यूनाधिक स्निग्ध और रूक्षत्व पाया जाता है।

यद्यपि 'गुण' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; पर यहाँ प्रकरणवश से गुण शब्द का प्रयोग शक्त्यंशों के रूप में हुआ है।

एक गुणवाले स्निग्ध परमाणु का अन्य एक गुणवाले तथा अन्य दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त स्निग्ध गुणवाले परमाणुओं के साथ बंध नहीं होता है तथा एक गुण स्निग्ध परमाणु का एक गुण रूक्ष तथा दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण रूक्षवाले के साथ भी बंध नहीं होता है।

इसीप्रकार एक गुणवाले रूक्ष परमाणु का अन्य एक गुण रूक्ष या स्निग्ध या दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात व अनन्त गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुओं के साथ बंध नहीं होता है।

दो स्निग्ध शक्त्यंशवालों का दो रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यंशोंवाले का तीन रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशों वाले का दो स्निग्ध शक्त्यंशों वालों के साथ, दो रूक्ष शक्त्यंशों का दो रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ बंध नहीं होता।

स्निग्ध परमाणु का दो अधिक शक्त्यंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ बंध होता है। रूक्ष परमाणु का दो अधिक शक्त्यंशवाले रूक्ष

परमाणु के साथ बंध होता है तथा स्निग्ध का रूक्ष के साथ, रूक्ष का स्निग्ध के साथ सम या विषम गुणों के होने 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' इसी नियम से बंध होता है, किन्तु जघन्य शक्त्यंशवाले का बंध सर्वथा वर्जनीय है।

जब परमाणुओं का स्कंधरूप में बंध होता है तो अधिक गुण (शक्त्यंश) वाले परमाणु, कम गुणवालों को स्वयं में समाहित कर लेते हैं; इसलिए उन्हें पारिणामिक कहते हैं।

जिसप्रकार गीला गुड़, उस पर पड़नेवाली धूल को गुड़रूप कर लेता है; उसीप्रकार कम शक्ति-अंशवाले परमाणु या स्कंधों को अधिक गुण (शक्ति-अंश) वाले परमाणु या स्कंध अपनेरूप परिणमित कर लेते हैं।

दो गुणवाले स्निग्ध परमाणु के लिए चार गुण शक्त्यंशवाले स्निग्ध परमाणु, पारिणामिक होते हैं और दो शक्त्यंशवाले स्निग्ध परमाणु के लिए चार शक्त्यंशवाले रूक्ष व स्निग्ध परमाणु, पारिणामिक होते हैं तथा दो गुण शक्त्यंशवाले रूक्ष परमाणुओं के लिए चार शक्त्यंशवाले स्निग्ध व रूक्ष परमाणु, पारिणामिक हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि इसप्रकार के निरूपण का क्या प्रयोजन है; क्योंकि इसमें अपना किया तो कुछ होना नहीं है।

आचार्य अकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक में उक्त प्रकरण का समापन करते हुए लिखते हैं ह्न

''बन्ध की इतनी लम्बी चरचा करने का प्रयोजन यह है कि आत्मा के योगव्यापार से आत्मा के प्रदेशों में स्निग्धरूप परिणत अनन्तप्रदेशी कर्म बंध को प्राप्त होते हैं। ये ज्ञानावरणादि कर्म अपनी तीस कोड़ाकोड़ी सागर आदि तक की स्थिति तक घनपरिणामी बन्ध को प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते।''

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पुद्गल परमाणुओं में बंध का कारण एकमात्र स्निग्धता और रूक्षता है; उसीप्रकार आत्मा के साथ कर्मबंध

का कारण भी आत्मा में होनेवाली रागरूप स्निग्धता और द्वेषरूप रूक्षता ही है।

जिसप्रकार पुद्‌गल के स्निग्ध-रूक्षरूप स्पर्श गुण के अतिरिक्त अनन्त गुणों का बंध के होने में कोई योगदान नहीं है; उसीप्रकार **आत्मा के श्रद्धा और चारित्रगुणसंबंधी मिथ्यात्व और राग-द्वेष के अतिरिक्त अन्य गुण और उनकी पर्यायों का कर्मबंध होने में कोई योगदान नहीं है।**

आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं ह्न

''जिसप्रकार शुद्ध-बुद्ध स्वभाव द्वारा यह आत्मा बन्ध रहित होने पर भी, पश्चात् अशुद्धनय से स्निग्ध के स्थानीय रागभाव तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषभावरूप से जब परिणमित होता है, तब परमागम में कही गई विधि से बन्ध का अनुभव करता है; उसीप्रकार परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी, जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप से परिणमित होता है, तब दूसरे पुद्‌गल के साथ विभाव पर्यायरूप बन्ध का अनुभव करता है।

बकरी के दूध में, गाय के दूध में, भैंस के दूध में चिकनाई की वृद्धि के समान; जिसप्रकार जीव में बन्ध के कारणभूत स्निग्ध के स्थानीय रागपना तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषपना, जघन्य विशुद्धि-संक्लेश स्थान से प्रारम्भ कर परमागम में कहे गये क्रम से उत्कृष्ट विशुद्धि-संक्लेश पर्यन्त बढ़ते हैं; उसीप्रकार पुद्‌गल परमाणु द्रव्य में भी, बन्ध के कारणभूत स्निग्धता और रूक्षता पहले कहे गये जलादि की तारतम्य (क्रम से बढ़ती हुई) शक्ति के उदाहरण से एक गुण नामक जघन्य शक्ति से प्रारम्भ कर अन्य गुण नामक अविभागी प्रतिच्छेदरूप दूसरे आदि शक्ति विशेष से अनंत संख्या तक बढ़ते हैं; क्योंकि पुद्‌गलद्रव्य के परिणामी होने के कारण परिणाम का निषेध किया जाना शक्य नहीं है।

विशेष यह है कि ह्न परम चैतन्य परिणति लक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप धर्मध्यान, शुक्लध्यान के बल से; जिसप्रकार जघन्य स्निग्ध

शक्ति के स्थानीय राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष शक्ति के स्थानीय द्वेष के क्षीण होने पर, जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार पुद्‌गल परमाणु के भी जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्ति का प्रसंग होने पर बन्ध नहीं होता है ह्न ऐसा अभिप्राय है।[१]''

यहाँ पर जानने की विशेष बात यह है कि यहाँ पर आत्मा के बंध का उदाहरण देकर पुद्‌गल के बंध को समझाया गया है।

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में पुद्‌गल स्कन्धों के बनने की प्रक्रिया समझाई गई है। **एकप्रदेशीय पुद्‌गल परमाणु मूलत: पुद्‌गलद्रव्य है और अनेक परमाणुओं के स्कंध पुद्‌गलद्रव्य की पर्यायें हैं।**

पुद्‌गल तो परस्पर बंधते ही हैं; स्कंध के रूप में परिणमित होते ही हैं। उनमें परस्पर और जीव के साथ उनके बंध की प्रक्रिया का क्या स्वरूप है ह्न यही बात यहाँ समझाई जा रही है।

उक्त बंध होने में कारण उनमें होनेवाली स्निग्धता और रूक्षता है। यद्यपि जीवों में स्निग्धता और रूक्षता नहीं होती; तथापि राग-द्वेष होते हैं। जीव के साथ पौद्‌गलिक कर्मों का बंध और नोकर्मों का संबंध होने का कारण जीव की रागरूप स्निग्धता और द्वेषरूप रूक्षता ही है। बंध होने की उक्त संक्षिप्त प्रक्रिया यहाँ समझाई जा रही है।

प्रश्न : यह तो ठीक है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष ही मूलत: बंध के कारण हैं; पर पुद्‌गल का पुद्‌गल के साथ बंध की यह प्रक्रिया तो अप्रयोजनभूत ही है।

उत्तर : हाँ, यह तो है कि आप यह नहीं समझ पायेंगे तो आपका कोई बड़ा नुकसान होनेवाला नहीं है; पर लौकिक कार्यों में इतनी बुद्धि भ्रमाते हो तो थोड़ी-बहुत सर्वज्ञकथित इस विषय में लग जावे तो भी कोई हानि नहीं है।।३३-३७।।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १६३-१६५

द्रव्य का लक्षण

इसी अध्याय के २९-३०वें सूत्र में द्रव्य का लक्षण बताया गया है। अब द्रव्य के लक्षण को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हैं ह्न

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।।३८।।

द्रव्य, गुण और पर्यायवाला होता है।

जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों (प्रदेशों) और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं (पर्यायों) में रहते हैं; उन्हें गुण कहते हैं।

जैसे ह्न ज्ञान आत्मा का गुण है; वह आत्मा के समस्त (असंख्य) प्रदेशों और निगोद से लेकर मोक्ष तक की समस्त पर्यायों में पाया जाता है।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गलद्रव्य के गुण हैं; वे पुद्गल के प्रदेशों और पर्यायों में पाये जाते हैं।

द्रव्य या गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की प्रतिसमय एक पर्याय होती है। इसप्रकार **द्रव्य में गुण तो एक साथ होते हैं और पर्यायें क्रमश: होती हैं।**

यही कारण है कि गुणों को अन्वयी और पर्यायों को व्यतिरेकी कहा जाता है।

प्रश्न ह्न २९-३०वें सूत्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् को द्रव्य कहा था और यहाँ द्रव्य को गुण और पर्यायवाला बताया जा रहा है।

उत्तर ह्न द्रव्य की उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि **पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप होती हैं और गुण ध्रौव्यरूप। इसलिए चाहे द्रव्य को गुण-पर्यायवान कहें, चाहे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप सत् वाला कहें ह्न एक ही बात है।।३८।।**

कालद्रव्य

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ह्न इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों की चर्चा तो विस्तार से हुई; पर बहुप्रदेशी न होने से अभी तक कालद्रव्य की चर्चा नहीं हुई; अत: अब उसकी चर्चा करते हैं ह्न

कालश्च ।।३९।।

सोऽनन्तसमय: ।।४०।।

और काल भी द्रव्य है। वह कालद्रव्य अनन्त समयवाला है।

काल भी एक द्रव्य है; क्योंकि द्रव्य की उक्त परिभाषाएँ काल में भी पाई जाती हैं। वह गुण-पर्यायवाला तो है ही, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से भी सहित है। कालद्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व आदि सामान्य गुण और वर्तनाहेतुत्व विशेष गुण हैं; अत: वह गुणवाला है और निरन्तर परिवर्तनशील होने से पर्यायें भी उसके हैं ही।

उसका अस्तित्व है, पर बहुप्रदेशी नहीं होने से वह कायवान नहीं है। कालद्रव्य एकप्रदेशी है; अत: उसे अप्रदेशी भी कहा जाता है।

कालद्रव्य, एक-दो नहीं; असंख्य हैं। जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही कालद्रव्य हैं। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु द्रव्य, मणियों की भाँति खचित है।

उक्त संदर्भ में द्रव्यसंग्रह में एक गाथा प्राप्त होती है; जो इसप्रकार हैह्न

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किका।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ।।२२।।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु द्रव्य, रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् जड़े हुए हैं। वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।

वह कालद्रव्य अनन्त समयवाला है। वर्तमान का एक समय, भूतकाल के अनन्त समय और उससे भी अनन्तगुणे भविष्य के समय ह्न इसप्रकार वह कालद्रव्य, अनन्त समयवाला है।।३९-४०।।

गुण और पर्याय

३८वें सूत्र में द्रव्य को गुण-पर्यायवाला कहा था। अतः अब **गुण-पर्याय का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह्न**

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।४१।।

तद्भावः परिणामः ।।४२।।

द्रव्य के आश्रय में रहनेवाले गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक गुण के आश्रय में दूसरे गुण नहीं रहते।

द्रव्य या गुणों का होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना, परिणाम है।

द्रव्य और उसके गुणों में आधार-आधेय संबंध है। द्रव्य आधार है और गुण आधेय हैं।

जिसप्रकार तेल, तिलों के सभी अवयवों में व्याप्त रहता है; उसी प्रकार गुण भी द्रव्य के सभी प्रदेशों और पर्यायों में व्याप्त होकर रहते हैं।

जिसप्रकार द्रव्य में गुण पाये जाते हैं; उसीप्रकार एक गुण में अन्य गुण नहीं पाये जाते; इसलिए यहाँ गुणों को निर्गुण कहा गया है।

गुण दो प्रकार के होते हैं ह्न १. सामान्य गुण और २. विशेष गुण।

१. जो गुण सब द्रव्यों में समानरूप से पाये जाते हैं; उन्हें **सामान्य गुण** कहते हैं। जैसे ह्न अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व आदि गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं; अतः **ये सामान्य गुण हैं।**

२. जो गुण जिस द्रव्य की विशेषता को बताते हैं और मात्र उसी द्रव्य में पाये जाते हैं; वे गुण उस द्रव्य के **विशेष गुण** हैं। जैसे ह्न **चेतनत्व** जीव द्रव्य का विशेष गुण है; **मूर्त्तत्व** पुद्गलद्रव्य का विशेष गुण है; **गतिहेतुत्व** धर्मद्रव्य का विशेष गुण है; **गमनपूर्वक स्थितिहेतुत्व** अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है; **अवगाहनहेतुत्व** आकाश द्रव्य का विशेष गुण है और **परिणमनहेतुत्व** कालद्रव्य का विशेष गुण है।

प्रश्न ह्न यहाँ द्रव्य के आश्रय में रहना और अन्य गुण से रहित होना गुण का स्वरूप कहा है। पर पर्याय भी तो द्रव्य के आश्रय में रहती है और उसमें कोई गुण नहीं रहता; अतः निर्गुण भी है।

ह्न ऐसी स्थिति में गुण और पर्याय में कुछ अन्तर नहीं रहता।

उत्तर ह्न गुण द्रव्य के आश्रय में नित्य रहते हैं, पर्यायें नित्य नहीं हैं, अनित्य हैं। गुण अक्रमवर्ती होते हैं और पर्यायें क्रमवर्ती। इसलिए पर्यायें गुणों से भिन्न हैं।

इसलिए गुण की उक्त परिभाषा पर्यायों में नहीं रहती; अतः उक्त कथन में कोई दोष नहीं है।।४१-४२।।

इसप्रकार यहाँ पाँचवाँ अध्याय समाप्त होता है।

पर से भिन्न निज को जानने से क्या मतलब ? क्या पर को नहीं जानना है; मात्र पर से भिन्न निज को जानना है ?

पर को जानना है, पर उसे मात्र जानना ह्न उसमें जमना नहीं, रमना नहीं, उसमें डटना नहीं; उससे हटना है। जबकि निज को जानकर उसमें जमना भी है; रमना भी है, उसी में समा जाना है। अपने में ही समा जाना भेद-विज्ञान का फल है। पर को भी जानना है, पर उसकी गहराई में नहीं जाना है। निज को जानना भी है और उसकी गहराई में भी जाना है।

क्यों ?

क्योंकि पर को जानना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। निज को जानना, मानना, निज में ही जमना, रमना आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है। पर को तो मात्र इसलिए जानना है कि पर को निज न मान लिया जाए। अतः निज को तो, निज को जानने के लिए जानना ही है, परन्तु पर को भी निज को जानने के लिए जानना है। **निज को जानना मूल प्रयोजन है, क्योंकि निज को जानने में ही अपना हित है। पर को, जानो तो ठीक, न जानो तो ठीक, जब आत्मा का 'जानना' स्वभाव है तो पर भी जानने में आ ही जाता है।**

ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ ९५-९६

छठवाँ अध्याय

पृष्ठभूमि

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि तत्त्वार्थों को द्रव्य-तत्त्वार्थ और पर्याय-तत्त्वार्थ के रूप में भी विभाजित किया जाता है। जीव और अजीवरूप द्रव्य-तत्त्वार्थों की चर्चा विगत पाँच अध्यायों में विस्तार से की जा चुकी है।

अब पर्याय-तत्त्वार्थों की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

पर्याय-तत्त्वार्थों में सर्वप्रथम आस्रव तत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं; जो दो अध्यायों में समाप्त होगी। छठवें अध्याय में आस्रव तत्त्वार्थ के सामान्य स्वरूप को स्पष्ट करने के उपरान्त ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के आस्रवों के कारणों पर विचार करेंगे।

सातवें अध्याय में व्यवहार से धर्म कहे जानेवाले शुभभावरूप या पुण्यकर्मरूप आस्रव तत्त्वार्थ का निरूपण होगा। •

आस्रव तत्त्वार्थ का सामान्य स्वरूप

अब आस्रव तत्त्वार्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम योग की चर्चा करते हैं ह्न

कायवाङ् मनःकर्म योगः ।।१।।

स आस्रवः ।।२।।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।।३।।

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।।४।।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं।

वह योग ही आस्रव है।

शुभयोग से पुण्यकर्म का आस्रव होता है और अशुभयोग से पापकर्म का आस्रव होता है।

कषाय सहित जीवों के सांपरायिक आस्रव होता है और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

वस्तुतः तो आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द (हलन-चलन) का नाम योग है; आत्मप्रदेशों का यह परिस्पन्द काय, वचन और मन के योग के निमित्त से होता है। इसप्रकार **निमित्त के भेद से योग तीन प्रकार का हो जाता है;** जो इसप्रकार है ह्न

१. काययोग, २. वचनयोग और ३. मनोयोग।

१. काय (शरीर) के योग से जो आत्मप्रदेशों का हलन-चलन होता है; उसे **काययोग** कहते हैं।

२. वचन (वाणी) के योग से जो आत्मप्रदेशों का हलन-चलन होता है; उसे **वचनयोग** कहते हैं।

३. मन के योग से जो आत्मप्रदेशों का हलन-चलन होता है; उसे **मनोयोग** कहते हैं।

यह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है।

आस्रव माने आना। योग के निमित्त से आत्मा में कर्मों का आना ही आस्रव है। इसलिए यह कहा गया है कि योग ही आस्रव है।

योग के द्वारा जो कर्म आते हैं; वे कर्म, पुण्यकर्म और पापकर्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

शुभयोग से पुण्यकर्म का आस्रव होता है और अशुभयोग से पाप कर्म का आस्रव होता है।

जीवों के प्राणों का घात करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना आदि **अशुभ शारीरिक कार्य काययोग** है।

झूठ बोलना, कठोर बोलना **अशुभ वचनयोग** है।

विषयभोग के परिणाम अथवा किसी का बुरा सोचना **अशुभ मनोयोग** है।

इसीप्रकार ह्न

प्राणियों की रक्षा करना आदि शारीरिक कार्य **शुभ काययोग** है।

हित-मित-प्रिय बोलना **शुभ वचनयोग** है।

दूसरों का भला सोचना **शुभ मनोयोग** है।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि पापरूप घातिकर्मों का बंध शुभयोग के समय भी होता रहता है; अत: यह कहना कहाँ तक ठीक है कि शुभयोग से पुण्यकर्म का बंध होता है ?

उत्तर ह्न यह तो हम सभी जानते हैं कि घातिकर्मों में पुण्य-पाप संबंधी भेद नहीं होता; क्योंकि घातिकर्म तो सभी पाप हैं।

पुण्य-पाप का भेद तो अघातिकर्मों में ही होता है। अत: तीसरे सूत्र के कथन को अघाति कर्मों की अपेक्षा से किया गया कथन ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि शुभयोग से अघातिकर्मों की पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और अशुभयोग से अघातिकर्मों की पाप प्रकृतियों का बंध होता है।

कषाय सहित जीवों के होनेवाले संसार के कारणभूत आस्रव को **सांपरायिक आस्रव** कहते हैं और कषाय रहित जीवों के स्थिति-अनुभाग बंध से रहित केवल योगों से होनेवाले आस्रव को **ईर्यापथ आस्रव** कहते हैं।

इसप्रकार आस्रव, स्वामी की अपेक्षा से **सांपरायिक आस्रव** और **ईर्यापथ आस्रव** के भेद से दो प्रकार का होता है।

योग से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध होता है और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। कहा भी है ह्न

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बन्धो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।[१]

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार का होता है। इनमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होता है।

१. द्रव्यसंग्रह, गाथा ३३

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि क्या बंध के कारण योग और कषाय ही हैं; इनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ?

उत्तर ह्न इसी महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में बंध के कारण गिनाते हुए कहा है ह्न

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।।१।।[१]

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ह्न ये पाँच बंध के कारण अर्थात् आस्रवभाव हैं।

प्रश्न ह्न द्रव्यसंग्रह और इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय के कथनों में यह अन्तर क्यों है ?

उत्तर ह्न द्रव्यसंग्रह में ही क्यों; इसी ग्रन्थ के आठवें अध्याय के दूसरे सूत्र में लिखा है ह्न

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।।२।।[२]

कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुदगलों को ग्रहण करता है, उसे बंध कहते हैं।

आठवें अध्याय के उक्त सूत्रों की व्याख्या यथास्थान विस्तार से की जावेगी; पर अभी यहाँ इतना जान लो कि यहाँ कषाय शब्द से मात्र कषायें ही नहीं लेना; अपितु कषाय है अन्त में जिनके ह्न ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय लेना चाहिए; क्योंकि संसार को बढ़ानेवाला सांपरायिक आस्रव अकेली कषायों से ही नहीं, अपितु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ह्न इन चारों से होता है।

पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक स्थिति और अनुभाग बंध सहित **सांपरायिक आस्रव** होता है; क्योंकि वहाँ तक कषायांश विद्यमान रहता है; परन्तु उसके आगे ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कषायांश न होने से स्थिति और अनुभाग बंध से रहित योगों से होनेवाला **ईर्यापथ आस्रव** होता है ।।१-४।।

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र १
२. वही, सूत्र २

साम्परायिक आस्रव

अब साम्परायिक आस्रव की चर्चा करते हुए सूत्र कहते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः ।।५।।

इन्द्रियाँ पाँच, कषायें चार, अव्रत पाँच और क्रियायें पच्चीस ह्न ये सब सांपरायिक आस्रव के भेद हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ह्न ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ ह्न ये चार कषायें हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह ह्न उक्त पाँच पापों के अत्यागरूप पाँच अव्रत हैं।

इन्द्रियों, कषायों और अव्रतों की चर्चा यथास्थान हो चुकी है या होगी। अब यहाँ पच्चीस क्रियाओं की चर्चा करते हैं ह्न

१. सम्यक्त्व क्रिया ह्न चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्व क्रिया है।

२. मिथ्यात्व क्रिया ह्न मिथ्यात्व के उदय से जो अन्य देवताओं के स्तवन आदि रूप क्रिया होती है, वह मिथ्यात्व क्रिया है।

३. प्रयोग क्रिया ह्न शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है।

४. समादान क्रिया ह्न संयत का अविरति के सन्मुख होना समादान क्रिया है।

५. ईर्यापथ क्रिया ह्न ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

६. प्रादोषिकी क्रिया ह्न क्रोध के आवेश से प्रादोषिकी क्रिया होती है।

७. कायिकी क्रिया ह्न दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है।

८. आधिकरणिकी क्रिया ह्न हिंसा के साधनों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है।

९. पारितापिकी क्रिया ह्न जो दुःख की उत्पत्ति का कारण है, वह पारितापिकी क्रिया है।

१०. प्राणातिपातिकी क्रिया ह्न आयु, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, बलरूप प्राणों का वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है।

११. दर्शन क्रिया ह्न रागवश प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय दर्शन क्रिया है।

१२. स्पर्शन क्रिया ह्न प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है।

१३. प्रात्ययिकी क्रिया ह्न नये अधिकरणों को उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

१४. समन्तानुपात क्रिया ह्न स्त्री-पुरुषों और पशुओं के जाने-आने, उठने और बैठने के स्थान में भीतरी मल का त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है।

१५. अनाभोग क्रिया ह्न प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गई भूमि पर शरीर आदि का रखना अनाभोग क्रिया है।

१६. स्वहस्त क्रिया ह्न जो क्रिया दूसरों के द्वारा करने की हो, उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है।

१७. निसर्ग क्रिया ह्न पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेष के लिए सम्पत्ति देना निसर्ग क्रिया है।

१८. विदारण क्रिया ह्न दूसरे ने जो सावद्यकार्य किया है, उसे प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

१९. आज्ञाव्यापादिकी क्रिया ह्न चारित्रमोहनीय के उदय से

आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

२०. अनाकांक्ष क्रिया ह्न धूर्तता, शठता और आलस्य के कारण शास्त्र में उपदेशी गयी विधि का अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है।

२१. प्रारंभ क्रिया ह्न छेदना, भेदना आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के करने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

२२. पारिग्राहिकी क्रिया ह्न परिग्रह का नाश न हो, इसलिए जो क्रिया की जाती है, वह पारिग्राहिकी क्रिया है।

२३. माया क्रिया ह्न ज्ञान-दर्शन आदि के विषय में छल करना माया क्रिया है।

२४. मिथ्यादर्शन क्रिया ह्न मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष को प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना कि तू ठीक करता है, मिथ्यादर्शन क्रिया है।

२५. अप्रत्याख्यान क्रिया ह्न संयम का घात करनेवाले कर्म के उदय से त्यागरूप परिणामों का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इन क्रियाओं को पाँच-पाँच के पाँच समूहों में विभाजित किया है।

उक्त सभी क्रियायें साम्परायिक आस्रव की कारण हैं।

इनमें इन्द्रियाँ, कषायें, अव्रत ह्न ये तीन कारणरूप हैं और पच्चीस क्रियायें कार्यरूप हैं।।५।।

भाई ! संसार का स्वरूप ही ऐसा है। एक दिन हम सबको भी जाना है, दो-चार वर्ष पीछे या दो-चार वर्ष आगे ह्न इससे क्या अंतर पड़ता है ? अत: हम सभी को अपना जीवन इतना व्यवस्थित बनाना चाहिए कि हम प्रतिपल जाने को तैयार रहें, यदि मौत सामने भी आ जाये तो हमें एक समय भी यह विकल्प नहीं आना चाहिए कि जरा ठहरो ! यह काम निबटा लूँ। **ह्न बिखरे मोती, पृष्ठ-६०**

आस्रवभाव में विशेषता

आस्रवों के कारण व भेदों की चर्चा के उपरान्त अब उनकी विशेषताओं की चर्चा करते हैं ह्न

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्त-द्विशेषः ।।६ ।।

तीव्र भाव, मंद भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव, अधिकरण और वीर्य ह्न इनकी विशेषता से आस्रव भाव में विशेषता हो जाती है, भेद पड़ जाता है।

१. क्रोधादि कषायों की तीव्रता को तीव्र भाव कहते हैं।

२. कषायों की मंदता को मन्द भाव कहते हैं।

३. इस प्राणी का मुझे हनन करना चाहिए ह्न इसप्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।

४. मद या प्रमाद के कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है।

५. जिसमें पदार्थ रखे जाते हैं, वह अधिकरण है।

६. द्रव्य की अपनी शक्तिविशेष वीर्य है।

उक्त कारणों से आस्रव भावों में विशेषता आ जाती है, अन्तर पड़ जाता है।

विगत सूत्र में वर्णित पाँच इन्द्रियाँ, चार कषायें, पाँच अणुव्रत और पच्चीस क्रियाओं में से किसी एक कारण से होनेवाले कर्मास्रव में भी तीव्रभाव-मन्दभाव आदि कारणों से अंतर पड़ जाता है। तीव्र भाव से अधिक आस्रव होता है और मन्दभाव से अल्प आस्रव होता है। ज्ञातभाव से अधिक आस्रव होता है और अज्ञातभाव से अल्प आस्रव होता है। अधिक हिंसा करने की शक्तिवाले साधनरूप अधिकरण से अधिक आस्रव होता है और कम हिंसा की शक्तिवाले साधनरूप अधिकरण से अल्प आस्रव होता है। शक्तिविशेष को वीर्य कहते हैं। अधिक वीर्य सहित प्रवर्तमान हिंसादि द्वारा अधिक आस्रव होता है और कम वीर्य से प्रवर्त्तमान हिंसादि द्वारा अल्प आस्रव होता है।।६।।

अधिकरण

आस्रवभाव में होनेवाली विशेषताओं की चर्चा के उपरान्त अब आस्रव के अधिकरणों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

अधिकरणं जीवाजीवाः ।।७।।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय–विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।८।।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाद्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ।।९।।

आस्रव के आधार जीव और अजीव हैं। इसप्रकार अधिकरण दो प्रकार का हो गया ह्न १. जीवाधिकरण और २. अजीवाधिकरण।

आदि (आरंभ) का जीवाधिकरण १०८ प्रकार का है ह्न संरम्भ, समारंभ और आरंभ ह्न ये तीन; मन, वचन और काय ह्न ये तीन; कृत, कारित और अनुमोदना ह्न ये तीन एवं क्रोध, मान, माया और लोभ ह्न ये चार कषायें ह्न कुल मिलाकर ३ह्न३ह्न३ह्न४=१०८ प्रकार का जीवाधिकरण होता है।

निर्वर्तना २, निक्षेप ४, संयोग २ और निसर्ग ३ ह्न ये सब अजीवाधिकरण के भेद हैं।

विगत सूत्र में अधिकरण की चर्चा आई है। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आधार की अपेक्षा आस्रव दो प्रकार का होता है ह्न १. जीवास्रव और २. अजीवास्रव।

यहाँ जीवास्रव के १०८ प्रकार बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि **जीव के १०८ प्रकार के भावों से कर्मों का आस्रव होता है; इसलिए जीवास्रव को भावास्रव भी कहते हैं।**

आलोचना पाठ में हम प्रतिदिन बोलते हैं ह्न

समरंभ समारंभ आरंभ मन वचन तन कीने प्रारंभ।
कृत कारितमोदन करिके क्रोधादि चतुष्टय धरिके ।।४।।

शत आठ जु इन भेदन तैं अघ कीने परिछेदन तैं।
तिनकी कहुँ को लों कहानी तुम जानत केवलज्ञानी ।।५।।

किसी काम के करने के संकल्प को **संरम्भ,** उसके साधनों को इकट्ठे करने को **समारंभ** और कार्य शुरू कर देने को **आरंभ** कहते हैं।

स्वयं करना **कृत** है, दूसरों से कराना **कारित** है और किये गये कार्य की सराहना करना **अनुमोदना** है।

मन, वचन, काय और चार कषायें पहले स्पष्ट की जा चुकी हैं। इन सबके परस्पर गुणा कर देने पर १०८ भंग बन जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगों के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से विशिष्ट करने पर प्रत्येक के छत्तीस–छत्तीस भेद होते हैं।

१. क्रोधकृतकायसंरम्भ, २. मानकृतकायसंरम्भ, ३. मायाकृतकाय संरम्भ, ४. लोभकृतकायसंरम्भ, ५. क्रोधकारितकाय संरम्भ, ६. मान कारितकायसंरम्भ, ७. मायाकारितकायसंरम्भ, ८. लोभकारितकाय संरम्भ, ९. क्रोधानुमतकायसंरम्भ, १०. मानानुमतकायसंरम्भ, ११. मायानुमतकायसंरम्भ और १२. लोभानुमतकायसंरम्भ।

इसप्रकार संरम्भ बारह प्रकार का है।

समारम्भ और आरम्भ भी इसी तरह बारह–बारह प्रकार के होकर कुल छत्तीस प्रकार काययोग के होते हैं।

इसीतरह वचन और मन के भी छत्तीस–छत्तीस प्रकार मिलकर कुल १०८ प्रकार जीवाधिकरण के होते हैं।

अब अजीवाधिकरण की चर्चा करते हैं ह्न

(क) उत्पन्न करने, रचना करने या बनाने को निर्वर्त्तना कहते हैं।

मूलगुण निर्वर्त्तना और उत्तरगुण निर्वर्त्तना के भेद से निर्वर्त्तना दो प्रकार की होती है।

१. मन, वचन, काय, प्राण और अपान अर्थात् श्वासोच्छ्वास की रचना **मूलगुणनिर्वर्त्तना** है।

२. काष्ठादि पर चित्रादि बनाना, पुस्तकें लिखना, **उत्तरगुण निर्वर्त्तना** है।

(ख) रखने को निक्षेप कहते हैं। निक्षेप चार प्रकार का होता है।

१. बिना देखे वस्तु को रख देना **अप्रत्यवेक्षित निक्षेप** है।

२. दुष्टतापूर्वक असावधानी से वस्तु को रखना **दुष्प्रमृष्ट निक्षेप** है।

३. किसी भयवश या अन्य कार्य करने की जल्दी में वस्तु को पटक देना **सहसा निक्षेप** है।

४. बिना देखी हुई या बिना साफ की हुई जमीन पर पड़े रहना **अनाभोग निक्षेप** है।

प्रश्न ह्न निक्षेपों की चर्चा पहले भी आई है।

उत्तर ह्न वे निक्षेप अलग हैं और ये निक्षेप सामान रखने रूप हैं। ये आस्रवभाव रूप हैं और वे प्रमाण और नयों के साथ जानने के उपाय के रूप में आये हैं।

(ग) अनेक वस्तुओं के मिलाने को **संयोग** कहते हैं। उसके दो भेद हैं ह्न उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग।

१. शीत–उष्ण या शुद्ध–अशुद्ध उपकरणों को मिला देना **उपकरण संयोग** है।

२. सचित्त–अचित्त खान–पान को मिला देना **भक्तपान संयोग** है।

(घ) प्रवृत्ति करने का नाम **निसर्ग** है। वह तीन प्रकार का होता है ह्न मनोनिसर्ग, वाग्निसर्ग और कायनिसर्ग।

१. दुष्टतापूर्वक मन की प्रवृत्ति करना **मनोनिसर्ग** है।

२. दुष्टतापूर्वक वचन की प्रवृत्ति करना **वाग्निसर्ग** है।

३. दुष्टतापूर्वक काय की प्रवृत्ति करना **कायनिसर्ग** है।

इसप्रकार अजीवाधिकरण ग्यारह प्रकार का होता है।।७–९।।

दर्शनावरण और ज्ञानावरण के आस्रव के कारण

अबतक कर्म सामान्य के आस्रव के कारणों का निरूपण किया। **अब कर्मविशेष के आस्रव के कारणों की चर्चा करते हैं।**

अत: सर्वप्रथम ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रवों के कारणों की चर्चा आगामी सूत्र में करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।।१०।।

ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ह्न ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

१. प्रदोष ह्न मोक्ष के साधनभूत दर्शन व तत्त्वज्ञान के उपदेशक से ईर्ष्याभाव रखना प्रदोष है।

२. निह्नव ह्न मुक्ति के कारणभूत ज्ञान व दर्शन का अपलाप करना निह्नव है।

३. मात्सर्य ह्न प्राप्त दर्शन व तत्त्वज्ञान को ईर्ष्याभाव से नहीं देना मात्सर्य है।

४. अन्तराय ह्न किसी के दर्शन व ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

५. आसादन ह्न दर्शन व ज्ञान का आदर नहीं करना, उसके उपदेष्टा को रोक देना आसादन या आसादना है।

६. उपघात ह्न दर्शन व ज्ञान को एकदम झूठा बतलाना उपघात है।

इन छह कारणों से दर्शनावरण और ज्ञानावरण का बंध होता है।

यदि ये छह बातें दर्शन के सम्बन्ध में हो तो दर्शनावरण कर्म का और ज्ञान के संबंध में हो तो ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।।१०।।

वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रवों के कारणों की चर्चा के उपरान्त अब वेदनीय कर्म के आस्रवों के कारणों की चर्चा दो सूत्रों के माध्यम से करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ।।११।।

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्वेद्यस्य ।।१२।।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ह्न इन्हें स्वयं को, पर को और दोनों को करने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

प्राणियों पर दया करना और व्रतियों को दान देना, राग सहित संयम पालना, एकदेश संयम पालना, क्षमाभाव और शौच (निर्लोभ) भाव रखना ह्न इन सबसे साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

१. पीड़ारूप परिणामों को **दुःख** कहते हैं।

२. इष्ट के वियोग होने पर होनेवाले विकल परिणामों को **शोक** कहते हैं।

३. तीव्र पश्चाताप होने को **ताप** कहते हैं।

४. दुःखी होकर जोर-जोर से रोने को **आक्रन्दन** कहते हैं।

५. किसी के प्राणों का घात करना **वध** है।

६. अत्यन्त दुःखी होकर ऐसा रुदन करना कि जिसे सुनकर, सुनने वाले का हृदय द्रवित हो जावे, उसे **परिदेवन** कहते हैं।

इसप्रकार जो स्वयं दुःखी होता है, दूसरों को दुःखी करता है, रुलाता है और स्व-पर दोनों को दुःखी करता है; उसे असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

सामान्य से सभी प्राणियों को भूत कहते हैं।

व्यन्तर जाति के देवों में जो भूत नामक व्यन्तर देव होते हैं, उनका यहाँ कुछ भी संबंध नहीं है।

भूत अर्थात् सामान्य प्राणियों पर अनुकम्पा करना और अणुव्रतियों को आमंत्रण पूर्वक ससम्मान भोजन कराना, विशेष कर महाव्रतियों को नवधा भक्तिपूर्वक आहारादि का दान देना, सरागसंयम, संयमासंयम पालना, योगों की साधना करना, शान्ति रखना और पवित्रता रखना, तीव्र लोभादि नहीं करना ह्न इसप्रकार की प्रवृत्तियों से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

भूतव्रत्यनुकम्पादान पद का अर्थ इसप्रकार भी किया जा सकता हैह्न

सामान्य प्राणियों व व्रतियों पर अनुकंपा करना और दोनों को यथायोग्य सम्मानपूर्वक दान देना साता वेदनीय के बंध का कारण है।

अनुकम्पा भी दो प्रकार की होती है ह्न

१. भूतानुकम्पा और २. व्रत्यनुकंपा।

इसप्रकार भूतों अर्थात् सामान्य प्राणियों को अनुकम्पा दान और व्रतियों को ससम्मान यथायोग्य आहारादि दान देना चाहिए।

व्रती भी अणुव्रती और महाव्रती के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार अणुव्रतियों को ससम्मान आमंत्रणपूर्वक आहारादि देना और महाव्रतियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहारादि देना साता वेदनीय के आस्रव के कारणरूप भाव हैं।

व्रतों का वर्णन आगे सातवें अध्याय में विस्तार से होगा ।।११-१२।।

> मनुष्य भव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति में ही है। **ह्न बारह भावना अनुशीलन, पृष्ठ-१८**

मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण

वेदनीय कर्म के उपरान्त अब मोहनीय कर्म के आस्रव के कारणों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।।१३।।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।१४।।

केवली, शास्त्र, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद करने (झूठा दोष लगाने) से दर्शनमोह का आस्रव होता है।

कषाय के उदय से परिणामों में तीव्र कलुषता होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

अरहंत भगवान कवलाहार करते हैं। इसप्रकार के कथन केवली भगवान का अवर्णवाद हैं।

शास्त्रों में मांसाहार की आज्ञा दी गई है ह्न इसप्रकार के कथन करना श्रुत (शास्त्र) का अवर्णवाद है।

साधुओं के संघ पर झूठे दोष लगाना संघ का अवर्णवाद है।

अहिंसामयी रत्नत्रय धर्म पर तरह-तरह के दोष लगाना, वीतरागी धर्म को रागमय बताना धर्म का अवर्णवाद है।

इसीप्रकार देवगति के देवों पर दोष लगाना, उन्हें शराबी, मांसभक्षी बताना देवों का अवर्णवाद है।

इसप्रकार देव, शास्त्र, गुरु, धर्म व देवगति के देवों पर झूठे दोष लगाने से दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व कर्म का आस्रव होता है।

तथा कषाय के उदय से होनेवाले तीव्र क्रोधादि भावों से चारित्र मोहनीय अर्थात् क्रोधादि कषायरूप कर्मों का आस्रव होता है।।१३-१४।।

जैनदर्शन का मार्ग पूर्ण स्वाधीनता का मार्ग है। ह्न **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२१८**

आयुकर्म के आस्रव के कारण

मोहनीय कर्म के आस्रव के कारणों के उपरान्त अब आयुकर्म के आस्रवों का वर्णन करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।।१५।।

माया तैर्यग्योनस्य ।।१६।।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।।१७।।

स्वभावमार्दवं च ।।१८।।

निःशीलतव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।।१९।।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।।२०।।

सम्यक्त्वं च ।।२१।।

बहुत आरंभ करने और बहुत परिग्रह रखने से नरकायु का आस्रव होता है।

मायाचार से तिर्यंचायु का आस्रव होता है।

अल्प आरंभ करने और अल्प परिग्रह-संग्रह से मनुष्य आयु का आस्रव होता है।

स्वभाव की कोमलता भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

थोड़े आरंभ और थोड़े परिग्रह के साथ पंचाणुव्रत एवं सप्तशीलरूप व्रतों का पालन नहीं करनेवालों को सभी आयुओं का आस्रव होता है।

भोगभूमियाँ जीवों के व्रत और शील नहीं हैं, फिर भी उन्हें देवायु का आस्रव होता है।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप भी देवायु के आस्रव के कारण हैं।

सम्यक्त्व को भी देवायु के आस्रव का कारण कहा है।

ध्यान रहे, सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी नहीं होते। तात्पर्य यह है कि वे नियम से वैमानिकदेव ही होते हैं।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषीदेवों के सम्यग्दर्शन हो सकता है, पर **उक्त पर्यायों में कोई जीव सम्यग्दर्शन सहित पैदा नहीं होते।**

यदि सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच हैं तो वे वैमानिक देव होंगे; देवियाँ नहीं। यदि देव या नारकी हैं तो वे मनुष्य और मनुष्यों में भी पुरुष ही होंगे।

यद्यपि सम्यग्दर्शन आस्रव का कारण नहीं होता; तथापि **सम्यक्त्वी वैमानिक देवों में ही जन्म लेते हैं; इसकारण यहाँ उसे भी देवायु के आस्रव के कारणों में गिनाया है।**

सराग संयम ह्न रागपूर्वक संयम पालने को सराग संयम कहते हैं।

संयमासंयम ह्न त्रसहिंसा के त्यागरूप संयम और स्थावर हिंसा का त्याग न होने से होनेवाले असंयम को मिलाकर संयमासंयम कहते हैं।

अकाम निर्जरा ह्न पराधीनतावश अनिच्छापूर्वक भूख-प्यास आदि कष्ट शान्तिपूर्वक सहन करने से जो कर्म झड़ते हैं; उसे अकामनिर्जरा कहते हैं।

बालतप ह्न आत्मज्ञान रहित तप को बालतप कहते हैं।।१५-२१।।

नासमझ होते हुए जो अपने को समझदार मान बैठा हो, उसे समझाना कठिन ही नहीं; असम्भव है। अत: सर्वप्रथम हमें अपने अज्ञान का ज्ञान करना चाहिए। अपने अज्ञान के ज्ञान बिना, कोई समझने को ही तैयार नहीं होता। जो अन्तर से समझने को तैयार होता है, वही समझ सकता है और समझानेवाले का प्रयत्न भी उसे ही समझाने में सफल होता है। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-१५**

नामकर्म के आस्रव के कारण

आयुकर्म के उपरान्त अब नामकर्म के आस्रव के कारणों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

योगवक्रताविसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।।२२।।

तद्विपरीतं शुभस्य ।।२३।।

योगों की वक्रता अर्थात् मन, वचन व काय की कुटिलता और विसंवाद (लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति) से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों से उल्टे कारणों अर्थात् मन-वचन-काय की सरलता और विसंवाद का नहीं होना शुभ नाम कर्म के आस्रव का कारण है।

जब मन-वचन-काय की कुटिलता स्वगत (अपने में ही) होती है, तब उसे **योगवक्रता** कहते हैं तथा जब वही वक्रता दूसरे से की जाती है, उसके आश्रय से झगड़ा किया जाता है तो वह **विसंवाद** कहा जाने लगता है।

सूत्र में आये 'च' शब्द से मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, तोलने-नापने के बाँट अलग-अलग रखना आदि को भी **योगवक्रता** में लिया जा सकता है।

इसीप्रकार इससे उल्टे भाव शुभनामकर्म के संदर्भ में भी जोड़े जा सकते हैं। जैसे ह्न धार्मिक व्यक्तियों के प्रति आदरभाव, संसार भीरुता, अप्रमाद आदि भाव भी शुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं।।२२-२३।।

पर में यह अपनत्व, पर के प्रति यह राग ही, सही निर्णय में सबसे बड़ी बाधा है। ***ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-६१***

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव का कारण

यद्यपि तीर्थंकर नामकर्म भी नामकर्म में आ जाता है; तथापि उसकी विशेषता के कारण उसका उल्लेख पृथक् से किया जा रहा है; जो कि इसप्रकार है ह्न

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारो-ऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।।२४।।

१. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसम्पन्नता, ३. निरतिचार शीलव्रत, ४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५. अभीक्ष्णसंवेग, ६. शक्तित:त्याग, ७. शक्तित:तप, ८. साधु समाधि, ९. वैयावृत्यकरण, १०. अर्हद्भक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति, १४. आवश्यकापरिहाणि, १५. मार्गप्रभावना, १६. प्रवचनवत्सलत्व ह्न ये सोलह भावनायें तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

इन सोलह भावनाओं को सोलहकारण भावना भी कहते हैं।

१. विशुद्ध सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाली विशुद्धि। अरिहंत द्वारा निरूपित निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की सम्यग्श्रद्धा पूर्वक तीव्रतम रुचि **दर्शनविशुद्धि** है।

तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव-बंध चौथे गुणस्थान से ही आरंभ होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि तीर्थंकर प्रकृति बंधने के लिए विशुद्ध सम्यग्दर्शन की उपस्थिति अनिवार्य है।

यह दर्शनविशुद्धि सोलहकारण भावनाओं में पहली भावना है।

२. दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गरूप परिणामों एवं दर्शन-ज्ञान-चारित्रवंत जीवों के प्रति विनय भावों से सम्पन्न होना **विनयसम्पन्नता** नाम की दूसरी सोलहकारण भावना है।

३. पाँच व्रतों और सात शीलव्रतों का निरतिचार पालन करना **निरतिचारशीलव्रत** नाम की तीसरी सोलहकारण भावना है।

इन पाँच व्रतों और सात शीलव्रतों का स्वरूप अगले अध्याय में विस्तार से समझाया जायेगा।

४. जीवादि स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान की आराधना में निरन्तर उपयोग लगा रहना **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग** नामक चौथी सोलहकारण भावना है।

जिनागम और जिन-अध्यात्म संबंधी शास्त्रों के स्वाध्याय में निरन्तर लगे रहना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

५. संसार दु:खों से निरन्तर विरक्त रहना **अभीक्ष्णसंवेग** नाम की पाँचवीं सोलहकारण भावना है।

६. शक्ति के अनुसार त्याग करने की भावना रखना और दान देने की भावना होना **शक्तित:त्याग** नामक छठवीं सोलहकारण भावना है।

शक्तित:त्याग भावना के प्रकरण में तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव तीन प्रकार के दानों की चर्चा करते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे लिखते हैं ह्न

''**क.** आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है।

ख. अभयदान से उस भव का दु:ख छूटता है। अत: पात्र को संतोष होता है।

ग. ज्ञानदान तो अनेक सहस्त्र भवों के दु:ख से छुटकारा दिलाने वाला है।[१]''

इसप्रकार शक्तित:त्याग सोलहकारण भावना में ज्ञानदान की अभूतपूर्व महिमा बताकर अभीक्ष्णज्ञानोपयोग को ही प्रोत्साहित किया गया है।

७. शक्ति के अनुसार बारह तपों में वृत्ति व प्रवृत्ति रहना **शक्तित:तप** नाम की सातवीं सोलहकारण भावना है।

१. आचार्य अकलंकदेव : राजवार्तिक, पृष्ठ ७२२

बारह तपों में भी एक स्वाध्याय नामक तप आता है; उसमें भी ज्ञानाराधना पर बल दिया गया है।

८. साधुओं के योग्य समाधि का धारण करना और समाधिस्थ साधुओं की सेवा की भावना रखना **साधुसमाधि** नाम की आठवीं सोलहकारण भावना है।

९. स्वयं की एवं अन्य साधर्मियों की, साधुओं की यथासाध्य सेवा करना **वैयावृत्त्यकरण** नाम की नौवीं सोलहकारण भावना है।

१०-१३. अरिहंतों, आचार्यों, बहुश्रुतवंत उपाध्यायों के प्रति एवं जिन प्रवचनों के प्रति भक्तिभाव का होना क्रमश: **अरहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और प्रवचनभक्ति** नाम की दस से तेरहवीं तक चार सोलहकारण भावनायें हैं।

उक्त चार प्रकार की भक्तियों में भी ज्ञानाराधना ही परिलक्षित होती है।

१४. छह आवश्यकों का परिपालन करना **आवश्यक-अपरिहाणि** नामक चौदहवीं सोलहकारण भावना है।

मुनिराजों और श्रावकों ह्न दोनों के षट् आवश्यकों में स्वाध्याय नामक आवश्यक है; जबकि गृहस्थ के देवपूजा आदि आवश्यक मुनिराजों में छूट जाते हैं।

१५. रत्नत्रय के तेज से अपने आत्मा की प्रभावना करना और दान, पूजा आदि के माध्यम से जिनदर्शन की प्रभावना करना **मार्गप्रभावना** नाम की पन्द्रहवीं सोलहकारण भावना है।

१६. जिसप्रकार गाय बछड़े से नि:स्वार्थ वात्सल्यभाव रखती है; उसीप्रकार साधर्मी भाई-बहिनों से एवं जिन प्रवचनों से नि:स्वार्थ स्नेह रखना **प्रवचनवात्सल्य** नामक सोलहवीं सोलहकारण भावना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन सोलहकारण भावनाओं में भी स्वाध्याय की ही प्रमुखता है।।२४।।

गोत्रकर्म के आस्रव का कारण

नामकर्म के आस्रवों के कारणों के उपरान्त अब गोत्र कर्म के आस्रव के कारणों की बात करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचै-र्गोत्रस्य।।२५।।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।२६।।

लोकमान्य सदाचारी कुल को उच्चगोत्र और लोकनिंद्य असदाचारी कुल को नीचगोत्र कहते हैं।

दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के विद्यमान गुणों का उच्छादन करना, उन्हें ढांकना (छुपाना) और अपने में अविद्यमान गुणों का उद्भावन करना, उन्हें प्रगट करना ह्न ऐसे भावों से नीचगोत्र का आस्रव होता है।

इसके विपरीत कारणों से अर्थात् दूसरों की प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करना, दूसरों के अच्छे गुणों को प्रगट करना और असमीचीन गुणों को ढांकना (छुपाना) अपने समीचीन गुणों को भी प्रगट नहीं करना, गुणीजनों के सामने विनम्र रहना, गुणों के होने पर भी अभिमान न करना ह्न ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

कुलीन पुरुषों में होने योग्य भावों से उच्च गोत्र और नीच कुलवालों जैसे भावों से नीच गोत्र का आस्रव होता है।।२५-२६।।

माँगने में कुछ बदलने का भाव रहता है, अत: माँगनेवाले ने वस्तु का सहज परिणमन स्वीकार नहीं किया। माँगने में अन्याय भी है; क्योंकि दु:ख तो उसके कर्मों का फल है, जिसे वह भोगना नहीं चाहता, भगवान के माध्यम से माफ करना चाहता है। कोई व्यक्ति चोरी करे, चोरी करना न छोड़ना चाहे और उसके फल को भी न भोगना चाहे और उसमें भगवान की सहायता चाहे, यह कहाँ का न्याय है ? और भगवान उसमें सहयोग करेंगे भी क्यों ? **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-२१**

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण

अब सबसे अन्त में अन्तराय कर्म के आस्रव के कारणों पर प्रकाश डालते हैं।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।२७।।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है।

तात्पर्य यह है कि किसी के दान में अन्तराय डालने से दानान्तराय कर्म का आस्रव होता है, लाभ में अन्तराय डालने से लाभान्तराय कर्म का आस्रव होता है, भोग में अन्तराय डालने से भोगान्तराय कर्म का आस्रव होता है, उपभोग में अन्तराय डालने से उपभोगान्तराय कर्म का आस्रव होता है और वीर्य में अन्तराय डालने से वीर्यान्तराय कर्म का आस्रव होता है।

जो वस्तु एक बार भोगने में आती है, उसे **भोग** कहते हैं।

जो वस्तु बार-बार भोगने में आती है, उसे **उपभोग** कहते हैं।

रोटी, दाल, मिठाई, नमकीन आदि **भोग** हैं और कुर्सी, टेबल, पंखा आदि **उपभोग** हैं।

यदि हमारी ऐसी भावना है कि हमारे सभी कार्य निरन्तराय हों तो हमें भी दूसरे के कार्यों में बाधक नहीं बनना चाहिए, उनके कार्यों में अन्तराय डालने का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसी भावना भी नहीं करना चाहिए कि उन्हें उनके कार्यों में सफलता प्राप्त न हो ।।२७।।

> प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख के कारण स्वयं उसमें ही विद्यमान हैं। अनादि अज्ञान के कारण वह अपने सुख-दुःख का कारण पर को मानता आ रहा है; अतः उनका सारा प्रयत्न पर को सुधारने के विकल्प में ही लगा रहता है; वह परोन्मुखी ही बना रहता है, स्वोन्मुख कभी नहीं होता। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-१७**

छठवाँ अध्याय : कुछ प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न ह्न जब शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि एक आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बंध निरन्तर होता रहता है तो फिर प्रदोषादि से ज्ञानावरणादि कर्मों का ही आस्रव होता है ह्न इसका क्या अर्थ रह जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में प्रत्येक कर्म के आस्रव के कारणों को अलग-अलग कैसे बताया जा सकता है ?

१. उत्तर ह्न प्रतिसमय जिन एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्मरज का आस्रव होता है, यद्यपि वे समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणु आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों में बंट जाते हैं; तथापि उनमें अनुभाग (फल देने की शक्ति) उक्त भावों के अनुसार पड़ता है।

उक्त कथन को अनुभाग की अपेक्षा समझना चाहिए।

२. प्रश्न ह्न विभिन्न कर्मों के आस्रव के कारणों के रूप में जिन भावों का विवेचन है; वे भाव तो मुख्यरूप से सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के ही दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के कर्मास्रव की स्थिति कैसी है ?

२. उत्तर ह्न सैनी ही समझते हैं; अतः सैनी जीवों की अपेक्षा सम्पूर्ण कथन है। असैनी जीवों को अव्यक्त रूप से लगभग इसीप्रकार के भावों से कर्मों का अनुभाग पड़ता है।

३. प्रश्न ह्न क्या तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिए सोलहकारण भावनाओं में सभी भाना अनिवार्य है ?

३. उत्तर ह्न तीर्थंकर प्रकृति का बंध चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठवें अंश तक होता है, होता रहता है; क्योंकि यह निरन्तर बंधी प्रकृति है।

अतः चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक जितने प्रकार के शुभभाव, विशुद्ध परिणाम होते हैं; लगभग सभी को इनमें शामिल कर लिया गया है।

श्रावक और मुनि ह्न दोनों अवस्थाओं में होने के कारण दोनों अवस्थाओं में होनेवाले विशुद्धपरिणामों को इनमें समेट लिया है। वैसे दर्शनविशुद्धि के साथ तीव्रतम साधर्मी वात्सल्य, स्वाध्याय की लगन और उत्कृष्टतम धर्मप्रभावना की भावना से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने लगता है।

उक्त सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में ऐसा तीव्रतम भाव जागृत होता है कि जो परम सत्य मेरी समझ में आया है; वह सभी साधर्मी भाइयों को प्राप्त हो जावे और वह भगवान आत्मा जन-जन के ज्ञान का ज्ञेय बन जावे तो उसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने लगता है।

भाषा ज्ञान के अभाव और वाणी की कमजोरी के कारण उसे अपनी बात, आत्मा की बात जन-जन तक पहुँचाने में परेशानी का अनुभव होता है; उसकी भावना अत्यन्त प्रबल होती है; परिणामस्वरूप उसे ऐसी दिव्यवाणी प्राप्त होती है कि वह अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं में समझ ली जाती है; किसी भी प्रकार व्यवधान नहीं रहता। यही सबकुछ तो तीर्थंकर प्रकृति का कार्य है।

उक्त संदर्भ में पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य लिखते हैं ह्न

''इन सबका अथवा इनमें से कुछ का पालन करने से तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव होता है; किन्तु **इनमें एक दर्शनविशुद्धि का होना आवश्यक है।**''

ध्यान रखनेयोग्य बात यह है कि इस तीर्थंकर प्रकृति नामक कर्म का आस्रव केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में चौथे से सातवें गुणस्थान तक आरंभ होता है। उक्त शर्त आरंभ होने की है, आस्रव होते रहने की नहीं।

४. प्रश्न ह्न जो लोग सच्चे हृदय से सोलहकारण भावनायें भाते हैं; उन सभी को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा न ?

४. उत्तर ह्न जिन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होना होता है; वे अवश्य ही सोलहकारण भावनायें भाते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि १० कोड़ाकोड़ी सागर में भरतक्षेत्र में मात्र चौबीस तीर्थंकर ही होते हैं; अत:

सच्ची सोलहकारण भावनायें तो वे ही भायेंगे कि जिन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होना है।

५. प्रश्न ह्न क्या कहना चाहते हैं आप ? क्या उन सभी लोगों को तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा; जो बड़ी ही भक्ति से सोलहकारण भावना भाते हैं, सोलहकारणव्रत करते हैं, सोलहकारण पूजन करते हैं ?

५. उत्तर ह्न आप ही बताइये कि यदि इसप्रकार की वृत्ति और प्रवृत्तिवालों को तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होगा तो कितने तीर्थंकर होंगे ? फिर केवली और श्रुतकेवली के पादमूल की भी तो शर्त है; वह कितनों को उपलब्ध है ?

अरे, भाई ! यह आस्रव के कारणों की चर्चा आस्रवभावों से विरक्त होने के लिए है, उन्हीं में अनुरक्त होने के लिए नहीं।

धर्म तो कर्म काटने का उपाय है, कर्म बाँधने का नहीं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र धर्म को कर्मों का निवारण करनेवाला कहते हैं। उनका कथन इसप्रकार है ह्न

''**देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।**[१]

मैं उस धर्म को कहूँगा, जो कर्मों का निवारण करनेवाला है।''

कोई भी कर्म बाँधने के योग्य नहीं है; क्योंकि आस्रव और बंध तो हेय तत्त्व हैं, उपादेय नहीं।

इस प्रकरण को पढ़कर यदि हमने कर्म में, कर्मास्रव में, कर्मास्रव के कारणों में, कर्मबंध में उपादेयबुद्धि की तो हमने अमृत के सागर महाशास्त्र में से जहर निकालने का कुत्सित प्रयास किया है।

भाई ! आस्रव भावों को बिना किसी भेदभाव के घना दु:ख देनेवाले कहा गया है - ''**आस्रव दुखकार घनेरे बुधिवंत तिन्हें निरवेरे।**[२]''

इसलिए शुभास्रव-अशुभास्रव, मंद आस्रव-तीव्र आस्रव, पुण्य आस्रव-पापास्रव ह्न किसी भी प्रकार के आस्रवभाव में उपादेयबुद्धि रखना समझदारी नहीं है।

इसप्रकार यहाँ छठवाँ अध्याय समाप्त होता है। ●

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक २ २. पं. दौलतरामजी : छहढाला, पाँचवीं ढाल, छन्द ९

सातवाँ अध्याय

पृष्ठभूमि

छठवें अध्याय में आस्रव तत्त्वार्थ का सामान्य स्वरूप बताया तथा आठों कर्मों के आस्रव के कारणों पर विस्तृत चर्चा की।

अब इस सातवें अध्याय में **शुभास्रव** का विस्तार से विवेचन करते हैं।

व्रत का स्वरूप एवं प्रकार

अब सर्वप्रथम व्रत का स्वरूप और उसके प्रकारों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।।१।।

देशसर्वतोऽणु महती ।।२।।

हिंसा, अनृत (झूठ), अस्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह ह्न इन पाँचों पापों से विरत होना व्रत है।

एकदेश व्रत अर्थात् अणुव्रत और सर्वदेश व्रत अर्थात् महाव्रत; इसप्रकार अणुव्रत और महाव्रत के भेद से व्रत दो प्रकार के होते हैं।

उक्त पाँचों पापों के एकदेश त्याग को अणुव्रत कहते हैं और पूरी तरह त्याग को महाव्रत कहते हैं।

उक्त पाँच पापों का स्वरूप आगे आचार्यदेव स्वयं सूत्रों द्वारा प्रस्तुत करेंगे।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि व्रतों को तो संवर अधिकार में लेना चाहिए; यहाँ आस्रव अधिकार में क्यों लिया ?

इसीप्रकार की शंका सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति में आचार्य पूज्यपाद ने भी उठाई है और उसका समाधान भी किया है; जो इसप्रकार है ह्न

''**शंका ह्न** यह व्रत आस्रव का कारण है, यह बात नहीं बनती; क्योंकि संवर के कारणों में इनका अन्तर्भाव होता है।

आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवर के कारण कहनेवाले हैं। वहाँ

दस प्रकार के धर्मों में एक संयम नाम का धर्म बतलाया है। उसमें व्रतों का अन्तर्भाव होता है ?

समाधान ह्न यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि वहाँ **निवृत्तिरूप संवर का कथन करेंगे** और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है; क्योंकि **हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदि का त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु का ग्रहण आदि रूप क्रिया देखी जाती है।**[1]''

इसीप्रकार का भाव आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में भी प्रस्तुत किया है; उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है ह्न

''**व्रत संवररूप नहीं हैं; क्योंकि इनमें परिस्पन्द प्रवृत्ति है। असत्य चोरी आदि से विरक्त होकर सत्य अचौर्य आदि प्रवृत्ति देखी जाती है।**

हाँ, गुप्ति आदि संवर के लिए ये अहिंसादिव्रत सहायक होते हैं। व्रतों का संस्कार रखनेवाला साधु सुखपूर्वक संवर करता है।

अत: संवर की भूमिकारूप इन व्रतों का पुण्यास्रव का हेतु होने से यहाँ ही निर्देश करना उचित है।[2]''

रात्रिभोजन के संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद के विचार दृष्टव्य हैं ह्न

''**शंका ह्न** रात्रिभोजनविरमण नाम का छठा अणुव्रत है, उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ?

समाधान ह्न नहीं, क्योंकि उसका भावनाओं में अन्तर्भाव हो जाता है। आगे अहिंसा व्रत की भावनाएँ कहेंगे। उनमें एक **आलोकितपान भोजन** नाम की भावना है, उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत का अन्तर्भाव हो जाता है।[3]''

आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक में रात्रिभोजनत्याग के पक्ष में अनेक महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं[4]; जो मूलत: पठनीय हैं।।१-२।।

---

१. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २६५

२. आचार्य अकलंकदेव : राजवार्तिक, पृष्ठ ७२५-७२६

३. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २६५

४. आचार्य अकलंकदेव : राजवार्तिक, पृष्ठ ७२६

व्रतों की भावनायें

उक्त पाँच व्रतों के पालन में स्थिरता रहे ह्न इस भावना से व्रतीजन निम्नांकित भावनायें भाते हैं ह्न

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।।३।।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पञ्च ।।४।।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।।५।।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ।।६।।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।।७।।

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।।८।।

उक्त व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ह्न ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें हैं।

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्य-प्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ह्न ये सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ह्न ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं।

स्त्रियों में राग को पैदा करनेवाली कथा के सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग ह्न ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में क्रम से राग और द्वेष का त्याग करना ह्न ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनायें हैं।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप संवर-अधिकार अर्थात् नौवें अधिकार में समझाया जायेगा और अच्छी तरह देखभाल कर भोजन करना और पानी पीना आलोकित भोजनपान है। ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें हैं।

इस आस्रव अधिकार में ये भावनारूप हैं और संवर-निर्जरा अधिकार में परिणमनरूप होगी।

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग होता है। इसप्रकार क्रोध के त्याग, लोभ के त्याग, भय के त्याग और हास्य के त्याग की भावना भाने की बात है। अनुवीचिभाषण निर्दोषभाषण को कहते हैं।

ये सत्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

यहाँ ये सब भावनारूप हैं और संवर-निर्जरा अधिकार में परिणमन रूप होगी।

पर्वत की गुफा और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार हैं, इनमें रहना **शून्यागारावास** है। दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना **विमोचितावास** है। दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना **परोपरोधाकरण** है। आचार शास्त्र में बतलायी हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना **भैक्षशुद्धि** है। 'यह मेरा है यह तेरा है' इसप्रकार साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना **सधर्माविसंवाद** है। ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

स्त्रियों में राग को पैदा करनेवाली कथा के सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग ह्न ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं।

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पाँच विषयों के प्राप्त होने पर राग और द्वेष का त्याग करना ह्न ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनायें जाननी चाहिए।।३-८।।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण भावनायें

पाँच व्रतों की उक्त २५ भावनाओं के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसी भावनायें हैं; जो अणुव्रतों व महाव्रतों की साधक हैं, उन्हें प्रोत्साहित करने वाली हैं; वे इसप्रकार हैं ह्न

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।।९।।

दुःखमेव वा ।।१०।।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ।।११।।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।।१२।।

हिंसा आदि पाँच पाप इस लोक में और परलोक में विनाशकारी और निन्दनीय हैं ह्न ऐसी भावना भाना चाहिए।

अथवा ये हिंसादि पाप दुःखरूप ही हैं ह्न ऐसी भावना भाना चाहिए।

समस्त प्राणियों से मित्रता की भावना रखना चाहिए, गुणवानों के प्रति प्रमोदभाव रखना चाहिए, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव रखना चाहिए और अविनयी उद्दण्ड लोगों के प्रति माध्यस्थभाव रखना चाहिए।

संवेग और वैराग्य के लिए जगत का और शरीर के स्वभाव का विचार करते रहना चाहिए।

किसी को मारने, दुःखी करने और अनेक प्रकार का कष्ट पहुँचाने का भाव तथा इसप्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्ति का परिणाम अगले भवों में दुर्गति का कारण तो होता ही है; इस भव में भी मारणान्तिक दुःख देनेवाला है; क्योंकि जिसको आप मारना चाहते हैं या दुःखी करना चाहते हैं, वह भी तो अपने बचाव में ही सही, आपसे उसीप्रकार का व्यवहार कर सकता है, करता है; सरकार भी हिंसक के साथ कठोर व्यवहार करती है, आजीवन कारावास या मृत्युदण्ड तक दे सकती है,

देती है। अत: हमें हिंसा और हिंसा के भावों से बचने का प्रयास निरन्तर करना चाहिए।

हमें निरन्तर ऐसी भावना भाना चाहिए कि मेरे हृदय में इसप्रकार के दूसरों को सताने के भाव कभी भी न आवें।

इसीप्रकार झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने व परिग्रह जोड़ने या अधिक परिग्रह जोड़ने के विरुद्ध भी सोचना चाहिए और भावना भाना चाहिए कि इसप्रकार के पाप मेरे जीवन में कभी न हों, पापभाव भी मन में न आवें। इसमें ही हम सबका भला है।

ये हिंसादि पाप और पापभाव दु:खस्वरूप ही हैं, दु:ख ही हैं, दु:ख के ही कारण हैं। स्वयं को दु:ख देनेवाले हैं और पर को भी दु:ख देनेवाले हैं। इनसे न आजतक किसी का भला हुआ है और न कभी होने वाला ही है।

हमें निरन्तर ऐसी भावना भाना चाहिए कि जगत के समस्त जीवों से मेरा सदा ही मैत्री भाव रहे, किसी से भी बैर-विरोध न हो।

गुणीजनों के प्रति मेरे हृदय में सदा ही प्रमोदभाव जागृत रहे, उन्हें देखकर उनके प्रति सम्मानभाव जागृत होना चाहिए।

जगत में जो जीव दु:खी दिखाई दें, उनके प्रति निष्कारण करुणाभाव जागृत होना चाहिए। उनका दु:ख दूर करने का न केवल भाव होना चाहिए, अपितु यथासंभव प्रयास भी करना चाहिए।

जो लोग हम से बैरभाव रखते हैं, अविनयी हैं, उद्दण्ड हैं; उनसे भी हमें माध्यस्थ भाव रखना चाहिए; क्योंकि किसी से भी लड़ने-झगड़ने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

यदि हमें अपनी शान्ति भंग नहीं करनी है, निराकुलभाव से रहना है, अपने स्वाध्याय आदि कार्य में निर्विघ्न रूप से लगे रहना है तो विपरीत वृत्तिवालों से माध्यस्थ भाव रखना ही श्रेष्ठ है।

सामायिक पाठ में भी आता है ह्न

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ।।१।।

हे देव! मेरे आत्मा को ऐसा बना दो कि वह सभी प्राणियों से मैत्री का भाव रखे, गुणीजनों से प्रमोदभाव रखे, दुखीजनों के प्रति करुणाभाव रखे और विपरीत वृत्ति वालों से माध्यस्थभाव रखें।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्त्यार भी उक्त छन्द के अनुकरण पर 'मेरी भावना' नामक अपनी कृति में लिखते हैं ह्न

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे ।
दीन-दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे ।।
दुर्जन क्रूर-कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे ।
साम्य-भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ।।५।।
गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे ।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे ।।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं द्रोह न मेरे उर आवे ।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे ।।६ ।।

हम इस दुःखमयी संसार से निरन्तर भयभीत रहें और हमारा वैराग्य निरन्तर दृढ़ता को प्राप्त होता रहे ह्न इसके लिए हमें इस जगत के स्वरूप का एवं इस क्षणभंगुर, मल-मूत्र की खान देह के स्वभाव का भी विचार करते रहना चाहिए।

यह संसार दुःखों का घर है। इसमें कहीं भी कोई सुखी नजर नहीं आता है, शरीर की स्थिति भी ऐसी ही है कि इसमें एक क्षण भी रहने लायक नहीं है। इसप्रकार हमारे हृदय में संवेग और वैराग्य की भावना निरन्तर बढ़ती रहना चाहिये।।९-१२ ।।

> अद्भुत सत्य का आनन्द मात्र बातों से आनेवाला नहीं है, अन्तर में परम सत्य के साक्षात्कार से ही अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उमड़ेगा।
> **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८७**

हिंसा आदि पाँच पापों का स्वरूप

अब हिंसादि पाँच पापों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह्न

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।।१३।।

असदभिधानमनृतम् ।।१४।।

अदत्तादानं स्तेयम् ।।१५।।

मैथुनमब्रह्म ।।१६।।

मूर्च्छा परिग्रहः ।।१७।।

ध्यान रहे, **प्रमत्तयोगात्** पद आदि दीपक है। इसे पाँचों पापों संबंधी सूत्रों के आरंभ में जोड़ना है।

तदनुसार पाँचों सूत्रों का अर्थ इसप्रकार होगा ह्न

प्रमाद के योग से प्राणों का व्यपरोपण (वियोग) करना, हिंसा है।

प्रमाद के योग से असत्य बोलना, अनृत (झूठ) है।

प्रमाद के योग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना, स्तेय (चोरी) है।

प्रमाद के योग से मैथुन सेवन करना, अब्रह्म (कुशील) है।

प्रमाद के योग से मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) होना, परिग्रह है।

प्रमाद कषाय सहित अवस्था को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कषायों के वश स्व-पर के प्राणों का वियोग करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और परिग्रह जोड़ना-रखना क्रमशः हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह नामक पाप हैं।

कषायों के वश होकर जीव पाप करता है; पर मिथ्यात्व के वश होकर घोर पाप करता है। इसलिए हिंसादि पाप हैं और मिथ्यात्व महापाप है।

दूसरी अपेक्षा यह भी है कि प्रमाद पाँच चीजों को मिलाकर बनता है। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों की आधीनता, निद्रा और स्नेह ह्न इनका परस्पर गुणा करने पर ४ह्न४ह्न५ह्न१ह्न१=८० ह्न इसप्रकार

प्रमाद के अस्सी भंग बन जाते हैं।

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा – ये चार विकथायें; क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार कषायें; एवं स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – इन पाँच इन्द्रियों की अधीनता तथा निद्रा और स्नेह – ये १५ प्रकार के प्रमाद हैं। इनका परस्पर में गुणा करने से प्रमाद के ८० भंग बन जाते हैं।

जैसे –

(१) स्त्रीकथालापी, क्रोधी, स्पर्शनेन्द्रियवशंगत, निद्रालु और स्नेहवान – यह पहला भंग हुआ।

(२) स्त्रीकथालापी, क्रोधी, रसनेन्द्रियवशंगत, निद्रालु और स्नेहवान – यह दूसरा भंग हुआ।

इसीप्रकार इन्द्रियों के वशंगत संबंधी ५ भंग बन जायेंगे।

इसके बाद क्रोध की जगह मान रखकर शेष पूरा वैसा रखो तो पाँच भंग और बन जायेंगे। इसके बाद स्त्रीकथा के स्थान भक्तकथा – इसप्रकार बदलते जायें तो ८० भंग बन जाते हैं।

इसप्रकार जो ८० भंगवाला प्रमाद है; उसके वशीभूत होकर हिंसादि पाप होते हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि हिंसादि पाँच पाप पहले गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक होते हैं; क्योंकि वहीं तक प्रमाद का योग रहता है।

बंध के कारणभूत आस्रवभाव पाँच प्रकार के होते हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व चला जाता है, पाँचवें गुणस्थान में अविरति चली जाती है, सातवें गुणस्थान में प्रमाद चला जाता है; इसप्रकार प्रमाद में मिथ्यात्व, अविरति तथा संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय के मन्दोदय को छोड़कर शेष सभी कषायों के मिश्रितरूप भाव का नाम प्रमाद है। ऐसे प्रमाद का योग छठवें गुणस्थान तक रहता है।

यही कारण है कि प्रमाद के योग से होनेवाले पाँचों पाप छठवें गुणस्थान तक ही होते हैं।।१३–१७।।

व्रत की परिभाषा और भेद-प्रभेद

पाँच पापों का स्वरूप बताने के बाद अब उनके त्यागरूप व्रतों की बात करते हैं ह्न

निःशल्यो व्रती ।।१८।।

अगार्यनगारश्च ।।१९।।

अणुव्रतोऽगारी ।।२०।।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।।२१।।

जो शल्य रहित हो, उसे व्रती कहते हैं।

व्रती दो प्रकार के होते हैं ह्न १. अगारी अर्थात् गृहस्थ, २. अनगारी अर्थात् गृहत्यागी साधु।

अणुव्रती को अगारी कहते हैं।

दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत ह्न इन सात व्रतों से सहित गृहस्थ अणुव्रती होता है।

जो शल्य (कील-काँटा) की भाँति कष्ट दें, उसे **शल्य** कहते हैं।

शल्य तीन प्रकार की होती है ह्न माया, मिथ्यात्व और निदान।

१. छलकपट को **माया** कहते हैं। २. जीवादि तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यता और कुदेवादि का श्रद्धान **मिथ्यात्व** है। ३. विषयभोग की चाह **निदान** है। जो इन तीन शल्यों से रहित हो, वह **व्रती** है।

व्रती दो प्रकार के होते हैं ह्न गृहस्थ और साधु। अणुव्रती गृहस्थ होता है और महाव्रती साधु होते हैं।

अणुव्रत और महाव्रत के भेद से व्रत दो प्रकार के होते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ह्न इन पाँच पापों का

एकदेश त्याग **पाँच अणुव्रत** हैं और सर्वदेशत्याग **पाँच महाव्रत** हैं।

दिग्विरति व्रत को संक्षेप में दिग्व्रत भी कहते हैं। इसीप्रकार देशविरतिव्रत को देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत को अनर्थदण्डव्रत भी कहते हैं।

दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ह्व ये **तीन गुणव्रत** और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणव्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत ह्व ये **चार शिक्षाव्रत** होते हैं। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों को **सात शीलव्रत** कहते हैं।

दिग्व्रत ह्व कषायांश कम हो जाने से गृहस्थ, दशों दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की सीमा निश्चित कर लेता है और जीवन पर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करता, इसे **दिग्व्रत** कहते हैं।

देशव्रत ह्व दिग्व्रत की बाँधी हुई विशाल सीमा को घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, माह आदि काल की मर्यादापूर्वक और भी सीमित (कम) कर लेना **देशव्रत** है।

अनर्थदण्डव्रत ह्व बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना या उस रूप भाव करना **अनर्थदण्ड** है और उसके त्याग को **अनर्थदण्डव्रत** कहते हैं।

व्रती श्रावक बिना प्रयोजन जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, वायु संचार करना, वनस्पति छेदन करना आदि कार्य नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा का तो वह त्यागी है ही, पर अप्रयोजनीय स्थावरहिंसा का भी त्याग करता है तथा राग-द्वेषादिक प्रवृत्तियों में भी उनकी वृत्ति नहीं रमती, वह इनसे विरक्त रहता है।

इसी व्रत को **अनर्थदण्डव्रत** कहते हैं।

सामायिकव्रत ह्व सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समता भाव का अवलम्बन करके आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक

है। व्रती श्रावकों द्वारा प्रातः, दोपहर, सायं ह्व कम से कम अन्तर्मुहूर्त एकान्त स्थान में सामायिक करना **सामायिक व्रत** है।

प्रोषधोपवासव्रत ह्व कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्म स्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड़कर उपवास करना ही **प्रोषधोपवास** है।

यह तीन प्रकार से किया जाता है ह्व उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम ह्व पर्व के एक दिन पूर्व व एक दिन बाद एकासनपूर्वक व पर्व के दिन पूर्ण उपवास करना **उत्तम प्रोषधोपवास** है।

मध्यम ह्व केवल पर्व के दिन उपवास करना **मध्यम प्रोषधोपवास** है।

जघन्य ह्व पर्व के दिन केवल एकासन करना **जघन्य प्रोषधोपवास** है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत ह्व प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना **भोगोपभोग परिमाणव्रत** है।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आ सकें, उन्हें **भोग** और बार-बार भोगने में आवें, उन्हें **उपभोग** कहते हैं।

अतिथिसंविभागव्रत ह्व मुनि, व्रती श्रावक और अव्रती श्रावक ह्व इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।।१८-२१।।

बड़प्पन का भाव, मान का ही दूसरा नाम है। यदि मान न हो तो मनुष्य को यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता, पर मान के खातिर वह क्या नहीं करता; छल-कपट करता है, छल-कपट करके अपनी सिद्धि करना चाहता है। जब उसमें कोई बाधक बनता है तो उस पर क्रोध करता है। जिन विषय-कषायों को छोड़ने के लिए वह घर-बार छोड़ कर साधु बनता है ह्व यश के, लोभ के चक्कर में उन्हीं क्रोध, मान, माया आदि के चक्कर में पड़ जाता है। तभी तो लोभ को पाप का बाप कहा जाता है।

ह्व सत्य की खोज, पृष्ठ-४८

सल्लेखना

व्रतों की चर्चा के उपरान्त अब सल्लेखना (समाधिमरण) की बात करते हैं ह्न

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।।२२।।

मरणकाल उपस्थित होने पर सल्लेखना (समाधिमरण) व्रत का प्रीति पूर्वक सेवन करना चाहिए।

सम्यक् काय-कषाय लेखना सल्लेखना[१] - काय और कषायों को भलीप्रकार से कृष करना ही सल्लेखना है। मरणान्त समय में होनेवाली इस सल्लेखना के सम्बन्ध में रत्नकरण्डश्रावकाचार के सल्लेखना नामक (छठवें) अधिकार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या।।[२]

जिनका प्रतिकार संभव न हो; ऐसे उपसर्ग में, दुर्भिक्ष में, बुढ़ापे में और रोग की स्थिति में धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग कर देने को आर्यगण सल्लेखना कहते हैं, समाधिमरण कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि ऐसा उपसर्ग आ जाय कि मृत्यु सन्निकट हो, उससे बचने का कोई उचित मार्ग न रह गया हो; ऐसा दुर्भिक्ष (अकाल) आ पड़े कि जब शुद्ध सात्विक विधि से जीवन निर्वाह संभव न हो; ऐसा बुढ़ापा आ जाय कि अहिंसक विधि से जीवित रहना संभव न रहा हो; ऐसी बीमारी आ जाय कि अहिंसक विधि से जिसका उपचार (इलाज) संभव न रहे; ऐसी स्थिति में अपने धर्म की रक्षा के लिये शास्त्रविहित विधिपूर्वक शरीर का त्याग कर देने को सज्जन पुरुष, ज्ञानीजन, समाधिमरण या सल्लेखना कहते हैं।

यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और भयंकर बीमारी का प्रतिकार

१. सर्वार्थसिद्धि; पृष्ठ २८० २. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक १२२

संभव हो, इलाज संभव हो तो सबसे पहले प्रतिकार करना चाहिये, इलाज करना चाहिये, उपाय करना चाहिये। यदि कोई भी अहिंसक निरापद उपाय शेष न रहा हो तो जिनागम में निरूपित विधि से समाधि ले लेना चाहिये।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि यह तो एक प्रकार से आत्महत्या ही हुई। आत्महत्या परहत्या से भी बड़ा पाप है।

उत्तर - सल्लेखना या समाधिमरण आत्महत्या नहीं है; क्योंकि आत्महत्या तो अत्यन्त तीव्रकषाय के आवेग में की जाती है; पर इसमें तो बहुत सोच-समझकर विवेकपूर्वक कषायों को मन्द करते हुये शरीर को कृष किया जाता है। वह भी तब, जबकि जीवित रहने का कोई उपाय न रहे।

जहाँ तक हमारे व्रतों की मर्यादा के भीतर उपचार संभव है, इलाज संभव है; वहाँ तक सल्लेखना लेने का अधिकार ही नहीं है।

मानसिक बीमारियाँ **आधि** कहलाती है, शारीरिक बीमारियाँ **व्याधि** कहलाती है और बाह्य उपद्रव **उपाधियाँ** हैं। इन तीनों से परे अपने त्रिकालीध्रुव परमात्मा में, निजात्मा में समा जाना **समाधि** है।

यह समाधि ही सल्लेखना है।

मृत्यु की अनिवार्य उपस्थिति में अत्यन्त समताभाव पूर्वक योग्य गुरु के मार्गदर्शन में प्राणों का विधिपूर्वक उत्सर्ग कर देना ही **समाधिमरण, सल्लेखना** है।

देह का परिवर्तन तो होना ही है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है। इस सत्य को स्वीकार कर देह हमें छोड़े ह्न इसके पहले हम उसे छोड़ने को तैयार हो जावें। इसी में समझदारी है। इस समझदारी का प्रायोगिक रूप ही सल्लेखना है, समाधिमरण है।

मरणान्त समय में होनेवाला यह सल्लेखनाव्रत समाधिमरण श्रावकों और साधुओं को अवश्य करना चाहिये।।२२।।

सम्यक्त्व के अतिचार

सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण की चर्चा के उपरान्त अब सम्यक्त्व के अतिचारों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है –

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः

सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।२३।।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तवन ह्न ये पाँच सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

किसी भी व्रत के एकदेश भंग होने को या व्रत में अल्पदोष लगने को **अतिचार** कहते हैं और व्रत के पूर्णतः भंग होने को या व्रत में महान दोष लगने को **अनाचार** कहते हैं।

दोषों में एकबार प्रवृत्ति अतिचार है और बार-बार प्रवृत्ति अनाचार है। यहाँ पर अतिचारों की चर्चा है।

१. शंका ह्न अरहंत भगवान द्वारा कहे गये तत्त्वज्ञान में शक होना अथवा सप्तभयों का होना **शंका** नामक पहला अतिचार है। कहा भी हैह्न

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।[1]

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसीकारण निर्भय भी होते हैं। चूँकि वे सप्तभयों से रहित होते हैं; इसलिए निःशंक होते हैं।

२. कांक्षा ह्न सुखबुद्धिपूर्वक पंचेन्द्रिय भोगों की चाह का होना, **कांक्षा** नामक दूसरा अतिचार है।

३. विचिकित्सा ह्न रत्नत्रयमंडित मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर घृणा करना, **विचिकित्सा** नामक तीसरा अतिचार है।

४. अन्यदृष्टिप्रशंसा ह्न मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, तप आदि देखकर उनके प्रति मन में महिमावंत होना **अन्यदृष्टिप्रशंसा** नामक चौथा अतिचार है।

५. अन्यदृष्टिसंस्तवन ह्न वाणी से उनकी प्रशंसा करना **अन्यदृष्टिसंस्तवन** नामक पाँचवाँ अतिचार है ।।२३।।

१. समयसार गाथा २२८

व्रतों के अतिचार

सम्यग्दर्शन के अतिचारों के बाद व्रतों के अतिचारों की चर्चा करते हैं –

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।।२४।।

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।।२५।।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः ।।२६।।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।।२७।।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंग क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।।२८।।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति क्रमाः ।।२९।।

व्रत और शीलों के भी क्रम से पाँच-पाँच अतिचार होते हैं।

बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्न-पान (भोजन-पानी) का निरोध ह्न ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ह्न ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ह्न ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परविवाहकरण, अपरिगृहीतइत्वरिकागमन, परिग्रहीतइत्वरिका गमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ह्न ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं

क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य

(वस्त्र) ह्न इन सबके किये हुए परिमाण को लोभ में आकर बढ़ा लेना परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

अहिंसाणुव्रत आदि पाँच अणुव्रतों और दिग्व्रत आदि सात शीलव्रतों के भी पाँच-पाँच अतिचार होते हैं।

अब उनका निरूपण आगामी सूत्रों में क्रमशः करते हैं।

(क) अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार क्रमशः इसप्रकार हैं –

१. **बन्ध –** प्राणियों को रस्सी से, सांकल से बाँधना; पिंजड़े में बन्द कर देना आदि **बन्ध** नाम का प्रथम अतिचार है।

२. **वध –** लाठी, डण्डे, कोड़े आदि से पीटना **वध** नाम का द्वितीय अतिचार है।

३. **छेद –** पूँछ, कान, नाक आदि उपांगों को छेद देना **छेद** नाम का तीसरा अतिचार है।

४. **अतिभारारोपण –** मजदूरों या पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लाद देना **अतिभारारोपण** नाम का चौथा अतिचार है।

५. **अन्नपाननिरोध –** अपने आश्रय से रहने वाले नोकर-चाकर एवं पशु-पक्षियों को समय पर पर्याप्त खाना-पीना नहीं देना **अन्न-पाननिरोध** नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

(ख) सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार क्रमशः इसप्रकार हैं ह्न

१. **मिथ्योपदेश –** अहितकर और झूठा उपदेश देना, **मिथ्योपदेश** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **रहोभ्याख्यान –** स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में की गई क्रिया विशेष को प्रगट कर देना, **रहोभ्याख्यान** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **कूटलेखक्रिया –** किसी के दवाब में ऐसा आलेख कर देना कि जिससे दूसरा व्यक्ति फंस जावे **कूटलेखक्रिया** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **न्यासापहार –** न्यास का अपहरण कर लेना। तात्पर्य यह है कि

कोई व्यक्ति जितनी धरोहर रख गया था, पर भूल से कुछ कम माँगे तो उतनी देकर शेष हड़प जाना, **न्यासापहार** नामक चौथा अतिचार है।

५. **साकारमंत्रभेद –** किसी की गुप्त बात को उसकी आकृति देखकर या चर्चा-वार्ता से जानकर उसे प्रगट कर देना, **साकारमंत्रभेद** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

(ग) अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार क्रमशः इसप्रकार हैं ह्न

१. **स्तेनप्रयोग –** चोरी करने की प्रेरणा देना, चोरी करवाना और करनेवाले की अनुमोदना करना **स्तेनप्रयोग** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **तदाहृतादान –** चोरी का माल खरीदना **तदाहृतादान** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **विरुद्धराज्यातिक्रम –** राजनियम के विरुद्ध कार्य करना **विरुद्ध राज्यातिक्रम** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **हीनाधिकमानोन्मान –** नापने-तौलने के मीटर और बाँट लेने-देने के अलग-अलग रखना **हीनाधिकमानोन्मान** नामक चौथा अतिचार है।

५. **प्रतिरूपक व्यवहार –** जाली नोट छापना या खरी-खोटी वस्तुओं को मिलाना, मिलाकर बेचना **प्रतिरूपक व्यवहार** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

(घ) ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार क्रमशः इसप्रकार हैं ह्न

१. **परविवाहकरण –** ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारी को अपनी संतानों का शादी-विवाह करना तो आवश्यक है, उसका उत्तरदायित्व है; पर वह अपने से संबंधित व्यक्तियों को छोड़कर अन्य लोगों के विवाह कार्यों में नहीं उलझता। यदि उलझे तो उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत में दोष लगता है। यह दोष ब्रह्मचर्याणुव्रत का पहला अतिचार है।

२-३. **इत्वरिकागमन –** व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं। इत्वरिकायें दो प्रकार की होती हैं ह्न

(i) जिसका कोई स्वामी न हो, पति न हो; ऐसी इत्वरिका (वेश्या) को **अपरिग्रहीत इत्वरिका** कहते हैं।

(ii) जिसका स्वामी हो, पति हो; उस इत्वरिका को **परिग्रहीत इत्वरिका** (चरित्रहीन परस्त्री) कहते हैं।

उनमें से परिग्रहीत इत्वरिका (चरित्रहीन परस्त्री) के घर आना-जाना **परिग्रहीत इत्वरिका गमन** नामक दूसरा अतिचार है और अपरिग्रहीत इत्वरिका (वेश्या) के घर आना-जाना **अपरिग्रहीत इत्वरिका गमन** नामक तीसरा अतिचार है।

४. अनंगक्रीड़ा – कामसेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से रति करना **अनंगक्रीड़ा** नामक चौथा अतिचार है।

५. कामतीव्राभिनिवेश – कामसेवन की अत्यन्त तीव्र लालसा **कामतीव्राभिनिवेश** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ङ. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के पाँच अतिचार इसप्रकार हैं ह्न

१. क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम – खेत और मकानों की जो मर्यादा ली थी, उसे बढ़ा लेना **क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम** नामक प्रथम अतिचार है।

२. हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम – चाँदी-सोने की मर्यादा को बढ़ा लेना **हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम** नामक दूसरा अतिचार है।

३. धन-धान्य प्रमाणातिक्रम – पशु धन आदि धन और अनाज की मर्यादा को बढ़ा लेना **धन-धान्य प्रमाणातिक्रम** नामक तीसरा अतिचार है।

४. दासी-दास प्रमाणातिक्रम – नौकर-नौकरानी संबंधी मर्यादा को बढ़ा लेना **दासी-दास प्रमाणातिक्रम** नामक चौथा अतिचार है।

५. कुप्यादि प्रमाणातिक्रम – बर्तनों और सूती, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्रों की ली हुई मर्यादा को बढ़ा लेना **कुप्य प्रमाणातिक्रम** नामक पाँचवाँ अतिचार है।।२४-२९।।

शीलव्रतों में गुणव्रतों के अतिचार

सम्यक्त्व और व्रतों के अतिचार बता देने के उपरान्त अब सात शीलव्रतों में से तीन गुणव्रतों के अतिचार बताते हैं ह्न

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।
आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।।३१।।
कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग परिभोगानर्थक्यानि ।।३२।।

ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृत्य-न्तराधान ह्न ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतिचार हैं।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ह्न ये पाँच देशविरति व्रत के अतिचार हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग-परिभोगानर्थक्य ह्न ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

दिशाओं संबंधी परिमित मर्यादा के उल्लंघन को **अतिक्रम** कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है – ऊर्ध्वातिक्रम, अधो-अतिक्रम और तियगतिक्रम।

दिग्व्रतनामक गुणव्रत में –

१. ऊर्ध्वातिक्रम ह्न जितनी ऊँचाई तक जाने की मर्यादा ली हो, उससे ऊपर चले जाना, **ऊर्ध्वातिक्रम** नामक प्रथम अतिचार है।

२. अधो-अतिक्रम ह्न जितनी गहराई में नीचे जाने की मर्यादा ली हो, उससे अधिक नीचे चले जाना, **अधो-अतिक्रम** नामक दूसरा अतिचार है।

३. तिर्यगतिक्रम ह्न जितनी दूर तक तिरछे जाने की मर्यादा ली हो, उससे अधिक तिरछे चले जाना, **तिर्यगतिक्रम** नामक तीसरा अतिचार है।

४. क्षेत्रवृद्धि ह्न उक्त तीनों मर्यादाओं में क्षेत्र बढ़ा लेना, **क्षेत्रवृद्धि** नामक चौथा अतिचार है।

५. **स्मृत्यन्तराधान ह्व** की हुई मर्यादा को भूल जाना, **स्मृत्यन्तराधान** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच दिग्व्रत नामक गुणव्रत के अतिचार हैं।

देशव्रतनामक गुणव्रत में –

१. **आनयन ह्व** जितनी मर्यादा ली हो, उससे बाहर के क्षेत्र की वस्तु को बाहर से मंगवाना, **आनयन** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **प्रेष्यप्रयोग ह्व** मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में किसी को भेजकर काम करा लेना, **प्रेष्यप्रयोग** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **शब्दानुपात ह्व** मर्यादा के बाहर अपने शब्दों को भेजकर अर्थात् आवाज देकर काम कराना, **शब्दानुपात** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **रूपानुपात** ह्व मर्यादा के बाहर अपना रूप दिखाकर काम कराना, **रूपानुपात** नामक चौथा अतिचार है।

५. **पुद्गलक्षेप** ह्व मर्यादा के बाहर पत्थर फेंककर काम कराना, **पुद्गलक्षेप** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच देशव्रत नामक गुणव्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत में –

१. **कन्दर्प ह्व** राग की अधिकता के कारण हास्य के साथ अशिष्ट वचन बोलना, **कन्दर्प** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **कौत्कुच्य** हास्य और अशिष्ट वचनों के साथ शरीर से कुचेष्टा करना, **कौत्कुच्य** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **मौखर्य ह्व** धृष्टतापूर्वक बहुत वकवाद करना, **मौखर्य** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **असमीक्ष्याधिकरण** ह्व बिना सोचे-समझे अधिक प्रवृत्ति करना, **असमीक्ष्याधिकरण** नामक चौथा अतिचार है।

५. **उपभोग-परिभोग-अनर्थक्य ह्व** जितनी उपभोग और परिभोग सामग्री से काम चल सकता हो; उससे अधिक सामग्री को जोड़ना, संग्रह करना **उपभोग-परिभोग-अनर्थक्य** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत के अतिचार हैं।।३०-३२।।

शीलव्रतों में शिक्षाव्रतों के अतिचार

सात शीलव्रतों तीन गुणव्रतों की चर्चा के उपरान्त अब चार शिक्षाव्रतों के अतिचारों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

योगदु:प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३।।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादर स्मृत्यनुपस्थानानि ।।३४।।

सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदु:पक्वाहारा: ।।३५।।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमा: ।।३६।।

कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ह्व ये पाँच सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ह्व ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।

सचित्त आहार, सचित्त संबंध आहार, सचित्त-सम्मिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्व आहार ह्व ये पाँच भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार हैं।

सचित्त निक्षेप, सचित्त अपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ह्व ये पाँच अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार हैं।

श्रावकों के उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं; जो श्रावकों को मुनिधर्म की शिक्षा दें। सामायिक, प्रोषधोपवास आदि मूलत: मुनिराजों के व्रत हैं; मुनिधर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अभ्यास के रूप में व्रती श्रावक भी इन व्रतों का अपनी शक्ति के अनुसार पालन करते हैं।

१. **कायदुष्प्रणिधान –** सामायिक करते समय शरीर का निश्चल न रहना, **कायदुष्प्रणिधान** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **वाग्दुष्प्रणिधान** – सामायिक के मंत्र को अशुद्ध और जल्दी-जल्दी बोलना, **वाग्दुष्प्रणिधान** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **मनोदुष्प्रणिधान** – सामायिक में मन का न लगना, **मनो दुष्प्रणिधान** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **अनादर** – अनादरपूर्वक सामायिक करना, **अनादर** नामक चौथा अतिचार है।

५. **स्मृत्यनुपस्थान** – चित्त की चंचलता से मंत्र या पाठ वगैरह को भूल जाना, **स्मृत्यनुपस्थान** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

अब प्रोषधोपवास व्रत के अतिचारों की चर्चा करते हैं हृ

१. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग हृ** बिना देखे और बिना साफ किये मल-मूत्र क्षेपण करना, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान हृ** इसीप्रकार बिना देखे, बिना शोधे पूजन की सामग्री एवं स्वयं के वस्त्रादि रखना, उठाना, बिछाना, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण हृ** बिना देखी, बिना शोधी जमीन पर चटाई वगैरह बिछाना, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **अनादर हृ** उपवास के कारण भूख-प्यास से पीड़ित होने से आवश्यक क्रियाओं में उत्साह न होना, **अनादर** नामक चौथा अतिचार है।

५. **स्मृत्यनुपस्थापन हृ** आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना, **स्मृत्यनुपस्थापन** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच प्रोषधोपवास नामक व्रत के अतिचार हैं।

अब भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचारों की चर्चा करते हैं।

१. **सचित्त आहार हृ** सचेतन पुष्प, पत्ते, फल वगैरह का खाना **सचित्ताहार** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **सचित्त संबंध आहार हृ** सचित्त से संबंधित वस्तु का खाना **सचित्त संबंधाहार** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **सचित्त-सम्मिश्र आहार हृ** सचित्त से मिश्रित वस्तु का खाना **सचित्त-सम्मिश्राहार** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **अभिषव आहार हृ** इन्द्रिय को मद करनेवाली वस्तु को खाना **अभिषव आहार** नामक चौथा अतिचार है।

५. **दुष्पक्व आहार हृ** ठीक से नहीं पके हुए भोजन को करना **दुष्पक्वाहार** नामक पाँचवाँ अतिचार है।

इसप्रकार के आहार से इन्द्रियाँ प्रबल हो सकती हैं, उत्तेजित हो सकती हैं, शरीर में रोग हो सकता है, जिससे भोगोपभोग परिमाण व्रत में बाधा खड़ी हो सकती है।

ये भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत के अतिचार हैं।

अब अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचारों की चर्चा करते हैं।

१. **सचित्त निक्षेप हृ** सचित्त कमल के पत्ते वगैरह पर रखे हुए आहार का दान देना **सचित्त निक्षेप** नामक प्रथम अतिचार है।

२. **सचित्त अपिधान हृ** सचित्त पत्ते वगैरह से ढके हुए आहार को देना **सचित्त अपिधान** नामक दूसरा अतिचार है।

३. **परव्यपदेश हृ** दान स्वयं न देकर दूसरों से दिलवाना अथवा दूसरों के द्रव्य को स्वयं देना **परव्यपदेश** नामक तीसरा अतिचार है।

४. **मात्सर्य हृ** आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दातारों से ईर्ष्या करना **मात्सर्य** नामक चौथा अतिचार है।

५. **कालातिक्रम हृ** समय पर आहार न देना कालातिक्रम नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँच अतिथिसंविभाग नामक व्रत के अतिचार हैं।

इसप्रकार ये सात शीलव्रतों में से चार शिक्षाव्रतों के अतिचार हैं।।३३-३६।।

सल्लेखना के अतिचार

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के उपरान्त अब सल्लेखना व्रत के अतिचारों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ।।३७।।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान ह्न ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।

१. जीविताशंसा – सल्लेखना लेकर जीने की इच्छा रखना, जीविताशंसा नामक प्रथम अतिचार है।

२. मरणाशंसा – रोगादि के कष्ट से घबड़ा कर जल्दी मरने की इच्छा होना, मरणाशंसा नामक दूसरा अतिचार है।

वैसे तो प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई–बहिन की भावना ऐसी होना चाहिए या होती है कि ह्न

लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे ।[1]

सल्लेखना लेनेवाले को तत्काल मरने और अपरिमित काल तक जीने के लिए तैयार रहना ही चाहिए।

३. मित्रानुराग – मित्रों के साथ अनुराग होना, उन्हें बार–बार याद करना, मित्रानुराग नामक तीसरा अतिचार है।

४. सुखानुबंध – भोगे हुए सुखों को याद करना, सुखानुबंध नामक चौथा अतिचार है।

५. निदान – आगे के भोगों की चाह होना, निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं ।।३७।।

---

१. जुगलकिशोरजी मुख्त्यार : मेरी भावना, छन्द ७

दान का स्वरूप

अब अध्याय के अन्त में दान का स्वरूप एवं दातार आदि की अपेक्षा दान में समागत विशेषताओं को बताते हैं ह्न

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।३८।।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।।३९।।

उपकार के लिए धन वगैरह अपनी वस्तु का त्याग करना, दान है।

विधि, द्रव्य, दातार और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता आती है।

स्व और पर ह्न दोनों के उपकार के लिए स्वयं के धन आदि **उपयोगी सामग्री का त्याग करना, दान है।**

यहाँ दान की चर्चा अतिथिसंविभाग व्रत के संदर्भ में है।

अत: ज्ञानी गृहस्थों द्वारा अपने और पराये उपकार के लिए योग्य पात्र महाव्रती–अणुव्रतियों को दिये गये शुद्ध अहिंसक आहार आदि वस्तुयें देने की चर्चा विशेष होगी।

लोभ की कमी और पुण्य का बंध, अपना उपकार है और जिन्हें दान दिया जाता है; उन्हें सम्यग्ज्ञानादि की वृद्धि, पर का उपकार है।

'स्व' का अर्थ अपना भी होता है और धन भी होता है। इसप्रकार यहाँ 'स्व' का अर्थ हुआ अपने स्वामित्व की उपयोगी धनादि वस्तु।

अत: अपने और पर के उपकार के लिए स्वयं के धनादि उपयोगी पदार्थ देना, **'दान'** है।

वैसे दान चार प्रकार का होता है ह्न १. आहारदान, २. औषधिदान, ३. ज्ञानदान और ४. अभयदान।

यथायोग्य सम्मान के साथ विधिपूर्वक उपयोगी वस्तु उदारचित्त दातार के द्वारा योग्य पात्र को दिये जाने से दान में विशेषता आ जाती है।

यदि उत्तम पात्र वीतरागी सन्तों को, नवधाभक्ति पूर्वक, अत्यन्त प्रमोद भाव से, शुद्ध–सात्त्विक आहार को सप्तगुण सम्पन्न दातार देता है

तो उक्त दातार को सातिशय पुण्य का बंध होता है और मुनिराज को ज्ञान और संयम की साधना में अनुकूलता प्राप्त होती है।

इसप्रकार स्व अर्थात् स्वयं को और पर अर्थात् छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को ह्न दोनों को लाभ होता है।

अब आहारदान के संदर्भ में विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातारविशेष और पात्रविशेष की चर्चा करते हैं।

(क) विधिविशेष ह्न नवधाभक्ति के क्रम को विधिविशेष कहते हैं।

१. पड़गाहन, २. उच्चासन देना, ३. चरण धोना, ४. पूजन करना, ५. नमस्कार करना, ६. मनशुद्धि, ७. वचनशुद्धि, ८. कायशुद्धि और ९. भोजनशुद्धि का उच्चारण करना ह्न ये **नवधाभक्ति** है।

तात्पर्य यह है कि लगभग प्रात: १० से ११ बजे जब मुनिराज आहार लेने पधारें, तब अपने घर के सामने के रास्ते में उन्हें विनयपूर्वक बुलाना, **पड़गाहन** है। उनके आ जाने पर उन्हें उच्चासन पर बिठाना, प्रासुक जल से चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना ह्न इसके बाद मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि बोलना और अन्त में यह बताना की आहार-जल शुद्ध है ह्न ये नवधाभक्ति है।

मुनिराजों को आहार देने की यह विधिविशेष है।

(ख) द्रव्यविशेष ह्न जो खाद्य सामग्री एकदम अहिंसक, शुद्ध, सात्त्विक और आत्मसाधना और स्वाध्याय की साधक हो, अभक्ष्य न हो; वह द्रव्यविशेष है।

(ग) दातारविशेष ह्न जो दातार ह्न १. सांसारिकलाभ की आकांक्षा से रहित हो, २. शान्त परिणामी हो, ३. प्रसन्नचित्त, ४. सरल हृदय, ५. ईर्ष्याभाव से रहित, ६. खेद से रहित और ७. अभिमान से रहित हो; वह व्यक्ति दातारविशेष होता है।

(घ) पात्रविशेष ह्न निर्ग्रन्थ मुनिराज उत्तम पात्र, व्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र होते हैं।।३८-३९।।

इसप्रकार यहाँ सातवाँ अध्याय समाप्त होता है।

आठवाँ अध्याय

पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय में मुक्तिमार्ग का सामान्य विवेचन करने के उपरान्त आगामी तीन अध्यायों में **जीव तत्त्वार्थ** की चर्चा हुई।

पाँचवें अध्याय में **अजीव तत्त्वार्थ** का निरूपण किया गया।

उसके बाद छठवें और सातवें अध्याय में **आस्रव तत्त्वार्थ** का विवेचन किया गया।

छठवें अध्याय में आस्रव की चर्चा सामान्यरूप से इुई और फिर सातवें अध्याय में शुभास्रव अर्थात् **पुण्यास्रव** की चर्चा की गई।

जीव तत्त्वार्थ हम सब स्वयं हैं; अत: अत्यन्त प्रयोजनभूत होने से जीव तत्त्वार्थ का विवेचन अपेक्षित विस्तार के साथ तीन अध्यायों में किया गया; **पर सामान्य ज्ञेयरूप होने से अजीव तत्त्वार्थ को एक अध्याय में ही निबटा दिया।**

इसप्रकार आरंभ के पाँच अध्यायों में सामान्य मोक्षमार्ग और द्रव्य तत्त्वार्थों की चर्चा हुई।

इसके बाद **पर्याय तत्त्वार्थों** में सबसे पहले आस्रव तत्त्वार्थ की चर्चा की गई; जो दो अध्यायों में समाप्त हुई।

प्रश्न ह्न आस्रव तत्त्वार्थ तो हेय है, छोड़नेयोग्य है; उसके विवेचन के लिए दो अध्याय क्यों दिये गये ?

उत्तर ह्न आस्रव तत्त्व को मूलत: तो एक छठवें अध्याय में ही निबटा दिया था; पर **अनादि अज्ञान के कारण हेयरूप पुण्यास्रव तत्त्वार्थ को उपादेय मान लिया जाता है। उक्त अज्ञान के निवारण के लिए सातवें अध्याय की विशेषरूप से रचना की गई है।**

इसकारण यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई कि मोक्षमार्ग में पुण्यास्रव भी पापास्रव के समान हेय ही है।

सात तत्त्वार्थों में आस्रव के बाद बंध तत्त्वार्थ आता है। अत: अब उसका विवेचन प्रसंग प्राप्त है। ●

बंध के कारणरूप भाव

इस अध्याय में सबसे पहले कर्मबंध के कारणों की मीमांसा करते हैंह्र

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।।१।।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ह्र ये कर्मबंध के कारण हैं।

१. मिथ्यादर्शन ह्र अतत्त्व के श्रद्धान या तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उक्त मिथ्यादर्शन गृहीत और अगृहीत के भेद से दो प्रकार का होता है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाले देहादि परपदार्थों में एकत्व बुद्धिरूप अनादिकालीन मिथ्यात्व को **अगृहीत मिथ्यात्व** कहते हैं।

यह मिथ्यात्व एकेन्द्रियादि जीवों में भी पाया जाता है।

जो मिथ्यात्व बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है, जिसमें परोपदेश निमित्त होता है; सैनी पंचेन्द्रिय जीवों को होनेवाला वह मिथ्यात्व **गृहीत मिथ्यात्व** कहा जाता है।

बंध के कारणों में सर्वाधिक खतरनाक कारण मिथ्यात्व ही है। इसीलिए इसका अभाव सबसे पहले किया जाता है; क्योंकि इसके अभाव के बिना शेष आस्रव भावों का अभाव होना संभव ही नहीं है।

इसके अभाव बिना धर्म का आरंभ नहीं होता। जीव पहले गुणस्थान से भी नहीं निकलता। इसी कारण यह जीव अनादिकाल से चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है, अनन्त दु:ख भोग रहा है।

खेद है कि कुछ लोग इस मिथ्यात्व को बंध का कारण ही नहीं मानते। यदि इसे बंध का कारण नहीं माना जायेगा तो फिर इसका अभाव भी कोई क्यों करेगा ?

२. अविरति ह्र व्रतों का नहीं होना ही **अविरति** है। व्रतों की चर्चा अणुव्रत-महाव्रत; गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के रूप में हो चुकी है।

३. प्रमाद ह्र इसीप्रकार प्रमाद की चर्चा भी पाँच पापों की परिभाषा में **प्रमत्तयोगात्** पद की वजह से पर्याप्त विस्तार के साथ हो चुकी है।

४. कषाय ह्र कषाय तो सर्वत्र ही बहुचर्चित विषय रहा है।

५. योग ह्र इसीप्रकार योगों की चर्चा छठवें अध्याय के आरंभ में विस्तार से आ गई है।

इसप्रकार बन्ध के हेतु के रूप में मिथ्यादर्शन वर्तमानकाल का बहुचर्चित विषय है।

१. पहले गुणस्थानवालों के बंध करनेवाले उक्त **पाँचों कारण** विद्यमान हैं।

२. दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानवाले के एक मिथ्यात्व को छोड़कर शेष **चारों कारण** विद्यमान हैं।

३. पाँचवें गुणस्थानवाले संयतासंयत के भी सकलविरति के अभावरूप अविरति तथा प्रमाद, कषाय और योग ह्र ये बंध के **चार कारण** विद्यमान हैं।

४. छठवें गुणस्थानवाले प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय और योग ह्र ये बंध के **तीन कारण** विद्यमान हैं।

५. सातवें से दशवें गुणस्थानवालों के कषाय और योग ह्र ये **दो कारण** विद्यमान हैं।

६. ग्यारह, बारह और तेरहवें गुणस्थानवालों के **एकमात्र योग** ही बंध के कारण के रूप में विद्यमान रहता है।

७. चौदहवें गुणस्थान में बंध का एक भी कारण विद्यमान नहीं है; अत: वहाँ बंध होता ही नहीं है। सिद्धदशा तो अबन्धदशा ही है।

उक्त कथन से भी सहज सिद्ध है कि मिथ्यात्व ही मुख्यरूप से सबसे अधिक खतरनाक कर्मबंध का कारण है; क्योंकि **जिनके मिथ्यात्व विद्यमान है; उनके तो कर्मबंध के सभी कारण विद्यमान ही हैं।**

मिथ्यात्व का अभाव किये बिना बंध के किसी भी कारण का अभाव संभव नहीं है।।१।।

बंध का स्वरूप

कर्मबंध के कारण बताने के उपरान्त अब कर्मबंध का स्वरूप स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्‌गलानादत्ते स बन्धः ।।२।।

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है; वह बंध है।

प्रश्न ह्न गत सूत्र में बंध के कारण पाँच बताये हैं और यहाँ बंध के स्वरूप में एकमात्र कषाय का उल्लेख किया है ह्न इसका कारण क्या है?

उत्तर ह्न यहाँ कषाय का अर्थ मात्र कषाय नहीं है; अपितु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है। इसके अतिरिक्त प्रकृति और प्रदेश बंध में योग भी कारण है।

इसी सूत्र की टीका में राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि ह्न दोनों ही टीका ग्रन्थों में कहा गया है कि ह्न

''तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आर्द्र आत्मा में चारों ओर से योगविशेष से सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी एकक्षेत्रावगाही कर्मयोग्य पुद्‌गलों का अविभागात्मक बन्ध हो जाता है।

जैसे किसी बर्तन में अनेक प्रकार के रसवाले बीज, फल, फूल आदि का मदिरारूप से परिणमन होता है; उसीतरह आत्मा में ही स्थित पुद्‌गलों का योग और कषाय से कर्मरूप परिणमन हो जाता है।

यद्यपि मिथ्यादर्शन आदि बंध के कारण हैं, फिर भी पूर्वोपात्त कर्म के वे परिणाम हैं; अत: **कार्यरूप से आत्मा को परतंत्र करने के कारण बंध कहे जाते हैं।**[१]''

---

१. अकलंकदेव : तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ ७४६-७४७

कषाय पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक सर्वत्र पाई जाती है; पर **मिथ्यात्व** चौथे में समाप्त हो जाता है; **अविरति** छठवें में और **प्रमाद** सातवें गुणस्थान में समाप्त हो जाता है। इसलिए **कषाय सहित होने से** ह्न ऐसा कहा गया है।

यदि **मिथ्यात्व सहित होने से** कहते तो फिर व्रतियों के कर्मपुद्‌गलों का ग्रहण संभव नहीं रहता तथा **प्रमाद सहित होने से** कहते तो फिर अप्रमत्तादि गुणस्थान में कर्मपुद्‌गलों का ग्रहण संभव नहीं होता।

यदि योग सहित होने से कहते तो फिर योग से तो मात्र प्रकृति-प्रदेश बंध ही होता है, स्थिति-अनुभागबंध नहीं, अत: वह अबन्ध के समान ही है।

अत: **कषाय सहित होने से** इस पद का प्रयोग बहुत सोच-समझ कर किया गया प्रयोग है।।२।।

बंध के प्रकार

कर्मबंध के कारण और स्वरूप बताने के उपरान्त अब बंध के प्रकारों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।।३।।

वह बंध ह्न प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है।

प्रकृति **स्वभाव** को कहते हैं; स्थिति **काल की मर्यादा** को कहते हैं; अनुभाग **रस के परिपाक** को कहते हैं और प्रदेश **कर्म परमाणुओं के समूह** को कहते हैं।

यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

वस्तुत: होता यह है कि मन, वचन और काय के योग से आत्म प्रदेशों में परिस्पंद (कंपन) होता है। उक्त आत्मप्रदेशों के कंपन के

निमित्त से इस लोक में ठसाठस भरी हुई पौद्‌गलिक कार्मण वर्गणायें कर्मरूप परिणमित होती हैं। उन कर्मरूप परिणमित कार्मण वर्गणाओं के एकसमयप्रबद्ध प्रमाण कर्म परमाणु आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से सम्बद्ध होते हैं और लगभग इतने ही खिर जाते हैं।

कर्मरूप परिणमित उक्त परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होना ही **प्रदेशबंध** है।

उक्त परमाणुओं का ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में बंटवारा होने को **प्रकृतिबंध** कहते हैं।

कषाय के निमित्त से उनमें काल की मर्यादा सुनिश्चित होती है कि कौन से कर्म कब तक आत्मप्रदेशों में आबद्ध रहेंगे। वे कब/कैसे-कैसे उदय में आवेंगे। यह **काल की मर्यादा स्थितिबंध** कहलाती है।

साथ ही कषाय के ही निमित्त से यह सुनिश्चित होता है कि ये कर्म कैसे/क्या फल देंगे ? तात्पर्य यह है कि उसके निमित्त से इस जीव को क्या/कैसा फल भुगतना होगा ह्न यह **अनुभाग बंध** है।

इसप्रकार प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के भेद से बंध चार प्रकार का होता है।

ये चारों ही बंध प्रत्येक कषाय संयुक्त रागी जीव के प्रतिसमय होते रहते हैं।

इसप्रकार संसारावस्था में पहले से दशवें गुणस्थान तक चारों बंध नियम से एक साथ होते ही रहते हैं और ग्यारहवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं, चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध दशा में कोई बंध नहीं होता।।३।।

> संयोगों के जुटाने से सुख नहीं मिलता; किन्तु संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभावोन्मुख करने से ही सत्य, सुख व संतोष की प्राप्ति होती है। स्वभावदृष्टिवन्त ही वस्तुत: सुखी होते हैं। ह्न **सत्य की खोज, पृष्ठ ४४**

प्रकृतिबंध के भेद-प्रभेद

अब सर्वप्रथम बंध के प्रकारों के अंतर्गत प्रकृतिबंध के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रा न्तरायाः ।।४।।

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।।५।।

प्रकृतिबंध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ह्न ये आठ भेद हैं।

इन आठों कर्मों के क्रमश: पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद होते हैं।

१. **ज्ञानावरण ह्न** आत्मा के ज्ञान गुण को आवरित करने (ढ़कने) में अथवा घात करने में जो कर्म निमित्त हो, उसे **ज्ञानावरण कर्म** कहते हैं।

२. **दर्शनावरण ह्न** आत्मा के दर्शन गुण को आवरित करने (ढ़कने) में अथवा घात करने में जो कर्म निमित्त हो, उसे **दर्शनावरण कर्म** कहते हैं।

३. **वेदनीय ह्न** लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो; उस कर्म को **वेदनीय कर्म** कहते हैं।

अनुकूल संयोग में साता वेदनीय और प्रतिकूल संयोग में असाता वेदनीय का उदय निमित्त होता है।

४. **मोहनीय ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से स्वयं को भूलकर देहादि परपदार्थों में एकत्व-ममत्व करे, पर का कर्त्ता-भोक्ता बने अथवा कषायभाव उत्पन्न हो; उसे **मोहनीय कर्म** कहते हैं।

वह दो प्रकार का होता है ह्न १. दर्शनमोहनीय और २. चारित्र मोहनीय।

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से जीव स्वयं को भूलकर परपदार्थों में **एकत्व–ममत्व करता है; पर का कर्त्ता–भोक्ता बनता है** और चारित्र मोहनीय के उदय के निमित्त से **क्रोधादि कषायभावरूप परिणमता** है।

५. **आयु ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से यह जीव मनुष्य, देव, नारकी और पशु पर्याय में रुकता है; उसे आयुकर्म कहते हैं।

६. **नाम ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से शरीरादि की रचना होती है; उस कर्म को नामकर्म कहते हैं।

७. **गोत्र ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से यह जीव, नीच–उच्च कुल में पैदा होता है; उस कर्म को गोत्रकर्म कहते हैं।

नीचगोत्र कर्म के उदय के निमित्त से नीच कुल में और उच्चगोत्र कर्म के उदय के निमित्त से उच्चकुल में जन्म होता है।

८. **अन्तराय ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में रुकावट पैदा हो; उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इन आठ भेदों में ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के ब्यालीस[१], गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद होते हैं।

इसप्रकार कर्म, मूलत: आठ प्रकार का है और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ अभेद विवक्षा से सत्तानवें और भेद विवक्षा से एक सौ अड़तालीस हैं।

प्रश्न ह्न भेद विवक्षा और अभेद विवक्षा से क्या आशय है ?

उत्तर ह्न गति को एक गिनो तो अभेद विवक्षा और चार गिनो तो भेद विवक्षा।

इसीप्रकार जाति को एक मानो तो अभेद विवक्षा और पाँच मानो तो भेद विवक्षा।

इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।।४–५।।

१. नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ अभेद विवक्षा से ब्यालीस और भेदविवक्षा से तेरानवें हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के प्रकार

आठ कर्मों की चर्चा के उपरान्त अब ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के भेदों की चर्चा करते हैं ह्न

मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानाम् ।।६।।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिदानिद्राप्रचलाप्रचला–प्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।७।।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ह्न ये पाँच भेद ज्ञानावरण के हैं।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा–निद्रा, प्रचला, प्रचला–प्रचला, स्त्यानगृद्धि ह्न ये नौ भेद दर्शनावरण कर्म के हैं।

मतिज्ञान आदि ज्ञानों की चर्चा प्रथम अध्याय में हो चुकी है। उक्त मतिज्ञान आदि ज्ञानों को आवरित करने (ढ़कने) में जो निमित्त हों, उन्हें क्रमशः मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

इसप्रकार यह पाँच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म का विवरण है।

इसीप्रकार चक्षुदर्शन आदि चार दर्शनों की चर्चा भी उपयोग के प्रकरण में दूसरे अध्याय में हो चुकी है।

उक्त चक्षुदर्शन आदि चार दर्शनों को आवरित करने में निमित्त पड़नेवाले कर्मों को क्रमशः चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

५. **निद्रा ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से थकान दूर करने के लिए सोना आवश्यक हो जाता है; वह निद्रादर्शनावरणी कर्म है।

६. **निद्रा–निद्रा ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से ऐसी गहरी नींद

आवे कि जिसमें आँखें खोलना भी अशक्य हो जाय; वह निद्रा-निद्रादर्शनावरणी कर्म है।

७. **प्रचला ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से श्रम और थकान के कारण बैठे-बैठे ही नींद आने लगे; वह प्रचला नामक दर्शनावरणी कर्म है।

८. **प्रचला-प्रचला ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से प्रचला की अधिकता हो जाय; उसे प्रचला-प्रचलादर्शनावरणीकर्म कहते हैं।

९. **स्त्यानगृद्धि ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से जीव सोते-सोते ही उठकर शक्ति के बाहर कोई बड़ा काम कर डाले; उसे स्त्यानगृद्धि नामक दर्शनावरणी कर्म कहते हैं।

यहाँ एक **प्रश्न** सहज ही संभव है कि दर्शन तो चार ही हैं; अत: दर्शनावरणी कर्म भी चार प्रकार का होना चाहिए।

उत्तर इसप्रकार है कि यद्यपि निद्रादिक सामान्य आवरण कर्म हैं; तथापि संसारी जीव के पहले दर्शनोपयोग (सामान्य प्रतिभास) होता है और ये निद्रादिक उस उपयोग में बाधक हैं। इसलिए इन निद्रा आदि पाँच कर्मों की दर्शनावरण के भेदों में परिगणना की जाती है। इससे दर्शनावण कर्म के नौ भेद सिद्ध होते हैं।[१]

इसप्रकार यह नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म का विवरण है।।६-७।।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २९९

> एक कहता है आत्मा शुद्ध है, दूसरा कहता है अशुद्ध। बात बल देने की है। द्रव्यदृष्टि वाला शुद्ध पर बल देता है, पर्यायदृष्टि वाला अशुद्ध पर। ज्ञान दोनों को जानता है। शुद्ध पर बल देने वाले को शुद्धता प्राप्त होती है, अशुद्ध पर बल देनेवाले के अशुद्धता हाथ लगती है।
>
> वस्तु नहीं, मात्र दृष्टि बदलनी है। दृष्टि बदल जाएगी तो सृष्टि स्वयं बदल जाएगी। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-४३**

वेदनीय, मोहनीय और आयु कर्म के प्रकार

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के प्रकारों के विवरण के उपरांत अब वेदनीय, मोहनीय और आयु कर्म की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

सदसद्वेद्ये ।।८।।

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ।।९।।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।१०।।

वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं – १. सातावेदनीय और २. असाता वेदनीय।

मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है ह्न

१. दर्शनमोहनीय और २. चारित्रमोहनीय।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं ह्न

१. सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोहनीय), २. मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय और ३. सम्यक्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय।

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं ह्न

१. अकषायवेदनीय और २. कषायवेदनीय।

अकषायवेदनीय के नौ भेद हैं ह्न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

कषायवेदनीय के सोलह भेद हैं ह्न अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ।

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ह्न ये चार आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

इसप्रकार दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के पच्चीस भेद हैं। इसतरह कुल मिलाकर मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं।

१. जिस कर्म के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक अनुकूलताओं (सुखों) का अनुभव होता है; वह **सातावेदनीय** नामक कर्म है।

२. जिस कर्म के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक प्रतिकूलताओं (दु:खों) का अनुभव होता है; वह **असाता वेदनीय** नामक कर्म है।

इसप्रकार वेदनीय कर्म साता और असाता के भेद से दो प्रकार का है।

मोहनीय कर्म में दर्शनमोहनीय बंधता तो मात्र एक **मिथ्यात्व** के रूप में ही है; परन्तु जब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है; तब सत्ता में विद्यमान इस मिथ्यात्व नामक कर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं; जिनके नाम हैं ह्न (१) सम्यक्त्व प्रकृति, (२) मिथ्यात्व और (३) मिश्र।

इसप्रकार सत्ता और उदय में दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का हो जाता है।

(१) सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के निमित्त से सम्यक्त्व का घात तो नहीं होता; परन्तु सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार के सम्यग्दर्शन को **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** कहते हैं। यह भी चौथे से सातवें गुणस्थान में ही रहता है।

(२) मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से अनन्त संसार का कारण **मिथ्यात्व** होता है। यह पहले गुणस्थान में होता है।

(३) मिश्र प्रकृति के उदय से तीसरा गुणस्थान होता है। इसमें सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन का मिश्रित भाव होता है।

अकषाय वेदनीय नामक मोहनीय कर्म अकषायरूप नहीं, ईषद् कषायरूप है, किंचित् कषायरूप है; इसलिए इसे **नोकषाय** भी कहते हैं।

यहाँ अकषाय शब्द में 'अ' नञ तत्पुरुष समास के रूप में आया है; जिसका भी भाव, अभावरूप न होकर ईषद् (अल्प) भावरूप होता है।

हास्यादिक नोकषायें, क्रोधादिक कषायों के समान घातक नहीं हैं। इसलिए उन्हें अकषाय या नोकषाय कहते हैं।

हास्यादि नोकषायों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१. जिसके उदय के निमित्त से हंसी आती है, उस कर्म को **हास्य** नोकषाय कहते हैं।

२. जिसके उदय के निमित्त से किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति सहज स्नेह जागृत होता है; उस कर्म को **रति** नामक नोकषाय कहते हैं।

३. जिसके उदय के निमित्त से किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति सहज उपेक्षाभाव जागृत होता है; उस कर्म को **अरति** नामक नोकषाय कहते हैं।

४. जिसके उदय के निमित्त से रंज होता है; उस कर्म को **शोक** नामक नोकषाय कहते हैं।

५. जिसके उदय के निमित्त से डर लगता है; उस कर्म को **भय** नामक नोकषाय कहते हैं।

६. जिसके उदय के निमित्त से ग्लानिरूप भाव जागृत होता है; उस कर्म को **जुगुप्सा** नामक नोकषाय कहते हैं।

७. जिसके उदय के निमित्त से पुरुष से रमण करने के भाव होते हैं; उस कर्म को **स्त्रीवेद** नामक नोकषाय कहते हैं।

८. जिसके उदय के निमित्त से स्त्री से रमण करने के भाव उत्पन्न होते हैं; उस कर्म को **पुरुषवेद** नामक नोकषाय कहते हैं।

९. जिसके उदय के निमित्त से स्त्री और पुरुष दोनों से रमण करने के भाव उत्पन्न होते हैं; उस कर्म को **नपुंसकवेद** नामक नोकषाय कहते हैं।

इसप्रकार ये नौ प्रकार, नोकषाय नामक चारित्रमोहनीय कर्म के हैं।

अब कषायवेदनीय नामक चारित्रमोहनीय कर्म की बात करते हैंह्न

कषायें चार हैं ह्न क्रोध, मान, माया और लोभ।

ये चारों कषायें चार-चार प्रकार की होती हैं ह्न

१. अनंतानुबंधी कषाय २. अप्रत्याख्यानावरण कषाय

३. प्रत्याख्यानावरण कषाय ४. संज्वलन कषाय

इसप्रकार कषायें सोलह प्रकार की हो जाती हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि **क्रोध, गुस्से को कहते हैं; मान, अभिमान को कहते हैं; माया, छल-कपट करने को कहते हैं** और **लोभ, लालच-तृष्णा को कहते हैं।**

१. अनंत संसार का कारण होने से **मिथ्यात्व को अनंत कहते हैं** अत: मिथ्यात्व के साथ होनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ को अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ कहते हैं।

इस अनंतानुबंधी कषाय के कारण, स्वरूप में आचरण नहीं हो सकता, स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता। चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृति होने के कारण यह स्वरूपाचरणचारित्र की घातक है, स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होने में निमित्त है। अत: हम कह सकते हैं कि **जिसके उदय के निमित्त से स्वरूप में आचरण न हो सके, स्वरूपाचरणचारित्र न हो सके, सम्यक्त्वाचरणचारित्र न हो सके; उस कर्म को अनंतानुबंधी कषाय** नामक कर्म कहते हैं।

२. जिसके उदय के निमित्त से देशविरति अर्थात् थोड़ा भी संयम न हो सके अर्थात् संयमासंयम भी न हो सके; उस कर्म को **अप्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म** कहते हैं।

३. जिसके उदय के निमित्त से संपूर्ण विरति अर्थात् सकल संयम न हो सके; उस कर्म को **प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म** कहते हैं।

४. जो संयम के साथ जलती रहे अर्थात् जिसके रहने पर भी संयम

रह सके, पर यथाख्यातचारित्र न हो सके; वह **संज्वलन कषाय** नामक कर्म है।

सभी कर्मों में यह **मोहनीय कर्म ही सर्वाधिक खतरनाक कर्म है; क्योंकि एकमात्र इसके उदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व और कषाय-नोकषायरूप भाव आगामी कर्मबंध में निमित्त होते हैं।**

शेष सात कर्मों के उदय के निमित्त से होनेवाले संयोगरूप परद्रव्य और संयोगी भाव आगामी कर्मों के बंध में निमित्त भी नहीं हैं।

मोहनीय में भी मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायें ही अनंत संसार का कारण हैं। यह बात गंभीरता से विचार करने योग्य है।

कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियों में मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृति के समक्ष १४७ प्रकृतियाँ मानो कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि **एक मिथ्यात्व के नाश होने पर शेष प्रकृतियाँ भी नाश होने लगती हैं,** संसार सागर का किनारा नजदीक आ जाता है। इसके अभाव के बिना एक भी कर्म प्रकृति का सर्वथा नाश नहीं होता।

यही कारण है कि सिद्धचक्रविधान की प्रथम पूजन की जयमाला में लिखा है कि ह्न

जय करण कृपाण सु प्रथम बार, मिथ्यात्व सुभट कीनों प्रहार।
दृढकोट विपर्यय मति उलंघि, पायो समकित थल थिर अभंग।।

हे भगवन् ! आपने करण (करणलब्धि) रूपी कृपाण (तलवार) से सर्वप्रथम मिथ्यात्व नामक सुभट (योद्धा) पर प्रहार किया। उसे मारकर फिर उल्टी बुद्धिरूपी मजबूत कोट का उल्लंघन कर आपने सम्यग्दर्शन रूप स्थिर और अभंग स्थल की प्राप्ति की अर्थात् प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की।

इसप्रकार धर्म का आरंभ मिथ्यात्व के नाश से होता है।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है; उसीप्रकार मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्यात्व संसार का मूल है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई–बहिन का **सर्वप्रथम कर्त्तव्य मिथ्यात्व के नाश का पुरुषार्थ करना है,** सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना है।

यह सारा जगत तो वेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाले अनुकूल–प्रतिकूल संयोगों के उलट–पुलट करने में उलझा रहता है। वेदनीय कर्म तो अघातिया कर्म है। वह तो आत्मगुण घातने में निमित्त भी नहीं है। उसकी उपस्थिति तो अनंत अतीन्द्रिय सुख प्राप्त कर लेने पर भी अरहंत भगवान के भी बनी रहती है। **इसलिए नाश तो सबसे पहले मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों का ही होता है।**

जिस कर्म के उदय के निमित्त से नरकादि गतियों में जाना और एक सुनिश्चित काल तक रहना होता है; उस कर्म को **आयुकर्म** कहते हैं।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से नरक में जाना और आयुकर्म की स्थिति अनुसार रहना होता है; वह **नरकायु** नामक आयुकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से तिर्यंचगति में जाना होता है और वहाँ आयुकर्म की स्थिति के अनुसार रहना होता है; वह **तिर्यंचायु** नामक आयुकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से मनुष्यगति में जाना होता है और आयुकर्म की स्थिति अनुसार रहना होता है; वह **मनुष्यायु** नामक आयु कर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से देवगति में जाना होता है और आयुकर्म की स्थिति के अनुसार रहना होता है; वह **देवायु** नामक आयुकर्म है।

मनुष्य, देव और तिर्यंच ह्न इन आयु कर्मों को शुभ और **नरकायु को अशुभ माना जाता है;** क्योंकि नरक में जीव मरना चाहता है, अन्य गतियों के जीव किसी भी स्थिति में हों, **मरना नहीं चाहते ।।८–१०।।**

नामकर्म के प्रकार

वेदनीय, मोहनीय और आयुकर्म के प्रकारों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अब नामकर्म के भेद गिनाते हैं ह्न

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहनन स्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपो द्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वर शुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।।११।।

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यश:कीर्ति और इन दसों के प्रतिपक्षी अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयश:कीर्ति एवं तीर्थंकर ह्न ये बयालीस भेद नामकर्म के हैं।

इन्हीं के अवान्तर भेदों को मिलाने से नामकर्म के तिरानवें भेद हो जाते हैं।

उक्त प्रकृतियों का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१ से ४. गति नामकर्म – जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव दूसरे भव में जाता है; उस कर्म को **गति** नामक नामकर्म कहते हैं।

गति नामक नामकर्म चार प्रकार का होता है ह्न नरकगति नामकर्म, तिर्यंचगति नामकर्म, मनुष्यगति नामकर्म और देवगति नामकर्म।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव के नारक भाव हों; वह **नरकगति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव के तिर्यंचों जैसे भाव हों; वह **तिर्यंचगति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव के मनुष्यों जैसे भाव हों; वह **मनुष्यगति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव के देवों जैसे भाव हों; वह **देवगति** नामक नामकर्म है।

५ से ९. जाति नामकर्म ह्व नरकादि गतियों में जिस समानता से एकत्व का बोध होता है; उस समानता को **जाति** कहते हैं। जिस कर्म के उदय के निमित्त से ऐसी जाति होती है; उस कर्म को **जाति** नामक नामकर्म कहते हैं।

जाति नामक नामकर्म पाँच प्रकार का होता है ह्व एकेन्द्रियजाति नामकर्म, द्वीन्द्रियजाति नामकर्म, त्रीन्द्रियजाति नामकर्म, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म और पंचेन्द्रियजाति नामकर्म।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है; वह **एकेन्द्रियजाति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव द्वीन्द्रिय कहा जाता है; वह **द्वीन्द्रियजाति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव त्रीन्द्रिय कहा जाता है; वह **त्रीन्द्रियजाति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव चतुरिन्द्रिय कहा जाता है; वह **चतुरिन्द्रियजाति** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव पंचेन्द्रिय कहा जाता है; वह **पंचेन्द्रियजाति** नामक नामकर्म है।

१० से १४. शरीर नामकर्म ह्व जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर की रचना होती है; वह कर्म **शरीर** नामक नामकर्म कहलाता है।

शरीर नामक नामकर्म पाँच प्रकार का होता है ह्व औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, औदारिक शरीर की रचना हो; वह **औदारिक शरीर** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, वैक्रियिक शरीर की रचना हो; वह **वैक्रियिक शरीर** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, आहारक शरीर की रचना हो; वह **आहारक शरीर** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, तैजस शरीर की रचना हो; वह **तैजस शरीर** नामक नाम कर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, कार्मण शरीर की रचना हो; वह **कार्मण शरीर** नामक नामकर्म है।

१५ से १७. अंगोपांग नामकर्म ह्व जिस कर्म के उदय के निमित्त से, अंगोपांगों की रचना होती है; वह कर्म **अंगोपांग** नामक नामकर्म कहलाता है।

दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल, (सीना) और सिर (मस्तक) ह्व ये शरीर के आठ **अंग** हैं और ललाट, नाक, कान, आँखें, औंठ, अंगुलियाँ और नाखून आदि को **उपांग** कहते हैं।

अंगोपांग नामक नामकर्म तीन प्रकार का होता है ह्व औदारिक शरीर अंगोपांग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म और आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म।

१८. निर्माण नामकर्म ह्व जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचना होती है; वह **निर्माण** नामक नामकर्म कहलाता है।

१९ से २३. बन्धन नामकर्म ह्व जिस कर्म के उदय के निमित्त से, अंगोपांग बंधन को प्राप्त होते हैं; वह कर्म **बन्धन** नामक नामकर्म है।

इसके अभाव में शरीर लकड़ियों के ढेर जैसा हो जाता।

बन्धन नामक नामकर्म पाँच प्रकार का होता है ह्व औदारिक बन्धन

नामकर्म, वैक्रियिक बन्धन नामकर्म, आहारक बन्धन नामकर्म, तैजस बन्धन नामकर्म और कार्मण बन्धन नामकर्म।

२४ से २८. संघात नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर के अंग-उपांग का निश्छिद्र संश्लेष अर्थात् संघात होता है; वह **संघात** नामक नामकर्म है।

संघात नामक नामकर्म पाँच प्रकार का होता है ह्न औदारिक संघात नामकर्म, वैक्रियिक संघात नामकर्म, आहारक संघात नामकर्म, तैजस संघात नामकर्म और कार्मण संघात नामकर्म।

२९ से ३४. संस्थान नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है; वह **संस्थान** नामक नामकर्म है।

संस्थान नामक नामकर्म छह प्रकार का होता है ह्न समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, स्वातिसंस्थान नामकर्म, कुब्जकसंस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डकसंस्थान नामकर्म।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, ऊपर, नीचे तथा मध्य में शरीर के अवयवों की समान विभाग लिए, रचना होती है; उसे **समचतुरस्र संस्थान** नामक नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, नाभि के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होता है, जैसे वट का वृक्ष; उसे **न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान** नामक नामकर्म कहते हैं।

स्वाति यानि बाम्बी (साँप का विल-वामी) की तरह नाभि से नीचे का भाग भारी और ऊपर का दुबला जिस कर्म के उदय से हो, वह **स्वातिसंस्थान** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर कुबड़ा हो; वह **कुब्जक संस्थान** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर बौना हो; वह **वामनसंस्थान** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, अंगोपांग विरूप हों; वह **हुंडक संस्थान** नामक नामकर्म है।

३५ से ४०. संहनन नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो; वह **संहनन** नामक नामकर्म है।

संहनन नामक नामकर्म छह प्रकार का है ह्न वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म, वज्रनाराच संहनन नामकर्म, नाराच संहनन नामकर्म, अर्द्धनाराच संहनन नामकर्म, कीलक संहनन नामकर्म और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नामकर्म।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, वृषभ यानि वेष्टन, नाराच यानि कीलें और संहनन यानि हड्डियाँ वज्र की तरह अभेद्य हों; वह **वज्रवृषभनाराच संहनन** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, कील और हड्डियाँ वज्र की तरह हों और वेष्टन सामान्य हो; वह **वज्रनाराच संहनन** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, हाड़ों के जोड़ों में कीलें हों; वह **नाराच संहनन** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, हाड़ों की संधियाँ अर्धकीलित हों; वह **अर्धनाराच संहनन** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, हाड़ परस्पर में ही कीलित हों, अलग से कील न हो; वह **कीलित संहनन** नामक नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय के निमित्त से, हाड़ केवल नस, स्नायु वगैरह से बंधे हों; वह **असंप्राप्तासृपाटिका संहनन** नामक नामकर्म है।

४१ से ४८. स्पर्श नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर में स्पर्श प्रकट हो; वह **स्पर्श** नामक नामकर्म है।

स्पर्श नामक नामकर्म आठ प्रकार का है ह्न कोमल स्पर्श नामकर्म,

कठोर स्पर्श नामकर्म, गुरु स्पर्श नामकर्म, लघु स्पर्श नामकर्म, शीत स्पर्श नामकर्म, उष्ण स्पर्श नामकर्म, स्निग्ध स्पर्श नामकर्म और रूक्ष स्पर्श नामकर्म।

४९ से ५३. रस नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर में रस प्रकट हो; वह **रस** नामक नामकर्म है।

रस नामक नामकर्म पाँच प्रकार का है ह्न खट्टा रस नामकर्म, मीठा रस नामकर्म, कड़ुआ रस नामकर्म, कषायला रस नामकर्म और चरपरा रस नामकर्म।

५४ से ५५. गंध नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर में गंध प्रकट हो; वह **गंध** नामक नामकर्म है।

गंध नामक नामकर्म दो प्रकार का है ह्न सुगंध नामकर्म और दुर्गंध नामकर्म।

५६ से ६०. वर्ण नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर में वर्ण यानी रंग प्रकट हो; वह **वर्ण** नामक नामकर्म है।

वर्ण नामक नामकर्म पाँच प्रकार का है ह्न काला वर्ण नामकर्म, पीला वर्ण नामकर्म, नीला वर्ण नामकर्म, लाल वर्ण नामकर्म और सफेद वर्ण नामकर्म।

६१ से ६४. आनुपूर्व्य ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, पूर्व शरीर का आकार बना रहे; वह **आनुपूर्व्य** नामक नामकर्म है।

आनुपूर्व्य नामक नामकर्म चार प्रकार का है ह्न नरकगत्यानुपूर्व्य नामकर्म, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य नामकर्म, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य नामकर्म और देवगत्यानुपूर्व्य नामकर्म।

इस आनुपूर्व्य नामक नामकर्म को आनुपूर्वी नामकर्म भी कहा जाता है। जैसे ह्न नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

जिस समय मनुष्य या तिर्यंच मरकर, नरक गति की ओर जाता है

तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोड़कर आया है। यह **नरकगत्यानुपूर्व्य** नामक नामकर्म का कार्य है।

जिस समय देव, नारकी, तिर्यंच या मनुष्य मर करके तिर्यंच गति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोड़कर आया है। यह **तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य** नामक नामकर्म का कार्य है।

जिस समय देव, नारकी या तिर्यंच मर करके मनुष्यगति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोड़कर आया है। यह **मनुष्यगत्यानुपूर्व्य** नामक नामकर्म का कार्य है।

जिस समय मनुष्य या तिर्यंच मर करके देव गति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोड़कर आया है। यह **देवगत्यानुपूर्व्य** नामक नामकर्म का कार्य है।

६५. अगुरुलघु नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी हो और न आक की रुई की तरह हल्का हो; वह **अगुरुलघु** नामक नामकर्म है।

६६. उपघात नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, जीव स्वयं ही अपने ही अवयवों से अपना घात करके मर जाये; वह **उपघात** नामक नामकर्म है।

६७. परघात नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, दूसरे के द्वारा चलाये गये शस्त्र आदि से अपना घात हो; वह **परघात** नामक नामकर्म है।

६८. आतप नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, आतपकारी शरीर हो; वह **आतप** नामक नामकर्म है। इसका उदय सूर्य के बिम्ब में जो बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जीव होते हैं, उन्हीं के होता है।

६९. **उद्योत नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, उद्योतरूप शरीर हो; वह **उद्योत** नामक नामकर्म है। इसका उदय चन्द्रमा के बिम्ब में रहनेवाले जीवों के तथा जुगनू वगैरह के होता है।

७०. **उच्छवास नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, उच्छ्वास हो; वह **उच्छ्वास** नामक नामकर्म है।

७१. **प्रशस्त विहायोगति नामकर्म ह्न** हाथी, बैल वगैरह की सुन्दर गति के कारणभूत कर्म को **प्रशस्त विहायोगति** नामक नामकर्म कहते हैं।

७२. **अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म ह्न** ऊँट, गधे वगैरह की खराबगति के कारणभूत कर्म को **अप्रशस्त विहायोगति** नामक नामकर्म कहते हैं।

७३. **प्रत्येकशरीर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर एक जीव के ही भोगने योग्य होता है; वह **प्रत्येक शरीर** नामक नामकर्म है।

७४. **साधारणशरीर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, बहुत से जीवों के भोगने योग्य साधारण शरीर होता है; वह **साधारण शरीर** नामक नामकर्म है।

७५. **त्रस नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, द्वीन्द्रिय आदि में जन्म हो; उसे **त्रस** नामक नामकर्म कहते हैं।

७६. **स्थावर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, एकेन्द्रियों में जन्म हो; वह **स्थावर** नामक नामकर्म है।

७७. **सुभग नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, दूसरे जीव अपने से प्रीति करें; वह **सुभग** नामक नामकर्म है।

७८. **दुर्भग नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर सुन्दर सुरूप होने पर भी दूसरे अपने से प्रीति न करें अथवा घृणा करें; वह **दुर्भग** नामक नामकर्म है।

७९. **सुस्वर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, स्वर

मनोज्ञ हो, जो दूसरों को प्रिय लगे; वह **सुस्वर** नामक नामकर्म है।

८०. **दुःस्वर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, अप्रिय स्वर हो; वह **दुस्वर** नामक नामकर्म है।

८१. **शुभ नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर के अवयव सुन्दर हों; वह **शुभ** नामक नामकर्म है।

८२. **अशुभ नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर के अवयव सुन्दर न हों; वह **अशुभ** नामक नामकर्म है।

८३. **सूक्ष्म नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर सूक्ष्म हो जो किसी से न रुके; वह **सूक्ष्म** नामक नामकर्म है।

८४. **बादर (स्थूल) नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर स्थूल हो; वह **बादर** नामक नामकर्म है

८५. **पर्याप्ति नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, आहार आदि पर्याप्तियों की पूर्णता हो; वह **पर्याप्ति** नामक नामकर्म है।

८६. **अपर्याप्ति नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती; वह **अपर्याप्ति** नामक नामकर्म है।

८७. **स्थिर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर के धातु-उपधातु स्थिर होते हैं, जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता; वह **स्थिर** नामक नामकर्म है।

८८. **अस्थिर नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, धातु-उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा सा श्रम करने से ही या जरा-सी गर्मी-सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है; वह **अस्थिर** नामक नामकर्म है।

८९. **आदेय नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर प्रभासहित हो; वह **आदेय** नामक नामकर्म है।

९०. **अनादेय नामकर्म ह्न** जिस कर्म के उदय के निमित्त से, शरीर प्रभा रहित हो; वह **अनादेय** नामक नामकर्म है।

९१. यश:कीर्ति नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, संसार में जीव का यश फैले; वह **यश:कीर्ति** नामक नामकर्म है।

९२. अयश:कीर्ति नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, संसार में अपयश फैले; वह **अयशस्कीर्ति** नामक नामकर्म है।

९३. तीर्थंकर नामकर्म ह्न जिस कर्म के उदय के निमित्त से, अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पद के साथ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है; वह **तीर्थंकर** नामक नामकर्म है।

इसप्रकार नामकर्म की अभेद विवक्षा से ब्यालीस और भेद विवक्षा से तिरानवें उत्तर प्रकृतियाँ हैं।।११।।

प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणमन होगा ह्न यह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में झलक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले यह बता दिया था कि यह द्वारका नगरी बारह वर्ष बाद जल जायेगी और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जलने से रोका नहीं जा सका, आखिर वह जली ही।

इसीप्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी पड़ी हैं, जो इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है, अघटित कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवली भगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ–६५

गोत्र और अन्तराय कर्म के प्रकार

नामकर्म के प्रकारों की चर्चा के उपरान्त अब गोत्र और अन्तराय कर्मों के भेदों की बात करते हैं ह्न

उच्चैर्नीचैश्च ।।१२।।

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।।१३।।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र के भेद से गोत्र कर्म दो प्रकार का है।

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय के भेद से अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है।

१. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, सदाचारी लोकपूज्य कुल में जन्म होता है; उस कर्म को **उच्चगोत्र** कर्म कहते हैं।

२. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, निन्दनीय आचरणवाले कुल में जन्म होता है; उस कर्म को **नीचगोत्र** कर्म कहते हैं।

१. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, देने के भाव होने पर भी देना संभव नहीं हो पाता; उस कर्म को **दानान्तराय** नामक कर्म कहते हैं।

२. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, लाभ की इच्छा होते हुए भी, प्रयत्न करने पर भी लाभ नहीं हो पाता; उस कर्म को **लाभान्तराय** कर्म कहते हैं।

३. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, भोग चाहते हुए भी, प्रयत्न करते हुए भी भोग की प्राप्ति नहीं हो पाती; उस कर्म को **भोगान्तराय** कर्म कहते हैं।

४. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, उपभोग चाहते हुए भी, प्रयत्न करते हुए भी, उपभोग संभव नहीं हो पाता; उस कर्म को **उपभोगान्तराय** कर्म कहते हैं।

५. जिस कर्म के उदय के निमित्त से, प्रयत्न करने पर भी उत्साह नहीं होता; वह **वीर्यान्तराय** कर्म है।।१२–१३।।

स्थितिबंध की चर्चा

पहले और दूसरे सूत्र में बंध के हेतु और स्वरूप बताने के उपरान्त तीसरे सूत्र में बंध के प्रकारों की चर्चा आरंभ की थी।

वहाँ कहा था कि बंध चार प्रकार का होता है ह्न

१. प्रकृति बंध, २. स्थिति बंध, ३. अनुभाग बंध और ४. प्रदेश बंध। उसमें से सर्वप्रथम प्रकृति बंध की चर्चा में अबतक कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों की चर्चा विस्तार से की।

अब स्थिति बंध की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटि कोट्यः परास्थितिः ।।१४।।

सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।१५।।

विंशतिर्नामगोत्रयोः ।।१६।।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।।१७।।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।।१८।।

नामगोत्रयोरष्टौ ।।१९।।

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।।२०।।

आदि के तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय ह्न इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है।

नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नामकर्म और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है।

शेष कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म आते हैं। इन सभी की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है।

इसमें दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर और चारित्रमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर होती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, अंतराय, नाम और गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति का बंध, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के ही होता है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है।

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति नौंवे गुणस्थान में ही बंधती है।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमियों मनुष्यों और तिर्यंचों के बंधती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसांपराय नाम के दशवें गुणस्थान में बंधती है।

इसप्रकार यह स्थिति बंध का विवरण है।।१८-२०।।

> *मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्धर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए।*
>
> **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६२**

अनुभाग बंध

प्रकृति बंध और स्थिति बंध की चर्चा के उपरान्त अब अनुभाग बंध की बात करते हैं ह्न

विपाकोऽनुभवः ।।२१।।

स यथानाम ।।२२।।

ततश्च निर्जरा ।।२३।।

विपाक को अनुभव (अनुभाग) कहते हैं।

वह अनुभव कर्मों के नामानुसार ही होता है।

फल दे चुकने के बाद उस कर्म की निर्जरा हो जाती है।

विशेष प्रकार के पाक को विपाक कहते हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्तों के भेद से अनेक प्रकार के होनेवाले पाक को विपाक कहते हैं। **यह विपाक ही अनुभव है, अनुभाग है।**

शुभ परिणामों की प्रकर्षता में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ प्रकृतियों का निष्कृष्ट अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ प्रकृतियों का निष्कृष्ट अनुभाग बंध होता है।

यह अनुभव या फल विपाक दो प्रकार का होता है ह्न १. स्वमुख और २. परमुख से।

सभी मूल प्रकृतियों का स्वमुख से विपाक होता है। उत्तर प्रकृतियों में आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को छोड़कर शेष **सजातीय प्रकृतियों का विपाक परमुख से भी होता है।**

नरकायु के मुख से मनुष्यायु या तिर्यंचायु का विपाक नहीं होगा। इसीप्रकार दर्शनमोह, चारित्रमोह के रूप में और चारित्रमोह, दर्शनमोह के रूप में नहीं फलेंगे।

कर्म का यह विपाक (अनुभव-अनुभाग-फल) अपने-अपने नामानुसार ही होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरण का विपाक अर्थात् उदय ज्ञान को आवरित करने रूप ही फलेगा, अन्यरूप नहीं।

फल देने के बाद इन कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

वह निर्जरा दो प्रकार की होती है ह्न

१. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा।

कर्मों का अपने समय पर उदय में आकर, फल देकर खिर जाना सविपाक निर्जरा है और तपश्चर्या आदि निमित्तों के मिलने पर कर्मों का समय के पहले खिर जाना अविपाक निर्जरा है।।२१-२३।।

मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्म साधना में भी बाधा पड़ेगी। अतः वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा ? बस, एक ग्रास ही न ? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६०**

प्रदेश बंध

प्रकृति, स्थिति और अनुभाग बंध की चर्चा होने के उपरान्त अब प्रदेश बंध की चर्चा करते हैं ह्न

नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ।।२४।।

अपने-अपने नामानुसार सभी भूत-भावी भवों में, योग विशेष के निमित्त से आनेवाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में स्थित सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्म पुद्गल, प्रदेश बंध हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारण सभी ओर से सभी भवों में योगविशेष से सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित और सभी आत्मप्रदेशों में अनन्तानन्त कर्म पुद्गलों का बंधना, प्रदेश बंध है।

उक्त प्रदेश बंध की परिभाषा में निम्नांकित तथ्य समाहित हैं ह्न

१. कार्मण वर्गणाओं के कर्माणुओं (कर्म प्रदेशों) में ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के कर्माणु समाहित होते हैं।

२. जैसे वे कर्माणु आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप बँधते हैं; उसी समय यदि आयु बंध नहीं हो रहा हो तो शेष सात कर्मों में या फिर आठों ही कर्मों में विभाजित हो जाते हैं।

३. सभी भवों में प्रत्येक समय यह प्रक्रिया चलती रहती है।

४. उनके बंधन में निमित्त मन-वचन-कायरूप योग होते हैं।

५. वे सभी परमाणु या प्रदेश अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं।

६. आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं के स्कंध बन्धरूप होते रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि कार्मण वर्गणाओं के अनन्तानन्त कर्माणुओं का योग के निमित्त से निरन्तर बंधते रहना ही प्रदेशबंध है।।२४।।

पुण्य और पापरूप कर्म

चारों प्रकार के बंध की चर्चा होने के उपरान्त अब उन कर्मों को पुण्य और पाप के रूप में विभाजित करते हैं ह्न

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।।२५।।

अतोऽन्यत्पापम् ।।२६।।

साता वेदनीय, मनुष्य, तिर्यंच और देव आयु तथा उच्च गोत्र और नामकर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ ह्न कुल मिलाकर ब्यालीस प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

इन पुण्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

आस्रव और बंधतत्त्व का निरूपण करनेवाले छठवें, सातवें और आठवें अध्यायों के समाप्ति के अवसर पर कर्मों के आस्रव और बंध का विस्तार से निरूपण करने के उपरान्त अन्त में आचार्यदेव ने सोचा कि **पुण्य और पाप भी तो धर्म नहीं, कर्म ही हैं; उनका भी आस्रव-बंध होता है; अत: उनकी भी चर्चा यहीं कर लेना चाहिए; क्योंकि अगले अध्यायों में संवर, निर्जरा और मोक्षरूप धर्म की चर्चा चलेगी।**

कर्मों में चार घातिया कर्म तो पूर्णत: पापरूप ही हैं; अत: उनकी सभी प्रकृतियाँ पापरूप ही हैं। अघातिया कर्म आत्मगुणों को नहीं घातते और उनकी सत्ता अरहंत भगवान के भी पाई जाती है।

जो अरहंत भगवान अनन्त सुखी हैं, अनन्त सुखी हो गये हैं; उनके भी विद्यमान रहनेवाले अघातिया कर्मों में भी जो कर्म रागी-द्वेषी आत्मा को असाता के निमित्त हों, नीच कुल में पैदा करायें, नरकादि अशुभ गतियों में ले जायें और अशुभ शरीर के संयोगों के निमित्त हों; उन्हें पुण्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि कभी-कभी पुण्य की व्युत्पत्ति भी इसप्रकार की जाती रही है कि **यो पुनाति आत्मानं स: पुण्यं ह्न** जो आत्मा को पवित्र करे, वह पुण्य है।

यद्यपि तथ्य की बात तो यही है कि कर्म चाहे पुण्यरूप हो या पापरूप हो, जो आत्मा को बंधन में डाले, बंध का कारण हो; उसे पवित्र करनेवाला कैसे माना जा सकता है ? यही कारण है कि यहाँ आचार्यदेव ने पुण्य और पाप ह्न दोनों ही कर्मों को बंध अधिकार में रखा है।

अघातिया कर्मों में असाता वेदनीय, अशुभ आयु, नीच गोत्र और नामकर्म की उन सभी प्रकृतियों को, जो आत्मा को प्रतिकूलता प्राप्त कराने में निमित्त हों, पाप माना गया है। पुण्य तो मात्र उन्हीं प्रकृतियों को माना है, जो लौकिक दृष्टि से आत्मा को अनुकूलता प्रदान कराने में निमित्त हों।

इसप्रकार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ हैं, ये सब पापरूप ही हैं। अघातिया कर्मों की १०१ प्रकृतियाँ हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। उनमें से निम्नोक्त ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ह्न

१. साता वेदनीय, २. तिर्यंचायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु, ५. उच्च गोत्र, ६. मनुष्य गति, ७. मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८. देवगति, ९. देवगत्यानुपूर्वी, १०. पंचेन्द्रिय जाति, ११-१५. पाँच प्रकार का शरीर (औदारिक, आहारक, वैक्रियक, तैजस और कार्माण), १६-२०. शरीर के पाँच प्रकार के बन्धन (औदारिक बन्धन नामकर्म, वैक्रियिक बन्धन नामकर्म, आहारक बन्धन नामकर्म, तैजस बन्धन नामकर्म और कार्माण बन्धन नामकर्म), २१-२५. पाँच प्रकार का संघात (औदारिक संघात नामकर्म, वैक्रियिक संघात नामकर्म, आहारक संघात नामकर्म, तैजस संघात नामकर्म और कार्माण संघात नामकर्म), २६-२८. तीन प्रकार का अंगोपांग (औदारिक शरीर अंगोपांग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म और आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म)।

२९-४८. वर्णादिक की बीस प्रकृतियाँ (कोमल स्पर्श नामकर्म, कठोर स्पर्श नामकर्म, गुरु स्पर्श नामकर्म, लघु स्पर्श नामकर्म, शीत स्पर्श नामकर्म, उष्ण स्पर्श नामकर्म, स्निग्ध स्पर्श नामकर्म और रूक्ष स्पर्श नामकर्म, खट्टा रस नामकर्म, मीठा रस नामकर्म, कडुआ रस

नामकर्म, कषायला रस नामकर्म, चरपरा रस नामकर्म, सुगंध नामकर्म, दुर्गंध नामकर्म, काला वर्ण नामकर्म, पीला वर्ण नामकर्म, नीला वर्ण नामकर्म, लाल वर्ण नामकर्म और सफेद वर्ण नामकर्म)।

४९. समचतुरस्रसंस्थान, ५०. वज्रवृषभनाराचसंहनन, ५१. अगुरुलघु, ५२. परघात, ५३. उच्छवास, ५४. आतप, ५५. उद्योत, ५६. प्रशस्त विहायोगति, ५७. त्रस, ५८. बादर, ५९. पर्याप्ति, ६०. प्रत्येक शरीर, ६१. स्थिर, ६२. शुभ, ६३. सुभग, ६४. सुस्वर, ६५. आदेय, ६६. यश:कीर्ति, ६७. निर्माण और ६८. तीर्थंकरत्व।

भेद विवक्षा से ये ६८ पुण्य प्रकृतियाँ हैं और अभेद विवक्षा से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं; क्योंकि वर्णादिक के १६ भेद और शरीर नामकर्म के अंतर्गत ५ बंधन तथा ५ संघात ह्न इसप्रकार कुल २६ प्रकृतियाँ घटाने से ४२ प्रकृतियाँ रहती हैं।

पाप प्रकृतियाँ १०० हैं, जो निम्नप्रकार हैं ह्न

१-४७. घातिया कर्मों की सर्व प्रकृतियाँ, ४८. नीच-गोत्र, ४९. असाता वेदनीय, ५०. नरकायु, ५१. नरकगति, ५२. नरकगत्यानुपूर्वी, ५३. तिर्यंचगति, ५४. तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, ५५-५८. एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक चार जाति (एकेन्द्रियजाति नामकर्म, द्वीन्द्रियजाति नामकर्म, त्रीन्द्रियजाति नामकर्म, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म), ५९ से ६३. पाँच संस्थान (न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, स्वातिसंस्थान नामकर्म, कुब्जकसंस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डकसंस्थान नामकर्म), ६४ से ६८. पाँच सहंनन (वज्रनाराच संहनन नामकर्म, नाराच संहनन नामकर्म, अर्द्धनाराच संहनन नामकर्म, कीलक संहनन नामकर्म और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नामकर्म)।

६९-८८. वर्णादिक २० प्रकार (कोमल स्पर्श नामकर्म, कठोर स्पर्श नामकर्म, गुरु स्पर्श नामकर्म, लघु स्पर्श नामकर्म, शीत स्पर्श नामकर्म, उष्ण स्पर्श नामकर्म, स्निग्ध स्पर्श नामकर्म और रूक्ष स्पर्श नामकर्म, खट्टा रस नामकर्म, मीठा रस नामकर्म, कडुआ रस नामकर्म,

कषायला रस नामकर्म, चरपरा रस नामकर्म, सुगंध नामकर्म, दुर्गंध नामकर्म, काला वर्ण नामकर्म, पीला वर्ण नामकर्म, नीला वर्ण नामकर्म, लाल वर्ण नामकर्म और सफेद वर्ण नामकर्म), ८९. उपघात, ९०. अप्रशस्त विहायोगति, ९१. स्थावर, ९२. सूक्ष्म, ९३. अपर्याप्ति, ९४. साधारण, ९५. अस्थिर, ९६. अशुभ, ९७. दुर्भग, ९८. दुःस्वर, ९९. अनादेय और १००. अयशःकीर्ति।

भेद विवक्षा से ये सब १०० पाप प्रकृतियाँ हैं और अभेद विवक्षा से ८४ हैं; क्योंकि वर्णादिक के १६ उपभेद घटाने से ८४ रहते हैं।

इनमें से भी सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति ह्न इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता; अतः इन दो को कम करने से भेदविवक्षा से ९८ और अभेदविवक्षा से ८२ पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है; परन्तु इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता तथा उदय होता है; इसलिए सत्ता और उदय की भेद विवक्षा से १०० तथा अभेदविवक्षा से ८४ प्रकृतियाँ होती हैं।

ये सभी पुण्य-पाप प्रकृतियाँ बंधरूप हैं। यही कारण है कि इन्हें यहाँ बंधाधिकार में रखा गया है।

पुण्य और पाप के संदर्भ में एकत्व का जो भाव; यहाँ दोनों को बंधाधिकार में रखकर व्यक्त किया गया है; उस भाव का पोषक कथन आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार में इसप्रकार प्राप्त होता है ह्न

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।७७।।

(हरिगीत)

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है ह्न जो न माने बात ये।
संसार-सागर में भ्रमें मद-मोह से आच्छन्न वे।।७७।।

इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है' ह्न ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करता है।

समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में पुण्य और पाप ह्न दोनों को बेड़ियाँ बताया गया है। पुण्य को सोने की बेड़ी और पाप को लोहे की बेड़ी कहा गया है। बेड़ी किसी भी धातु की क्यों न बनी हो, है तो बंधन ही।

इसप्रकार घातिकर्मों की ४७ और अघातिकर्मों की १०१ ह्न कुल मिलाकर आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ होती हैं।

इन १४८ प्रकृतियों में पुण्य प्रकृतियाँ ६८ और पाप प्रकृतियाँ १०० होती हैं।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि पुण्य प्रकृतियाँ ६८ और पाप प्रकृतियाँ १०० ह्न इसप्रकार तो कुल प्रकृतियाँ १६८ हो गईं; जबकि कुल प्रकृतियाँ तो १४८ ही हैं।

उत्तर ह्न आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस, दो प्रकार की गंध और पाँच प्रकार का रंग (वर्ण) ह्न ये २० प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी होती हैं और पापरूप भी। इसकारण बीस अधिक हो गई हैं।

तीर्थंकर नामकर्म जैसी पुण्य प्रकृति को बंधाधिकार में रखकर आचार्यदेव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि लौकिक दृष्टि से पुण्य कितना ही महान क्यों न हो, है तो आखिर आस्रव भाव ही, बंध भाव ही।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर प्रकृति के प्रति भी व्यामोह ठीक नहीं, उचित नहीं; क्योंकि **वह भी आस्रवभाव है, बंधभाव है। आस्रव और बंध में व्यामोह को उचित नहीं माना जा सकता।।२५-२६।।**

इसप्रकार यहाँ आठवाँ अध्याय समाप्त होता है। ●

मोक्ष माने मुक्त होना। दुःखों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनंदमय अतीन्द्रिय दशा है। अबाधित अनंत-आनन्दमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति की विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणकस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँच्छक होने के कारण ही हम सब मुमुक्षु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्माराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२-८३**

नौवाँ अध्याय
पृष्ठभूमि

अबतक आरंभ के एक अध्याय में सामान्य विवेचन और तीन अध्यायों में जीवतत्त्वार्थ, पाँचवें अध्याय में अजीवतत्त्वार्थ, छठवें-सातवें अध्याय में आस्रवतत्त्वार्थ और आठवें अध्याय में बन्धतत्त्वार्थ की चर्चा हुई। अब इस नौवें अध्याय में संवर और निर्जरातत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ हो रही है।

आस्रव और बंधतत्त्वार्थ मूलत: संसार हैं, संसार के कारण हैं और उनके अभाव (निरोध) रूप **संवर और निर्जरातत्त्वार्थ मूलत: मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) रूप तत्त्वार्थ हैं।**

आस्रव और बंध के कारणरूप भाव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग हैं। प्रकृति और प्रदेश बंध के कारणरूप योग, संसार के कारण नहीं हैं। शेष **मिथ्यात्व आदि चार भाव संसाररूप हैं, संसार के कारणरूप भाव भी हैं। इनमें मिथ्यात्व भाव अनंत संसार का कारण है;** क्योंकि इसका अभाव हुए बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं होता, धर्म का आरंभ नहीं होता। मिथ्यात्व के सद्भाव में निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय का आरंभ नहीं होता। यदि निश्चय रत्नत्रयरूप साक्षात् मोक्षमार्ग आरंभ करना है तो सबसे पहले मिथ्यात्व भाव का अभाव करना होगा, मिथ्यात्व भाव पर प्रहार करना होगा।

संवर-निर्जरातत्त्वार्थ का आरंभ भी मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही होता है।

इस दृष्टि से यह नौवाँ अध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसके एक-एक सूत्र पर ही नहीं, सूत्रों में प्राप्त एक-एक पद पर, एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है।

और यह बात कल्पनालोक की बात नहीं है; क्योंकि मैंने स्वयं ही इसके धर्म और अनुप्रेक्षा संबंधी सूत्रों को आधार बनाकर धर्म के दशलक्षण और बारह भावना अनुशीलन नामक पुस्तकें लिखी हैं। •

संवरतत्त्वार्थ

अब संवरतत्त्वार्थ की चर्चा आरंभ करते हैं ह्न

आस्रवनिरोधः संवरः ।।१।।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।।२।।

तपसा निर्जरा च ।।३।।

आस्रव के निरोधरूप भाव को संवर कहते हैं।

वह संवर; गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है।

तप से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है।

मिथ्यात्व आदि भाव, भावास्रव हैं, आस्रव के कारण हैं और उन मिथ्यात्वादि भावों का निरोध (अभाव) संवर है।

संवर दो प्रकार का होता है ह्न १. भाव संवर और २. द्रव्य संवर।

इनकी परिभाषा द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार दी गई है ह्न

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ।।३४।।

(हरिगीत)

कर्म रुकना द्रव्यसंवर और उसके हेतु जो।
शुद्धात्मा के भाव वे ही भाव संवर जानिये।।३४।।

कर्मों का आस्रव (आना) रुकना, **द्रव्यसंवर** है और जिन भावों से कर्मों का आना रुकता है, निज शुद्धात्मा के उन भावों (वीतराग परिणामों) को **भावसंवर** जानना चाहिए।

वह संवर तीन गुप्तियों को धारण करने, पाँच समितियों के पालन करने, दशधर्मों के धारण करने, बारह भावनाओं के भाने, बाईस परिषहों के जीतने और पाँच प्रकार के चारित्र से होता है।

इन सबका विवेचन आगे चलकर पृथक् से सूत्रों द्वारा होगा; इसलिए यहाँ इनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

इनका सामान्य स्वरूप इसप्रकार है ह्न

मिथ्यात्व आदि विकारी भावों से आत्मा की रक्षा करने के भाव **गुप्ति** हैं और मिथ्यात्व आदि विकारी भावों से आत्मा की रक्षा करने के भाव से यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति के भाव तथा प्रवृत्ति करना **समिति** है।

जिन्हें धारण करने से आत्मा सांसारिक दु:खों से मुक्त हो जाता है, उन उत्तम क्षमादि भावों को **धर्म** कहते हैं।

संसार, शरीर और भोगों की निस्सारता का चिन्तन, **अनुप्रेक्षा** है।

भूख-प्यास आदि कष्टों को शांत भावों से जीतना, **परीषहजय** है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक आत्मध्यान, आत्मलीनता **चारित्र** है।

उक्त संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है ह्न

''वह संवर, गुप्ति आदिक द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपाय से नहीं हो सकता। इस कथन से तीर्थयात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिर को अर्पण करना और देवता की आराधना करना आदि का निराकरण हो जाता है; क्योंकि **राग, द्वेष और मोह के निमित्त से ग्रहण किये गये कर्म का अन्यथा अभाव नहीं किया जा सकता।**[१]''

अन्तर्बाह्य संयम की उत्कृष्ट दशा ही **तप** है।

धवल में इच्छाओं के निरोध को **तप** कहा है।[२]

तप की परिभाषा आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है ह्न

''**समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तप:।**[३] ह्न समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप में प्रतपन करना, विजय प्राप्त करना **तप** है।''

तप की चर्चा पृथक् सूत्र में करने का कारण यह है कि तप से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी विशेष होती है।।१-३।।

१. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ ३२१
२. धवला पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४
३. प्रवचनसार, ७९वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका

गुप्ति और समिति

संवर के कारणों को गिनाने के उपरान्त अब यहाँ गुप्ति और समिति की चर्चा करते हैं ह्न

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति: ।।४।।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा: समितय: ।।५।।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग ह्न इन तीन योगों की स्वेच्छाचारिता का अच्छी तरह निग्रह (रोकना) गुप्ति है।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति ह्न ये पाँच समितियाँ हैं।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग ह्न इन योगों की चर्चा छठवें अध्याय के आरंभ में आस्रव के संदर्भ में विस्तार से हो चुकी है।

फिर भी उनकी चर्चा संक्षेप में इसप्रकार है ह्न

जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना, **मनोयोग** है।

जीव के उपयोग का वचन के साथ युक्त होना, **वचनयोग** है।

जीव के उपयोग का काय के साथ युक्त होना, **काययोग** है।

इसीप्रकार जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त नहीं होना, **मनोगुप्ति;** वचन के साथ युक्त नहीं होना, **वचनगुप्ति** और काय के साथ युक्त नहीं होना, **कायगुप्ति** है अथवा मनोयोग का निग्रह **मनोगुप्ति,** वचनयोग का निग्रह **वचनगुप्ति** और काययोग का निग्रह **कायगुप्ति** है।

ऐसी गुप्तियों का मुनिराजों के भी निरन्तर बने रहना संभव नहीं होता। इसलिए अत्यन्त आवश्यक प्रवृत्तियों में सावधानी पूर्वक प्रवर्तन समिति है।

चलना-फिरना, बोलना, भोजन (आहार) करना, पीछी-कमण्डलु का उठाना-रखना तथा मल-मूत्र का क्षेपण करना ह्न ये सब ऐसी आवश्यक क्रियाएँ हैं कि जिन्हें करना जीवित रहने के लिए मुनिराजों को भी अनिवार्य है।

पाँच समितियों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्न

गुप्तियों के समान समितियों में भी **सम्यक्** पद लगाना आवश्यक है।

१. सम्यक् ईर्यासमिति ह्न सूर्य का उदय हो जाने पर जब प्रकाश इतना फैल जाये कि आँखों से प्रत्येक वस्तु साफ दिखाई देने लगे; उस समय मनुष्यों के पद संचार से जो मार्ग प्रासुक हो गया हो, उस मार्ग पर चार हाथ जमीन आगे देखते हुए, सब ओर से मन को रोक कर धीरे-धीरे गमन करना, **सम्यक् ईर्यासमिति** है।

२. सम्यक् भाषासमिति ह्न हित-मित-प्रिय और सन्देह रहित वचन बोलना, **सम्यक् भाषासमिति** है।

मिथ्या वचन, निन्दापरक वचन, अप्रिय वचन, कषाय के वचन, भेद डालनेवाले वचन, निस्सार अथवा अल्प सारवाले वचन, सन्देह से भरे हुए वचन, भ्रम पैदा करनेवाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन, कठोर वचन, अधर्म परक वचन और अतिप्रशंसापरक वचन भाषासमिति के धारक साधु नहीं बोलते हैं।

३. सम्यक् एषणासमिति ह्न दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर नवधाभक्तिपूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े होकर अपने पाणिपात्र में ही ग्रहण करना, **सम्यक् एषणासमिति** है।

४. सम्यक् आदाननिक्षेपणसमिति ह्न शास्त्र, कमण्डल आदि धर्म के उपकरणों को देखभाल कर तथा पीछी से जीवों से रहित करके रखना, उठाना, **सम्यक् आदाननिक्षेपणसमिति** है।

५. सम्यक् उत्सर्गसमिति ह्न त्रस और स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुँचे, इसतरह से शुद्ध - जन्तु रहित भूमि में मल-मूत्र आदि क्षेपण करना **सम्यक् उत्सर्गसमिति** है।

इसतरह ये तीन गुप्तियाँ और पाँचों समितियाँ संवर की कारण हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि **गुप्तियाँ निवृत्तिरूप और समितियाँ**

प्रवृत्तिरूप हैं अथवा गुप्तियाँ स्व में प्रवृत्तिरूप और समितियाँ पर में अत्यन्त सावधान प्रवृत्तिरूप हैं।

गुप्ति और समिति के बारे में टोडरमलजी के विचार इसप्रकार हैं ह्न

''बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे; उसे वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मन में भक्ति आदिरूप प्रशस्तराग से नानाविकल्प होते हैं, वचन-काय की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है; वहाँ शुभप्रवृत्ति है और **प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिए वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।**

तथा परजीवों की रक्षा के अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति, उसको समिति मानता है। **सो हिंसा के परिणामों से तो पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबंध का कारण कौन ठहरेगा ?** तथा एषणासमिति में दोष टालता है, वहाँ रक्षा का प्रयोजन है नहीं; इसलिए रक्षा ही के अर्थ समिति नहीं है।

तो समिति कैसी होती है ?

मुनियों के किंचित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा **अन्य जीवों को दु:खी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार सच्ची समिति है।**[१]''

वस्तुत: बात यह है कि **निश्चय गुप्ति-समिति तो वीतरागभावरूप है, अनुभूतिस्वरूप है, शुद्धभावरूप है, शुद्धोपयोगरूप है, संवर का कारण भी वही निश्चय गुप्ति-समितिरूप शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति है।** बाह्यक्रियारूप, शुभभावरूप गुप्ति-समिति तो संवर का कारण नहीं; पुण्यबंध का कारण है।

ज्ञानी धर्मात्मा मुनिराजों के दोनों प्रकार की गुप्ति-समिति होती है।।४-५।।

१. आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८

दस धर्म

संवर के कारणों में गुप्ति और समिति के उपरान्त अब दस धर्मों की चर्चा करते हैं ह्न

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६।।

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तम-आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तम संयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तम-आकिंचन्य और उत्तमब्रह्मचर्य ह्न ये दस धर्म हैं।

यद्यपि उक्त दश धर्म चारित्रगुण की निर्मल पर्यायें हैं; तथापि प्रत्येक के साथ लगा हुआ 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता को सूचित करता है।

तात्पर्य यह है कि **ये चारित्रगुण की निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को ही प्रकट होती हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नहीं।**

अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों में पाये जानेवाले मन्दकषायरूप या शुभ, शुभतर और शुभतम लेश्यारूप क्षमादि भाव मात्र क्षमादि हैं, उत्तमक्षमादि नहीं। **ध्यान रहे, यहाँ क्षमादि की नहीं, उत्तमक्षमादिरूप दस धर्मों की चर्चा अपेक्षित है।**

यद्यपि उत्तमक्षमादि दस धर्म चौथै गुणस्थान से ही आरंभ हो जाते हैं; तथापि यहाँ ये उत्तमक्षमादि दस धर्म मुनिधर्म के प्रकरण में आये हैं; अत: अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों के अभाव में होनेवाले उत्कृष्टतम उत्तमक्षमादि दस धर्म समझना चाहिए।

मुनिराज के योग्य उत्तमक्षमादि दस धर्मों की पूर्णता तो मिथ्यात्व और सम्पूर्ण कषायों के उपशान्त या क्षय होने पर ही होती है।

अत: इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों की परिपूर्णता तो अरहंत और सिद्ध भगवान में ही हैं।

जिन मुनिराजों के संदर्भ में यहाँ इन दस धर्मों की चर्चा चल रही है; उनमें तो मात्र संज्वलन कषायें व तत्संबंधित नोकषायें ही कभी तीव्र और कभी मन्दरूप में प्रज्वलित रहती हैं; शेष कषायों का तो एक प्रकार से अभाव ही है।

आरंभ के चार धर्म तो चार कषायों के अभावरूप ही हैं। क्रोध के अभाव का नाम **क्षमा,** मान के अभाव का नाम **मार्दव,** माया के अभाव का नाम **आर्जव** और लोभ के अभाव का नाम **शौचधर्म** है।

शेष धर्म भी मिथ्यात्व और कषायों के अभावरूप (वीतरागभाव रूप) ही हैं। मुनि-अवस्था में होनेवाले उत्तमसंयम, उत्तमतप आदि धर्म भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक ही होते हैं। **सर्वोत्तम-आकिंचन्य धर्म तो चौबीस परिग्रहों के अभावरूप होने से मिथ्यात्व और पच्चीस कषायों के अभावरूप ही होता है।**

इसीप्रकार उत्तमसत्य, उत्तमत्याग और उत्तमब्रह्मचर्य की स्थिति है।

कषायों का स्वरूप पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तमक्षमादि दस धर्मों का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो लेखक की अन्य कृति **धर्म के दशलक्षण** का अध्ययन करना चाहिए।

दशधर्मों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है ह्न

१-२. उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव ह्न क्रोध गुस्से को कहते हैं।

क्रोध का एक खतरनाक रूप है वैर। यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आता है; उतना वैर में नहीं; तथापि **क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि वैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है।** झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं।

मान घमण्ड को कहते हैं। मान के भी अनेक रूप होते हैं। कुछ रूप तो ऐसे होते हैं, जिन्हें बहुत से लोग मान मानते ही नहीं। **दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है, जिसे लोग मान नहीं मानना चाहते।**

अभिमान और दीनता दोनों में अकड़ है; मार्दवधर्म की कोमलता, सहजता दोनों में ही नहीं है। मानी पीछे को झुकता है, दीन आगे को;

सीधे दोनों ही नहीं रहते। मानी ऐसे चलता है जैसे वह चौड़ा हो और बाजार सकड़ा एवं दीन ऐसे चलता है, जैसे वह भारी बोझ से दबा जा रहा हो।

सम्मान के नाम से भी मान लिया-दिया जाता है।

क्रोध और मान कषाय या उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव धर्म की परस्पर तुलना करके देखें तो कषायों में मान का दूसरा नम्बर है, क्रोध का पहिला। दश धर्मों में भी उत्तमक्षमा के बाद ही उत्तममार्दव आता है।

यद्यपि क्रोध और मान दोनों द्वेषरूप होते हैं, तथापि इनकी प्रकृति में भेद है। जब कोई हमें गाली देता है तो क्रोध आता है, पर जब प्रशंसा करता है तो मान हो जाता है। दुनिया में तो निन्दा और प्रशंसा सुनने को मिलती ही रहती है। अज्ञानी दोनों ही स्थितियों में कषाय करता है।

निन्दा शत्रु करते हैं और प्रशंसा मित्र। अत: क्रोध के निमित्त बनते हैं शत्रु और मान के निमित्त बनते हैं मित्र।

प्रतिकूलता में क्रोध और अनुकूलता में मान आता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। यही कारण है कि असफल व्यक्ति क्रोधी होता है और सफल मानी।

वीतरागी सन्त इन सब बातों से बहुत ऊपर उठ चुके होते हैं; इसलिए उनमें इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई नहीं देतीं, दिखाई नहीं देना चाहिए। उनके परिणाम तो एकदम उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव भावरूप सदा रहते हैं।

३. उत्तम-आर्जव ह्न तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप सरलता का नाम उत्तम-आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। उत्तम-आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित वीतरागी सरलता।

तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप परिणमित मुनिराजों के ऐसा

भाव कभी नहीं होता कि उनके मन में कुछ और वचन में कुछ और तथा काय (जीवन) में कुछ और।

उनकी परिणति तो कुछ इसप्रकार होती है ह्न

''दिन-रात आत्मा का चिंतन, मृदु संभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रगट हो रहा अन्तर्मन।।[१]''

४. उत्तमशौच ह्न शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। अत: सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाली तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतरागी पवित्रता ही वस्तुत: उत्तमशौचधर्म है।

आत्मा की पवित्रता, वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-मांस-हड्डी का उससे कोई संबंध नहीं।

आत्मा को अपवित्र तो मोह-राग-द्वेष ही बनाते हैं; हड्डी, खून और मांस नहीं; मल-मूत्र भी नहीं।

यद्यपि आत्मा को सभी कषायें अपवित्र करती हैं; तथापि मुख्य रूप से लोभ कषाय को शौच धर्म का विरोधी भाव माना जाता है। इस जगत में ऐसा कौनसा अधम कार्य है, जो लोभी न करता हो। यही कारण है कि **लोभ को पाप का बाप बखाना गया है।**

नारकियों में क्रोध, मनुष्यों में मान, तिर्यंचों में माया और देवों में लोभ की ही प्रधानता होती है।

५. उत्तमसत्य ह्न स्थूल झूठ नहीं बोलना, **सत्याणुव्रत** है। सूक्ष्म भी झूठ नहीं बोलना, सदा सत्य ही बोलना, **सत्यमहाव्रत** है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर, हित-मित एवं प्रियवचन बोलना, **भाषासमिति** है और बोलना ही नहीं **वचनगुप्ति** है।

उत्तम सत्यधर्म इन सबसे पृथक् होता है; क्योंकि उसे इसी शास्त्र में अणुव्रत, महाव्रत, भाषासमिति और वचनगुप्ति से अलग बताया है।

---
१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

यद्यपि सामान्यजन सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत; भाषासमिति और वचनगुप्ति को सत्यधर्म मान लेते हैं; तथापि सत्यधर्म इनसे अलग है।

ज्ञानानन्दस्वभावी, त्रैकालिक, ध्रुव, आत्मतत्त्व ही परम सत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।

६. उत्तमसंयम ह्न संयमन को संयम कहते हैं। संयमन अर्थात् उपयोग को परपदार्थ से समेट कर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना अर्थात् उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वात्मलीनता ही **निश्चयसंयम** है और पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना **व्यवहारसंयम** है।[१]

संयम के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है।

संयम दो प्रकार का होता है ह्न

१. प्राणी संयम और २. इन्द्रिय संयम।

छह काय के जीवों के घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणी संयम और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रियसंयम कहते हैं।

७. उत्तमतप ह्न समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा **स्वस्वरूप में प्रतपन करना ह्न विजयन करना, तप** है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में - अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना, **तप** है।[२]

तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। **सम्यग्दर्शन के बिना किया गया समस्त तप निरर्थक है।**

१. धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १४४
२. धवला पुस्तक १२, खण्ड ४, भाग २, सूत्र १७७, पृष्ठ ८१

कहा भी है ह्न

''सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।[१]

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप भी करे तो भी वह बोधिलाभ प्राप्त नहीं कर सकता।''

बारह तपों की चर्चा आगे आचार्यदेव स्वयं सूत्रों द्वारा विस्तार से करनेवाले हैं। अत: उनके संबंध में यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

८. उत्तमत्याग ह्न निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति, **त्याग** है।[२]

यह त्याग धर्म भी दो प्रकार का है। **आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों का त्याग करना, निश्चय त्याग धर्म है** और चार प्रकार का दान, **व्यवहार से त्याग धर्म** है।

त्याग और दान का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्म के दशलक्षण में लिखा है ह्न

''दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और स्व-उपकार का गौण; किन्तु त्याग में स्वोपकार ही सब-कुछ है।

दूसरों के उपकार के लिए मोह-राग-द्वेष नहीं त्यागे जाते हैं। यह बात अलग है कि अपने त्याग से प्रेरणा पाकर या अन्य किसी प्रकार से पर का भी उपकार हो जावे।

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का किया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, लोभ छोड़ो। **यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो।**

बहुत से लोग तो त्याग और दान को पर्यायवाची ही समझने लगे हैं; किन्तु उनका यह मानना एकदम गलत है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची

१. आचार्य कुन्दकुन्द : अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़, गाथा ५
२. आचार्य जयसेन : प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा नं. २३९

तो हैं ही नहीं, अपितु कुछ अंशों में इनका भाव परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध पाया जाता है।

दान चार प्रकार का कहा गया है ह्न १. आहारदान, २. औषधिदान, ३. ज्ञानदान और ४. अभयदान।

जब जरा उक्त चारों शब्दों में 'दान' के स्थान पर 'त्याग' शब्द का प्रयोग करके देखें तो सारी स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

क्या आहारदान और आहारत्याग एक ही चीज है ? इसीप्रकार क्या औषधिदान और औषधित्याग को एक कहा जा सकता है ?

आहारदान दीजिए और स्वयं भी खूब खाइये, कोई रोक-टोक नहीं; पर आहार का त्याग किया तो फिर खाना-पीना नहीं चलेगा।

दान एक पराधीन क्रिया है, जबकि त्याग पूर्णत: स्वाधीन। जो क्रिया दूसरों के बिना सम्पन्न न हो सके, वह धर्म नहीं हो सकती। धर्म पर के संयोग का नाम नहीं, अपितु वियोग का है।

कम से कम त्यागधर्म में तो पर के संयोग की अपेक्षा संभव नहीं है; त्याग शब्द ही वियोगवाची है। यद्यपि इसमें शुद्धपरिणति सम्मिलित है, परन्तु पर का संयोग बिल्कुल नहीं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका त्याग ही होता है, दान नहीं।

कुछ ऐसी हैं जिनका दान ही होता है, त्याग नहीं।

कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी।

जैसे ह्न राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ा जा सकता है, उनका दान नहीं दिया जा सकता।

ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते।

तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है।

दान कमाई पर प्रतिबंध नहीं लगाता, आप चाहे जितना कमाओ; पर त्याग में भले ही हम कुछ न दें, कुछ न छोड़ें; पर वह कमाई को सीमित करता है, उस पर प्रतिबंध लगाता है।

दान में यह देखा जाता है कि कितना दिया, यह नहीं देखा जाता कि उसने अपने पास कितना रखा है; जबकि त्याग में यह नहीं देखा जाता कि कितना दिया है या छोड़ा है, बल्कि यह देखा जाता है कि उसने अपने पास कितना रखा या रखने का निश्चय किया है, बाकी सबका त्याग ही है।''

त्याग एक ऐसा धर्म है, जिसे प्राप्त कर यह आत्मा अकिंचन अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म में लीन होने लगता है, हो जाता है और सारभूत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

९-१०. उत्तम-आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ह्न आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को ही निज मानना, जानना उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है और उससे भिन्न परपदार्थों एवं उनके लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले चिद्विकारों को अपना नहीं मानना, नहीं जानना और उनमें लीन नहीं होना ही **आकिंचन्य** है।

यदि स्वलीनता **ब्रह्मचर्य** है तो पर में एकत्वबुद्धि और लीनता का अभाव **आकिंचन्य** है। अत: जिसे अस्ति से **ब्रह्मचर्य धर्म** कहा जाता है, उसे ही नास्ति से **आकिंचन्य धर्म** कहा गया है।

इसप्रकार स्व-अस्ति ब्रह्मचर्य है और पर की नास्ति आकिंचन्य।

जिसप्रकार क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान; उसीप्रकार आकिंचन्य का विरोधी परिग्रह है अर्थात् **आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्यधर्म कहा जाता है।**

अत: आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी हो सकता है।

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं ह्न

१. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३. मान, ४. माया, ५. लोभ, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा (ग्लानि), १२. स्त्रीवेद, १३. पुरुषवेद और १४. नपुंसकवेद।

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के होते हैं ह्व

१. क्षेत्र (खेत, प्लाट), २. वास्तु (निर्मित भवन), ३. धन (चाँदी, सोना, जवाहरात, मुद्रा), ४. धान्य (अनाज), ५. द्विपद (मनुष्य, पक्षी), ६. चतुष्पद (पशु), ७. यान (सवारी), ८. शय्यासन, ९. कुप्य, १०. भांड (बर्तन)।[1]

परद्रव्यों से रहित, शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों में सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर; उसी में जम जाएँ, रम जाएँ और अनन्तकाल तक तद्रूप परिणमित रहकर अनन्त सुखी हों।।६।।

१. मूलाचार, प्रथम भाग, अधिकार ५, श्लोक २११;
आचारसार, वीरनंदिकृत, अधिकार ५, श्लोक ६१

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अंतर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं।

वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनंद पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है।

वह ज्ञानानन्द की दशा ऐसी होती है कि बाहर की अनन्त प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ उसे भग्न नहीं कर सकतीं। उन्हें उनकी खबर ही नहीं पड़ती। वे तो अपने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि लोक की कोई भी घटना उनके आनन्द सागर में भँवर पैदा नहीं कर सकती। उनका वह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है।

यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है, सिद्धों के आनन्द का अनंतवाँ भाग ही है; तथापि है उसी जाति का। **ह्व मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१६**

बारह अनुप्रेक्षा

संवर के कारणों में गुप्ति, समिति और दशलक्षण धर्मों की चर्चा के उपरान्त अब बारह अनुप्रेक्षाओं की चर्चा करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्व

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।।७।।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म नाम से प्रसिद्ध ह्व ये बारह अनुप्रेक्षा हैं। उक्त विषयों को आधार बनाकर बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

वैराग्यवर्धक बारह भावनाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी भी हैं।

इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्‌वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, विषय-कषायों से विरक्त एवं धर्म में अनुरक्त रखती हैं, जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में संलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं; जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन, बार-बार चिन्तन। किसी विषय की गहराई में जाने के लिए उसके स्वरूप पर बार-बार विचार करना ही चिन्तन है।

यद्यपि चिन्तन वस्तुस्वरूप के निर्णय के लिए किया जाता है; तथापि यदि विषय रुचिकर हो तो निर्णीत विषय भी बार-बार चिन्तन का आधार बनता है।

चिन्तन, ध्यान का प्रारंभिक रूप है। रुचि, ध्यान की नियामक होने से चिन्तन की भी नियामक है। जो विषय हमारी रुचि का होता है, उस पर सहज ही ध्यान जाता है, उसका चिन्तन-मनन भी सहज ही चलता है। किसी विषय को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी चिन्तन को प्रेरित करती है।

जिज्ञासा जितनी प्रबल होगी, उसी के अनुपात में चिन्तन भी गम्भीर होगा। अतः चिन्तन, शोध-खोज (रिसर्च) का आधार भी बनता है।

अनुप्रेक्षा, चिन्तनस्वरूप होने से ज्ञानात्मक है; ध्यानात्मक नहीं।

अनित्यादि विषयों का चिन्तन, जब ज्ञानरूप होता है; तब वह अनुप्रेक्षा कहलाता है और जब अनित्यादि विषयों में चित्त, एकाग्र होता है; तब धर्मध्यान नाम पाता है।

वैराग्योत्पादक तत्त्वपरक चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है। आवश्यकता मात्र चिन्तन की नहीं, वैराग्योत्पादक चिन्तन की है, तत्त्वपरक चिन्तन की है।

आरम्भ की छह भावनाएँ **वैराग्योत्पादक** और अन्त की छह भावनाएँ **तत्त्वपरक** हैं; प्रत्येक के क्रम में भी एक सहज विकास दृष्टिगोचर होता है।

संसारी जीव के मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का ही संयोग है; **इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर ही है।**

अनित्यभावना में इनकी **अनित्यता,** अशरणभावना में इनकी **अशरणता** तथा संसारभावना में इनकी **दुःखरूपता व निःसारता** का चिन्तन किया जाता है।

स्वयं में **एकत्व** और संयोगों से **भिन्नत्व** का विचार क्रमशः एकत्व और अन्यत्व भावना में होता है।

संयोगों (शरीर) की **मलिनता, अपवित्रता** का चिन्तन ही अशुचि भावना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही हैं; तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इसप्रकार है कि **संयोगों से विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अतः ये छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।**

आस्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्टरूप से तत्त्वों के नाम हैं; अतः इनका चिन्तन सहज ही **तत्त्वपरक** होता है।

बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से चिन्तन **तत्त्वपरक** ही रहता है।

लोकभावना में लोक की रचना सम्बन्धी विस्तार को गौण करके यदि उसके स्वरूप पर विचार किया जाय, तो उसका चिन्तन भी निश्चितरूप से **तत्त्वपरक** ही होगा।

बारह भावनाओं के क्रम में भेदविज्ञान का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है।

यदि आरम्भ की छह भावनाएँ परसंयोगों की अस्थिरता, पृथक्ता एवं मलिनता का सन्देश देकर अनादिकालीन परोन्मुखता समाप्त कर अन्तरोन्मुख होने के लिए प्रेरित करती हैं।

सातवीं आस्रवभावना संयोगाधीनदृष्टि से उत्पन्न होनेवाले संयोगीभावों-मिथ्यात्वादि विकारों से विरक्ति उत्पन्न करती हैं।

संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म भावनाएँ उस निज शुद्धात्मतत्त्व के प्रति समर्पित होने का मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिनके आश्रय से रत्नत्रयरूप संवरादि निर्मल पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

पुत्र-परिवार, कंचन-कामिनी एवं देह में रत जगत को इन संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरणता, असारता आदि के परिज्ञान की हेतुभूत **बारह भावनाओं की चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है।**

प्रथम भावना ह्र अनित्यभावना में यह बताया जाता है कि **जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं।**

पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहनेवाले नहीं;

या तो ये तुझे छोड़कर चल देंगे या फिर तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सब सहज ही छूट जावेंगे।

दूसरी भावना ह्न इस बात को सुनकर यह रागी प्राणी इनकी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब अशरणभावना में यह बताया जाता है कि **वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणिमंत्र-तंत्र नहीं; जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।**

तीसरी भावना ह्न तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही; तब इसे संसारभावना के माध्यम से समझाते हैं कि **संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दुःखरूप ही हैं।**

चौथी भावना ह्न तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में एकत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि दुःख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे।

पाँचवीं भावना ह्न इसी बात को नास्ति से अन्यत्वभावना में दृढ़ किया जाता है कि **कोई साथ नहीं दे सकता।** जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे?

छठवीं भावना ह्न अशुचिभावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है; **वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।**

इसप्रकार आरम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है।

इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके **भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।**

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब **आस्रवभावना में आत्मा में उत्पन्न मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं।**

सातवीं भावना ह्न यह बताते हैं कि ये आस्रवभाव दुःखरूप हैं, दुःख के कारण हैं, मलिन हैं; और **भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।**

आठवीं-नौवीं भावना ह्न इसप्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर संवर-निर्जराभावना में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं।

दसवीं-ग्यारहवीं भावना ह्न फिर लोकभावना में लोक का स्वरूप बताकर बोधिदुर्लभभावना में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है; और सब संयोग तो अनन्त बार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई; यदि हुई होती तो संसार से पार हो गये होते।

बारहवीं भावना ह्न अन्त में धर्मभावना में यह बताते हैं कि **अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति में ही है।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है।

यही कारण है कि बारह भावनाओं का चिन्तन आत्मार्थी समाज का सर्वाधिक प्रिय मानसिक दैनिक भोजन है।

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों के चित्त को वर्तमान आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ विचलित नहीं कर पाती हैं। लौकिक घटनायें उन्हें आंदोलित नहीं करतीं, वे मात्र उन्हें जानते हैं, वे उनके ज्ञान का मात्र ज्ञेय बनकर रह जाती हैं। भूमिकानुसार कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जावें तो वे उसे भी ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७-१८**

बाईस परीषह

संवर के कारणों के प्रकरण में गुप्ति, समिति, धर्म और अनुप्रेक्षा की चर्चा करने के उपरान्त अब परीषहों की चर्चा आरंभ करते हैं ह्न

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।।८।।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्या शय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार पुरस्कारप्रज्ञाज्ञानाऽदर्शनानि ।।९।।

संवर के मार्ग से च्युत न हों, इसलिए और कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को शान्तभाव से सहन करना चाहिए।

१. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंश-मशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार-पुरुस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन ह्न ये बाईस परीषह हैं।

मोक्षार्थी मुनिराज इन परीषहों को शान्त भाव से सहन करते हैं।

शान्त भाव से सहन करने का नाम ही इन्हें जीतना है। यही कारण है कि इन्हें **परीषहजय** भी कहते हैं।

(१) क्षुधा ह्न भूख की अत्यन्त पीड़ा होने पर भी धैर्य के साथ उसे सहन करना **क्षुधापरीषहजय** है।

उपवास होने पर या अन्तराय होने पर जो भूख की वेदना मुनिराजों को होती है; उससे खेदखिन्न न होकर उसे शान्तभाव से सहन करना, क्षुधापरीषहजय है।

इस परीषहजय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा गया है ह्न

अनशन ऊनोदर तप पोषत पक्षमास दिन बीत गये हैं।
जो नहिं बने योग्य भिक्षा विधि सूख अंग सब शिथिल भये हैं।।

तब तहाँ दुस्सह भूख की वेदन सहत साधु नहीं नेक नये हैं।
तिनके चरण-कमल प्रति प्रतिदिन हाथ जोड़ हम शीश नये हैं।।१।।

अनशन (उपवास), ऊनोदर (एकाशन) आदि तपों को पुष्ट करते हुए दिन, पक्ष (पन्द्रह दिन) और महीना बीत जाने पर जब आहार को निकले, तब निरन्तराय आहार की प्राप्ति नहीं हुई ह्न इसप्रकार शरीर के सभी अंग सूख गये हैं, शिथिल हो गये हैं। ऐसी स्थिति में **भूख की असहनीय वेदना होती है; उसे साधुजन शान्तभाव से सहन करते हैं,** रंचमात्र भी झुकते नहीं हैं; उन क्षुधा परीषहजयी मुनिराजों के चरणकमलों में हम प्रतिदिन हाथ जोड़ कर शीश नवाते हैं।

(२) पिपासा – प्यास की कठोर वेदना होने पर शान्तभाव से उसे सहन करना, **पिपासापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

पराधीन मुनिवर की भिक्षा परघर लेंय कहैं कछु नाहीं।
प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत बढत प्यास की त्रास तहाँ ही।।
ग्रीषमकाल पित्त अति कौपै लोचन दोय फिरे जब जाहीं।
नीर न चहैं सहैं ऐसे मुनि जयवन्ते वर्तो जगमांही।।२।।

मुनिराजों की भिक्षावृत्ति (आहार लेने की प्रक्रिया) अत्यन्त पराधीन है; क्योंकि वे अन्य के घरों में आहार लेते हैं और किसी से कुछ कहते भी नहीं हैं।

ऐसी स्थिति में प्रकृति विरुद्ध पारणा होने पर जोर की प्यास लगती है, बहुत पीड़ा होती है। गर्मियों के दिनों में पित्त (एसीडिटी) अत्यन्त भड़क जाता है; आँखों की पुतलियाँ चढ़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे **मुनिराज पानी की चाह नहीं करते, शान्तभाव से पीड़ा बरदाश्त करते हैं।** वे पिपासाजयी मुनिराज जगत में जयवन्त वर्तें।

(३) शीत ह्न सर्दी (ठण्ड) से पीड़ित होने पर उसे रोकने का उपाय तो करना ही नहीं, रोकने के उपाय करने की भावना भी नहीं होना, उक्त पीड़ा को शान्तभाव से सहन करना, **शीतपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

शीतकाल सबही तन कम्पत खड़े तहाँ वन वृक्ष डहे हैं।
झंझा वायु चलै वर्षा ऋतु वर्षत बादल झूम रहे हैं।।
तहाँ धीर तटनी तट चौपट ताल पाल पर कर्म दहे हैं।
सहैं संभाल शीत की बाधा ते मुनि तारण-तरण कहे हैं।।३।।

शीतकाल में सभी के शरीर काँपते हैं, वर्षा ऋतु में ऐसा झंझावात चलता है कि वहाँ खड़े हुए वृक्ष ढह जाते हैं, झूमते हुए बादल बरसते हैं। ऐसी स्थिति में धीर-वीर शीतपरीषहजयी मुनिराज नदियों के किनारे और तालाब की पाल पर बैठे-बैठे कर्मों को जलाते हैं, कर्मों की निर्जरा करते हैं। ऐसी **शीत की बाधा को संभाल कर सहनेवाले तारण-तरण मुनिराज शीतपरीषहजयी कहे जाते हैं।**

(४) उष्ण ह्न ग्रीष्म ऋतु आदि के कारण गर्मी की असह्य पीड़ा होने पर उससे विचलित नहीं होना, उससे बचने का कोई उपाय करने-कराने की सोचना भी नहीं, **उष्णपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

भूख प्यास पीडे उर अंतर प्रजुलै आंत देह सब दागै।
अग्नि सरूप धूप ग्रीषम की ताती वायु झालसी लागै।।
तपै पहाड़ ताप तन उपजति कौपै पित्त दाह ज्वर जागैं।
इत्यादिक गर्मी की बाधा सहैं साधु धीरज नहिं त्यागै।।४।।

अन्तर में भूख और प्यास की पीड़ा होती है, आँतें जलने लगती हैं और शरीर में दाग लग जाते हैं। गर्मियों की अग्नि के समान धूप और अत्यन्त गर्म हवायें झुलसा देती हैं। पहाड़ तप जाते हैं, शरीर में ताप उपजता है, पित्त कुपित हो जाता है और दाह ज्वर जागृत हो जाता है। इत्यादि प्रकार से **गर्मी की बाधा उष्णपरीषहजयी साधुजन सहते हैं और धीरज नहीं खोते।**

(५) दंशमशक ह्न डांस, मच्छर, मक्खी आदि कीड़े-मकोड़ों के द्वारा काटे जाने पर प्रतिकार तो करना ही नहीं, परिणामों में भी विषाद नहीं होना, **दंशमशकपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

डंस मशक मक्खी तनु काटैं पीडैं वन पक्षी बहु तेरे।
डसैं ब्याल विषहारे बिच्छू लगै खजूरे आन घनेरे।।
सिंह स्याल सुंडाल सतावैं रीछ रोझ दुख देहि घनेरे।
ऐसे कष्ट सहैं मनभावन ते मुनिराज हरो अघ मेरे।।५।।

डांस, मच्छर, मक्खी शरीर को काटते हैं, अनेक प्रकार के जंगली पक्षी पीड़ा पहुँचाते हैं। विषधारी साँप-बिच्छू डसते हैं, अनेक प्रकार के खजूरे (कीड़े) सताते हैं। सिंह, श्याल और सूँडधारी जानवर सताते हैं; रीछ, रोज आदि जानवर बहुत दु:ख देते हैं। इसप्रकार के कष्ट सहन करनेवाले दंशमशकपरीषहजयी मुनिराज हमारे अघ (पुण्य-पाप) का हरण कर लें।

(६) नाग्न्य ह्न माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक की तरह निर्विकार **नग्नरूप धारण करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करना, नाग्न्य परीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

अन्तर विषय वासना बरतै बाहर लोकलाज भय भारी।
यातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहिं सकैं दीन संसारी।।
ऐसी दुर्द्धर नगन परीषह जीतैं साधु शीलव्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी।।६।।

दीन-हीन संसारी जीव परम दिगम्बर (नग्न) मुद्रा को धारण नहीं कर सकते; क्योंकि उनके अन्तर में तो विषय-वासना वर्त रही है और बाहर लोकलाज का भयंकर भय है। ऐसे दुर्धर नग्न परीषह को शीलव्रत के धारी साधुगण जीतते हैं। वे मुनिराज निर्विकार बालक के समान निर्भय होकर रहते हैं। उन नाग्न्यपरीषहजयी मुनिराजों के चरणों में हम वन्दना करते हैं।

(७) अरति ह्न अरति उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हुए भी **संयम में अत्यन्त प्रेम होना, अरतिपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

देशकाल का कारण लहिकै होत अचैन अनेक प्रकारैं।
तब तहाँ छिन्न होत जगवासी कलमलाय थिरता पद छाडैं।।
ऐसी अरति परीषह उपजत तहाँ धीर धीरज उर धारैं।
ऐसे साधुन को उर अंतर वसो निरन्तर नाम हमारे।।७।।

देशकाल का कारण प्राप्त कर अनेक प्रकार की अचैन हो जाती है। ऐसी स्थिति में जगतवासी जन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, कलमलाकर स्थिरता छोड़ देते हैं। ऐसे अरति परीषह के उत्पन्न होने पर बड़ी ही **धीरता से धैर्य धारण किये रहनेवाले अरतिपरीषहजयी साधुजन का नाम हमारे हृदय में निरन्तर बसें।**

(८) स्त्री ह्न स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचायी जाने पर भी, अनेक प्रकार से लुभाये जाने पर भी; उनके रूप को देखने की अथवा आलिंगन करने की भावना का न होना, **स्त्री परीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

जो प्रधान केहरि को पकड़ै, पन्नग पकड़ पान से चापैं।
जिनकी तनक देख भौं बाँकी, कोटिन सूर दीनता जापैं।।
ऐसे पुरुष पहाड़ उड़ावन, प्रलय पवन तिय वेद पयापै।
धन्य-धन्य वे सूर साहसी, मन सुमेर जिनका नहिं कापैं।।८।।

जो शूरवीर प्रधान पुरुष शेर को पकड़ लें, नागराज को पकड़ कर हाथ से चाप ले; जिनकी टेड़ी भ्रकुटि थोड़ी सी देख लेने पर करोड़ों शूरवीर दीन हो जावें, दीनता से जाप जपने लगे ह्न ऐसे पुरुष, पहाड़ को उड़ाने में समर्थ हों, प्रलय ले आवे; परन्तु स्त्री के आकर्षण से उन्हें वेद अर्थात् (स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकदेवरूप नो कषायें) काम-वासना व्याप्त हो जाती है; परन्तु वे साहसी शूरवीर मुनिराज धन्य हैं कि जिनका मन कांपता नहीं है।

(९) चर्या ह्न पवन की तरह एकाकी विहार करते हुए भयानक वन में भी सिंह की तरह निर्भय रहना और नंगे पैरों में कंकर-पत्थर चुभने पर भी खेद-खिन्न न होना, **चर्यापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

चार हाथ परवान परख पथ चलत दृष्टि इत उत नहिं तानैं।
कोमल चरण कठिन धरती पर धरत धीर बाधा नहिं मानैं।।
नाग तुरंग पालकी चढते ते सर्वादि यादि नहिं आनैं।
यों मुनिराज सहैं चर्य्या दुख तब दृढ़कर्म कुलाचल भानैं।।९।।

चार हाथ प्रमाण रास्ता देखकर चलते हुए मुनिराज दृष्टि को यहाँ-वहाँ नहीं चलाते हैं। ऐसे ईर्या समिति के धारक वे धीर सन्तगण अपने कोमल चरणों को कठोर भूमि पर धरते हुए किसी प्रकार की बाधा नहीं मानते हैं। **जब वे पहले हाथी, घोड़ा और पालकी में बैठकर चलते थे, तब की याद नहीं करते।** इसप्रकार जब मुनिराज चर्या परीषह के दु:खों को बरदाश्त करते हैं, तब दृढ़ कर्मरूपी कुलाचलों को भेद देते हैं।

(१०) निषद्या ह्न जिस आसन से बैठे हों उससे विचलित न होना, **निषद्यापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

गुफा मशान शैल तरुकोटर निवसैं जहाँ शुद्ध भू हेरैं।
परिमितकाल रहैं निश्चल तन बार-बार आसन नहिं फेरैं।।
मानुष देव अचेतन पशुकृत बैठे विपति आन जब घेरैं।
ठोर न तजैं भजैं थिरता पद ते गुरु सदा बसो उर मेरे।।१०।।

गुफा, श्मशान, पर्वत, वृक्ष की कोटर ह्न जहाँ भी निवास करते हैं, जमीन को शोध कर करते हैं। वे वहाँ एक सुनिश्चित काल तक निश्चल शरीर को धारण करते हैं, बार-बार आसन को बदलते नहीं हैं। जब **अचेतन या चेतन मनुष्य, देव या पशुओं के द्वारा किये गये उपसर्ग भी घेरते हैं, तब भी स्थान नहीं बदलते, स्थिरता को धारण करते हैं। ऐसे निषद्यापरिषहजयी मुनिराज मेरे हृदय में सदा वास करें।**

११. शय्या ह्न रात्रि में ऊँची-नीची कठोर भूमि पर पूरा बदन सीधा रखकर एक करवट से सोना, **शय्यापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

जो प्रधान सोने के महलन सुन्दर सेज सोय सुख जोवैं।
ते अब अचल अंग एकासन कोमल कठिन भूमि पर सौवैं।।

पाहनखंड कठोर कांकरी गड़त कोर कायर नहिं होवैं।
ऐसी शयन परीषह जीतैं ते मुनि कर्मकालिमा धोवैं।।११।।

जो मुनिराज अपनी गृहस्थ अवस्था में सोने के महलों में सुन्दर शय्या पर सोने का सुख भोगते हैं; अब वे ही मुनिराज **मुनि–अवस्था में कोमल–कठोर भूमि पर एक आसन से अचल सोते हैं, भूमि पर पड़े रहते हैं। पत्थर के कठोर टुकड़े, कंकड़ों की कोरे गढ़ती हैं; वे उन्हें कायरता से नहीं, वीरता से सहन करते हैं।** इसप्रकार का शयन परीषह जीतनेवाले मुनिराज ही कर्मरूप कालिमा को धोते हैं।

(१२) आक्रोश ह्न अत्यन्त कठोर वचनों को सुनकर भी शान्त रहना, **आक्रोशपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

जगतजीव जावन्त चराचर सबके हित सबको सुखदानी।
तिन्हें देख दुर्वचन कहैं खल पाखंडी ठग यह अभिमानी।।
मारो याही पकड़ पापी को तपसी भेष चोर है छानी।
ऐसे वचन बाण की बेला क्षमा ढाल ओढ़ैं मुनि ज्ञानी।।१२।।

जगत के जितने चराचर जीव हैं; उन सबके हितकारी हैं और सबको सुख देनेवाले हैं ह्न ऐसे मुनिराज को देखकर दुष्ट लोग दुर्वचन कहते हैं कि यह पाखण्डी है, ठग है, अभिमानी है; **इस पापी को पकड़ कर मारो, यह तपस्वी के भेष में छुपा हुआ चोर है। ऐसे वचन बाणों को सुनते समय ज्ञानी मुनिजन क्षमा की ढाल ओढ़ लेते हैं।**

(१३) वध ह्न जैसे चन्दन को जलाने पर भी वह सुगन्ध ही देता है, वैसे ही अपने को मारने–पीटने वालों पर भी क्रोध न करके उनका भला ही विचारना, **वधपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

निरपराध निर्वैर महामुनि तिनको दुष्ट लोग मिल मारैं।
कोई खैंच खंभ से बांधै कोई पावक मैं परजारैं।।
तहाँ कोप करते न कदाचित् पूरब कर्म विपाक विचारैं।
समरथ होय सहैं वध-बन्धन ते गुरु भव-भव शरण हमारे।।१३।।

किसी से बैर–विरोध न रखनेवाले मुनियों को दुष्ट लोग मिलकर मारते हैं। कोई खींचकर खंभे से बांध देते हैं और कोई अग्नि में जलाते हैं ह्न ऐसी स्थिति में भी क्रोध नहीं करते हैं; पूर्व कर्म के उदय का विचार करते हैं। **समर्थ होने पर भी वध–बंधन को सहन करते हैं। ऐसे गुरु हमारे भव–भव में शरण होवें।**

(१४) याचना ह्न आहार वगैरह के न मिलने से भले ही प्राण चले जायें, किन्तु किसी से याचना करना तो दूर, मुँह पर दीनता भी न लाना, **याचनापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

धीर वीर तप करत तपोधन भये क्षीण सूखी गल बाँही।
अस्थि चाम अवशेष रहो तन नसाँजाल झलकैं तिसमांही।।
औषधि असन पान इत्यादिक प्राण जाउ पर जाँचत नाहीं।
दुर्द्धर अयाचीक व्रत धारैं करैं न मलिन धरम परछाहीं।।१४।।

धीर–वीर तपोधन घोर तप करते हुए अत्यन्त क्षीण (कमजोर) हो गये हैं, गला और बांहें सूख गई हैं। मात्र हड्डी–चमड़ी ही शेष रह गये हैं। तन में नसों का जाल स्पष्ट दिखाई देने लगा है। ऐसी स्थिति में भी **भोजन, पानी और औषधि इत्यादि की माँग नहीं करते। भले ही जान चली जावे पर किसी की याचना नहीं करते। दुर्द्धर अयाचीक व्रत के धारी, याचनापरीषहजयी वे मुनिराज धर्म की परछाई तक को मलिन नहीं होने देते।**

(१५) अलाभ ह्न आहारादि का लाभ न होने पर भी वैसा ही संतुष्ट रहना, जैसा लाभ होने पर ह्न यह **अलाभपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

एक बार भोजन की बेला मौन साध बस्ती में आवैं।
जो न बनै योग्य भिक्षा विधि तो महन्त मन खेद न लावैं।।
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीतैं तब तपवृद्धि भावना भावैं।
यों अलाभ की परम परीषह सहैं साधु सो ही शिव पावैं।।१५।।

भोजन के समय मौन लेकर एक बार बस्ती में आते हैं। यदि इसमें

निरन्तराय भोजन विधि न मिल पावे तो वे महान सन्त मन में खेदखिन्न नहीं होते। इसप्रकार अन्तराय होते-होते बहुत दिन बीत जावें, तब भी तपवृद्धि की भावना ही भाते हैं। इसप्रकार के अलाभपरीषहजयी साधु मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

(१६) रोग ह्न शरीर में अनेक व्याधियाँ होते हुए भी उनकी चिकित्सा का विचार भी न करना, **रोगपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

वात पित्त कफ श्रोणित चारों ये जब घटैं बढ़ैं तनु माहीं।
रोग संयोग शोक जब उपजत जगत जीव कायर हो जाहीं॥
ऐसी व्याधि वेदना दारूण सहैं सूर उपचार न चाहीं।
आतमलीन विरक्त देहसों जैनयती निज नेम निवाहीं॥१६॥

वात, पित्त, कफ और खून ह्न ये चारों जब शरीर में घट-बढ़ जाते हैं; तब रोग का संयोग होता है, शोक उत्पन्न होता है और जगत के जीव कायर हो जाते हैं। **रोगपरीषहजयी मुनिराज ऐसी दारुण व्याधि की वेदना सहते हैं; पर उपचार की भावना नहीं करते।** देह से विरक्त आत्मलीन जैन मुनिराज अपने नियमों का निर्वाह करते हैं।

(१७) तृणस्पर्श ह्न तृण, कांटे वगैरह की वेदना को सहना, **तृणस्पर्श परीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

सूखे तृण अरु तीक्षण कांटे कठिन कांकरी पांय विदारैं।
रज उड़ आन पड़े लोचन मैं तीर फांस तनु पीर विथारैं॥
तापर पर सहाय नहिं वांछत अपने करसैं काढ़ न डारैं।
यों तृण परस परीषह विजयी ते गुरु भव-भव शरण हमारैं॥१७॥

सूखे पत्ते, पैनी धारवाले काँटे और कठोर कंकड़ी पैरों को चीर देते हैं; धूल उड़कर आती है और आँखों में पड़ती है; तीररूपी फांसे शरीर को पीड़ा पहुँचाती हैं, विदीर्ण कर देती हैं। ऐसी स्थिति में भी तृणस्पर्श परीषहजयी मुनिराज दूसरों की सहायता नहीं चाहते हैं और अपने हाथ से भी उन काँटों को नहीं निकालते हैं।

इसप्रकार तृणस्पर्शपरीषहजयी मुनिराज भव-भव में हमारे शरण हैं।

(१८) मल ह्न अपने शरीर में लगे हुए मल की ओर लक्ष्य न देकर आत्मभावना में ही लीन रहना, **मलपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

यावज्जीव जलन्हौन तजो जिन नग्नरूप वनमाँहि खड़े हैं।
चलै पसेव धूप की बेला उड़तधूल सब अंग भरे हैं॥
मलिन देह को देख महामुनि मलिन भाव उर नाहिं करैं हैं।
यों मल जनित परीषह जीतैं तिनहिं हाथ हम सीस धरे हैं॥१८॥

जो मुनिराज जीवनपर्यन्त के लिए जलस्नान के त्यागी हैं, नग्नरूप में वन में खड़े हैं, धूप के समय पसीना बह रहा है, उड़ती हुई धूल से सर्वांग भरे हुए हैं; वे **मुनिराज मलिन देह को देखकर हृदय में मलिनभाव नहीं करते हैं।** इसप्रकार मलजनित परीषह को जीतनेवाले मुनिराजों को हाथ जोड़कर हम शीश नवाते हैं।

(१९) सत्कार-पुरस्कार ह्न सम्मान और अपमान में समभाव रखना और आदर-सत्कार न होने पर खेदखिन्न न होना, **सत्कारपुरस्कार परीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

जो महान विद्यानिधि विजयी, चिर तपसी गुण अतुल भरे हैं।
तिनकी विनय वचन से अथवा उठ प्रणाम जन नाहिं करे हैं॥
तो मुनि तहाँ खेद नहिं मानत, उर मलीनता भाव हरै हैं।
ऐसे परम साधु के अहनिशि हाथ जोड़ हम पाँव परे हैं॥१९॥

जो महान हैं, विद्या के खजाने हैं, वाद-विवाद में विजय पानेवाले हैं, चिरकाल के तपस्वी हैं और अनुपम गुणों से भरे हुए हैं। ऐसे सन्तों की भी **लोग उचित विनय नहीं करते, वचन से स्तुति नहीं करते, उठकर प्रणाम नहीं करते हैं; फिर भी वे मुनि खेदखिन्न नहीं होते और हृदय में मलिनभाव नहीं करते।** ऐसे महान परम साधुओं के हम दिन-रात हाथ जोड़कर पाँव पड़ते हैं।

(२०) प्रज्ञा ह्न अपने पाण्डित्य का गर्व न होना, **प्रज्ञापरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

तर्क छन्द व्याकरण कलानिधि आगम अलंकार पढ जानैं।
जाकी सुमति देख परवादी बिलखत होंय लाज उर आनैं॥
जैसे सुनत नाद केहरि का वनगयंद भाजत भय मानैं।
ऐसी महाबुद्धि के भाजन पर मुनीश मद रंच न ठानैं॥२०॥

तर्क, छन्द, व्याकरण आदि कलाओं के जो खजाने हैं, आगम और अलंकारों के भी विशेषज्ञ हैं, जिनकी सुबुद्धि को देखकर अन्य मतवाले वादीजन उसीप्रकार शर्म से गढ़ जाते हैं, बिलखते हैं; जिसप्रकार शेर की गर्जना सुनकर जंगली हाथी भी डरकर भाग जाते हैं, भय खाते हैं। इसप्रकार के महाबुद्धिमान होने पर भी वे मुनिराज अभिमान नहीं करते।

(२१) अज्ञान ह्न यदि कोई तिरस्कार करे, कहे कि तू अज्ञानी है, कुछ जानता नहीं है तो उससे भी खिन्न न होकर ज्ञान की प्राप्ति का ही बराबर प्रयत्न करते रहना, **अज्ञानपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

सावधान वर्ते निशिवासर संयमशूर परमवैरागी।
पालत गुप्ति गये दीरघ दिन सकलसंग ममता परत्यागी॥
अवधिज्ञान अथवा मनपर्यय केवलि ऋद्धि न अजहूं जागी।
यों विकल्प नहिं करैं तपोनिधि सो अज्ञान विजयी बड़भागी॥२१॥

अपनी चर्या के प्रति निरन्तर दिन-रात सावधान रहनेवाले संयम पालन करने में शूरवीर (परम वैरागी मुनिराज) को तीन गुप्तियों की साधना करते हुए बहुत दिन बीत गये हैं और वे सम्पूर्ण परिग्रह और उसके प्रति होनेवाली ममता के पूर्णत: त्यागी हैं। ऐसी स्थिति होने पर भी अभी तक न केवलज्ञान हुआ और न अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ही हुए हैं। वे मुनिराज इसप्रकार के विकल्प नहीं करते। वे भाग्यवान मुनिराज अज्ञान परीषह को जीतनेवाले हैं।

(२२) अदर्शन ह्न श्रद्धान से च्युत होने के निमित्त उपस्थित होने पर भी मुनिमार्ग में बराबर आस्था बनाये रखना, **अदर्शनपरीषहजय** है।

इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है ह्न

मैं चिरकाल घोर तप कीना अजों ऋद्धि अतिशय नहिं जागैं।
तपबल सिद्ध होत सब सुनियत सो कुछ बात झूठ सी लागै॥
यों कदापि चित्त में नहिं चिंतत समकित शुद्ध शांति रस पागैं।
सोई साधु अदर्शनविजई ताके दर्शन से अघ भागैं॥२२॥

मैंने चिरकाल तक घोर तपश्चरण किया है; पर अभी तक कोई ऋद्धि या अतिशय नहीं हुआ। कहा जाता है कि तपबल से सबकुछ सिद्ध होता है ह्न यह बात कुछ झूठी सी लगती है। ह्न इसप्रकार का चिन्तन जिन मुनिराजों के चित्त में कदापि नहीं होता; वे शुद्ध शान्तिरस में पगे हुए सम्यग्दृष्टि साधु अदर्शन परीषहजयी हैं। उनके दर्शन से पुण्य-पाप भाग जाते हैं।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि जब श्रावकगण मुनिराजों के उपसर्ग दूर करते हैं; उन्हें उनका उपसर्ग दूर करने का भाव आता है, आ सकता है तो फिर परीषहों की प्रतिकूलता दूर करने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर ह्न उपसर्ग दुष्टों द्वारा किये जाते हैं, वे तो अप्राकृतिक आपदायें हैं; अत: उन्हें दूर करने का भाव आना साधर्मी भाइयों को स्वाभाविक है; किन्तु **परीषह तो प्राकृतिक प्रतिकूलतायें हैं। उन्हें दूर करने का भाव साधर्मीजनों को नहीं आता।**

जब कोई दीक्षा लेता है तो वह अच्छी तरह जानता है कि मौसम की प्रतिकूलता तो आनेवाली ही है। जंगल में वास करेंगे तो वहाँ भी अनेकप्रकार की प्रतिकूलतायें होंगी ही।

इसीप्रकार क्षुधा-पिपासा, रोग आदि भी होंगे ही। **इन सब प्रतिकूलता में जीवन-यापन का संकल्प लेकर उन्होंने दीक्षा ली है तो फिर वे परीषहों के विरुद्ध व्यवस्था किसप्रकार चाह सकते हैं?**

जो मुनिराज सहजरूप से समागत परीषह को दूर करने का उपाय करते हैं, श्रावकों से कराते हैं और यदि कोई उनके कहे बिना ही परीषह दूर करते हैं तो उनकी अनुमोदना करते हैं; वे मुनिराज परीषहजयी मुनिराज नहीं हैं॥८-९॥

कौनसे गुणस्थान में कौन-कौनसे परीषह ?

२२ परीषहों का स्वरूप विस्तार से समझा; अब यह स्पष्ट करते हैं कि कौनसे गुणस्थान में कितने और कौन-कौनसे परीषह होते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।१०।।

एकादश जिने ।।११।।

बादरसाम्पराये सर्वे ।।१२।।

सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में और छद्मस्थ वीतराग दशा में अर्थात् ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में चौदह परीषह होते हैं या चौदह परीषह होना संभव है।

जिनेन्द्र भगवान के अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में ग्यारह परीषह होते हैं या ग्यारह परीषह होना संभव है।

बादर साम्पराय अर्थात् छठे गुणस्थान से नौवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं या सभी परीषह होना संभव है।

दशवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक हो सकने योग्य चौदह परीषह इसप्रकार हैं ह्न

१. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. चर्या, ७. शय्या, ८. वध, ९. अलाभ, १०. रोग, ११. तृणस्पर्श, १२. मल, १३. प्रज्ञा और १४. अज्ञान।

इसीप्रकार तेरहवें गुणस्थान में जिनेन्द्र भगवान के हो सकने योग्य ग्यारह परीषह इसप्रकार हैं ह्न

१. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. चर्या, ७. शय्या, ८. वध, ९. रोग, १०. तृणस्पर्श और ११. मल।।१०-१२।।

किस कर्म के सद्भाव में कौनसा परीषह ?

कौनसे गुणस्थान में कौन-कौनसे परीषह हो सकते हैं ह्न यह स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि किस कर्म के उदय से कौनसा परीषह होता है।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।१३।।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।१४।।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार पुरस्काराः ।।१५।।

वेदनीये शेषाः ।।१६।।

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

दर्शनमोह के सद्भाव में अदर्शन और अन्तराय के सद्भाव में अलाभ परीषह होता है।

चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरुस्कार परीषह होते हैं।

शेष सभी परीषह वेदनीय कर्म के सद्भाव में होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि ज्ञानावरण के सद्भाव में अज्ञान परीषह होने की बात तो ठीक; पर ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञापरीषह कैसे हो सकता है; क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप भाव का नाम है, क्षयोपशमरूप भाव के सद्भाव का नाम है।

इस प्रश्न का उत्तर सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद ने इसप्रकार दिया है ह्न

''क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद को उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर मद नहीं होता; इसलिए ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञापरीषह होता है ह्न यह कथन बन जाता है।''

इसीप्रकार का भाव तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव व्यक्त करते हैं। उनका स्पष्ट कहना है ह्न

''मैं बड़ा विद्वान हूँ ह्न यह प्रज्ञा मद मोह का कार्य न होकर ज्ञानावरण का कार्य है।[1]''

दर्शनमोह के उदय से होनेवाले अदर्शनपरीषह के संदर्भ में पण्डित फूलचंदजी द्वारा निम्नांकित विशेषार्थ विशेष देखने योग्य है ह्न

''दर्शनमोह से यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं।

सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में नाना विकल्प होना चल दोष है। जिसप्रकार जल के स्वस्थ होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरंगमाला उठा करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने स्वरूप में स्थित रहता है, तथापि **सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है। यही चल दोष है।**

मल का अर्थ मैल है। **शंकादि दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना मल दोष है।** यह भी सम्यक्त्व मोहनीय के उदय में होता है।

तथा **अगाढ़ का अर्थ स्थिर न रहना है।** सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्व से चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ ह्न 'अन्य, अन्य का कर्ता नहीं होता' ह्न यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भलीप्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह पाता। **कदाचित् वह पारमार्थिक कार्य को भी लौकिक प्रयोजन का प्रयोजक मान बैठता है।**

इसप्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से तीन दोष होते हैं। ये तीनों एक हैं फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक्रूप से परिगणित किया है।

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृष्ठ ७८२

प्रकृत में इसी दोष को ध्यान में रखकर अदर्शन परीषह का निर्देश किया है। यह दर्शनमोहनीय के उदय से होता है, इसलिए इसे दर्शन मोहनीय का कार्य कहा है।''

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न संभव है कि जब असातावेदनीय कर्म के उदय से होनेवाला क्षुधापरीषह केवली भगवान के होता है तो फिर क्षुधा के निवारणार्थ उनके कवलाहार भी होना चाहिए।

उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी विशेषार्थ में लिखते हैं ह्न

''जिन भगवान के असाता वेदनीय का उदय होता है और यह क्षुधादि वेदना का कारण है; इसलिए यहाँ जिन भगवान के कारण की दृष्टि से क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे जाते हैं। **पर क्या सचमुच में जिन भगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते हैं यह एक प्रश्न है, जिसका समाधान टीका में दो प्रकार से किया है।**

पहले तो जिन भगवान के क्षुधादि परीषहों के होने के कारण सद्भाव की अपेक्षा उनके उपचार से अस्तित्व का निर्देश किया है, पर कार्यरूप में क्षुधादि ग्यारह परीषह जिन भगवान के नहीं होते, इसलिए इस दृष्टि से 'न सन्ति' इस वाक्यशेष की योजना कर वहाँ उनका निषेध किया है।

अब यहाँ यह देखना है कि जिन भगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते, यह कैसे समझा जाय। वे इस काल में पाये तो जाते नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष देखकर तो यह जाना नहीं जा सकता। एक मात्र आगम को पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ ही शेष रहती हैं, जिनके अवलम्बन से यह बात समझी जा सकती है, अत: यहाँ उन्हीं का निर्देश करते हैं ह्न

१. केवली जिन के शरीर में निगोद और त्रस जीव नहीं रहते। उनका क्षीणमोह गुणस्थान में अभाव होकर वे परम औदारिक शरीर के धारी होते हैं। अत: **भूख, प्यास और रोगादिक का कारण नहीं रहने से उन्हें भूख, प्यास और रोगादिक की बाधा नहीं होती।**

देवों के शरीर में इन जीवों के न होने से जो विशेषता होती है, उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीर में उत्पन्न हो जाती है।

२. श्रेणी आरोहण करने पर प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा हीन होता जाता है। **इसलिए तेरहवें गुणस्थान में होनेवाला असाता प्रकृति का उदय इतना बलवान नहीं होता, जिससे उसे क्षुधादि कार्यों का सूचक माना जा सके।**

३. असाता की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है, आगे नहीं होती, इसलिए उदीरणा के अभाव में वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्य का वेदन कराने में असमर्थ है। जबकि केवली जिन के शरीर को पानी और भोजन की ही आवश्यकता नहीं रहती, तब इनके न मिलने से जो क्षुधा और तृषा होती है, वह उनके हो ही कैसे सकती है?

वेदनीय कर्म का कार्य कुछ शरीर में पानी तत्त्व और भोजन तत्त्व का अभाव करना नहीं है। वास्तव में इनका अभाव अन्य कारणों से होता है। हाँ, इनका अभाव होने पर इनकी पूर्ति के लिए जो वेदना होती है, वह वेदनीय कर्म का काम है। सो जबकि केवली जिन के शरीर को उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती, तब वेदनीय के निमित्त से तज्जनित वेदना कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

४. केवली जिन के साता का आस्रव सदाकाल होने से उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है, इसलिए जिस काल में असाता का उदय होता है, उस काल में केवल उसका ही उदय नहीं होता, किन्तु **उससे अनन्तगुणी शक्तिवाले साता के साथ वह उदय में आता है। माना कि उस समय उसका स्वमुखेन उदय है, पर वह प्रतिसमय बँधनेवाले साता कर्मपरमाणुओं की निर्जरा के साथ ही होता है, इसलिए असाता का उदय वहाँ क्षुधादि रूप वेदना का कारण नहीं हो सकता।**

५. सुख-दु:ख का वेदन वेदनीय कर्म का कार्य होने पर भी वह मोहनीय की सहायता से ही होता है। यत: केवली जिन के मोहनीय का

अभाव होता है, अत: वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओं का सद्भाव मानना, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि केवली जिन के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते।''

प्रश्न ह्न यदि केवली भगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते तो सूत्र में ऐसा क्यों कहा है कि जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीषह होते हैं?

उत्तर ह्न उक्त कथन उपचरित कथन है; जो असाता वेदनीय के उदय के कारण व्यवहारनय से किया गया है।

असाता वेदनीय के तीव्रोदय के बिना न तो ग्यारह परीषह होते हैं और न कवलाहार ही होता है।

तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का अत्यन्त मन्द उदय है; इसलिए तेरहवें गुणस्थान में क्षुधादि परीषह नहीं होते ।।१३-१६।।

एकसाथ कितने परीषह ?

किस कर्म के सद्भाव में कौनसे परीषह होते हैं ह्न यह स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह समझाते हैं कि एक जीव के एकसाथ कितने परीषह हो सकते हैं?

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशते: ।।१७।।

एक आत्मा के एकसाथ एक से लेकर उन्नीस तक परीषह हो सकते हैं।

शीत और उष्ण में कोई एक और चर्या, शय्या और निषद्या ह्न इन तीन में कोई एक ह्न इसतरह तीन परीषह कम हो जाते हैं।

प्रश्न ह्न प्रज्ञा और अज्ञान में से भी तो कोई एक ही परीषह होगा; क्योंकि जिसके प्रज्ञा होगी, उसके अज्ञान का होना संभव नहीं है।

उत्तर ह्न श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा का प्रकर्ष होने पर भी अवधिज्ञान आदि की अपेक्षा अज्ञान हो सकता है। अत: दोनों के एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है ।।१७।।

चारित्र के भेद

संवर के कारणों में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहों की चर्चा के उपरान्त अब चारित्र के भेदों की चर्चा करते हैं।

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ।।१८।।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ह्र ये पाँच, चारित्र के प्रकार हैं।

१. सामायिकचारित्र ह्र समस्त सावद्ययोग का अभेदरूप से त्याग करना, सामायिकचारित्र है।

२. छेदोपस्थापनाचारित्र ह्र सामायिकचारित्र से डिगने पर प्रायश्चित्त के द्वारा सावद्य व्यापार में लगे हुए दोषों को छेद कर पुन: संयम धारण करना, छेदोपस्थापनाचारित्र है अथवा **समस्त सावद्य योग का भेदरूप से त्याग करना, छेदोपस्थापनाचारित्र है।**

३. परिहारविशुद्धिचारित्र ह्र जिस चारित्र में प्राणीहिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है, उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं।

४. सूक्ष्मसांपरायचारित्र ह्र अत्यन्त सूक्ष्म कषाय के होने से सूक्ष्म सांपराय नाम के दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है, उसे सूक्ष्म सांपरायचारित्र कहते हैं।

५. यथाख्यातचारित्र ह्र समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है, वैसा ही स्वभाव पर्याय में प्रगट हो जाना, यथाख्यातचारित्र है।

इसप्रकार ये पाँच प्रकार चारित्र के हैं; जो नग्न दिगम्बर मुनिराजों के होते हैं। **इनसे पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति हो जाने से सहज ही सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाती है।।१८।।**

तप के भेद

चारित्र की चर्चा के उपरान्त अब तप की बात करते हैं। तप दो प्रकार के होते हैं ह्र १. बाह्य तप और २. आभ्यन्तर तप।

तप संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्र

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।।१९।।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना न्युत्तरम् ।।२०।।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ह्र ये छह प्रकार के बहिरंग तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (त्याग) और ध्यान ह्र ये छह प्रकार के अंतरंग तप हैं।

तप दो प्रकार का माना गया है ह्र १. बहिरंग और २. अंतरंग।

बहिरंग तप छह प्रकार का होता है ह्र १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्तशय्यासन और ६. कायक्लेश।

इसीप्रकार **अंतरंग तप भी छह प्रकार का होता है ह्र** १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्त्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग (त्याग) और ६. ध्यान।

इसप्रकार कुल तप बारह प्रकार के होते हैं।

उक्त समस्त तपों में ह्र चाहे वे बाह्य तप हों या अंतरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप में वीतराग भाव की वृद्धि होनी ही चाहिए ह्र तभी वह तप है, अन्यथा नहीं।

इस संदर्भ में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के विचार द्रष्टव्य हैं ह्र

''अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है; क्योंकि

अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्त्तन करके वीतरागभावरूप सत्यतप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है; कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण करेगा। बहुत क्या, **इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किए हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।**[1]''

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार **अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण है।**

अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम। ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त करे तो निश्चितरूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारंटी नहीं।

यह नकली उपवास की बात नहीं, असली उपवास की बात है। प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष, एक माह और आठ दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। **भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान हो गया।**

इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि ये तप उत्तरोत्तर आगे-आगे के महान हैं।

अंतरंग तप महान हैं; अत: उन्हें पहले कहा जाना चाहिए था; तथापि यहाँ बहिरंग तपों को पहले लिया है; क्योंकि बहिरंग तपों को संक्षेप में कहकर अंतरंग तपों को विस्तार देना था। **बहिरंग तपों के तो नाममात्र गिनाये हैं; पर अंतरंग तपों के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की है, इससे अंतरंग तपों की महिमा ध्यान में आती है।**

अरे, भाई! जिनमें स्वाध्याय और ध्यान जैसे तप हों; उनकी जितनी अधिक चर्चा की जाये, उतनी ही कम है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३३

(क) बहिरंग तप

१. अनशन ह्न लौकिक फल की अपेक्षा बिना **संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और स्वाध्याय की सिद्धि के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग करना, अनशन अर्थात् उपवास** नामक तप है।

उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रिय के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन है।

''कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवास: स विज्ञेय: शेषं लंघनकं विदु:।।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना ह्न **ज्ञान-ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है।**

२. अवमौदर्य ह्न संयम को जागृत रखने के लिए, विकारों की शान्ति के लिए, **संतोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अल्पाहार लेना, अवमौदर्य तप है।**

अनशन में भोजन का पूर्णत: त्याग होता है, पर अवमौदर्य में एक बार भोजन किया जाता है; इसकारण इसे एकाशन भी कहते हैं। यद्यपि इसमें **एक बार भोजन किया जाता है, तथापि भरपेट नहीं;** इसकारण इसे ऊनोदर भी कहते हैं।

३. वृत्तिपरिसंख्यान ह्न जब मुनिराज आहार के लिए निकलते हैं तो अनेक प्रकार के नियम लेकर निकलते हैं कि मुझे इसप्रकार आहार प्राप्त होगा, तब ही लूँगा, अन्यथा नहीं; इस प्रवृत्ति को वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

लेना, उसकी पूर्ति पर ही भोजन करना; अन्यथा उपवास करना, वृत्ति-परिसंख्यान है।

४. **रसपरित्याग ह्न** इन्द्रियों के दमन के लिए, नींद पर विजय पाने के लिए और सुखपूर्वक स्वाध्याय करने के लिए घी, दूध, दही, तेल, नमक और मीठा ह्न इनमें कोई एक या एकाधिक रस का त्याग कर देना, रसपरित्याग तप है।

षट्रसों में कोई एक, दो या छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना, रसपरित्याग है।

उपर्युक्त चारों ही तप भोजन या भोजन-त्याग से संबंधित हैं। इनमें इच्छाओं का निरोध एवं शारीरिक आवश्यकताओं के बीच कितना संतुलित नियमन है ह्न यह द्रष्टव्य है।

इनमें एक वैज्ञानिक क्रमिक विकास है। यदि चल सके तो भोजन करो ही नहीं **(अनशन)**; न चले तो एक बार दिन में शान्ति से अल्पाहार लो **(अवमौदर्य)**; वह भी अनेक नियमों के बीच में बँध कर, अनर्गल नहीं **(वृत्तिपरिसंख्यान)**; और जहाँ तक बन सके नीरस हो; क्योंकि **सरस आहार गृद्धता बढ़ाता है; पर शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला होना चाहिए, अतः सभी रसों का सदा त्याग नहीं, किन्तु बदल-बदल कर विभिन्न रसों का विभिन्न समयों पर त्याग हो, जिससे शरीर की आवश्यकता की पूर्ति भी होती रहे और जिह्वा की लोलुपता पर भी प्रतिबन्ध रहे (रसपरित्याग)।**

इससे स्पष्ट है कि तप शरीर के सुखाने का नाम नहीं, इच्छाओं के निरोध का नाम है।

५-६. **विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ह्न** निर्दोष एकान्त स्थान में प्रमादरहित सोने-बैठने की वृत्ति, विविक्त शय्यासन तथा आत्मसाधना एवं आत्माराधना में होनेवाले, शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करना, **कायक्लेश तप** है।

इनमें ध्यान रखने की बात यह है कि **काय को क्लेश देना तप नहीं है, वरन् कायक्लेश के कारण आत्माराधना में शिथिल नहीं होना, मुख्य बात है।**

(ख) अंतरंग तप

अंतरंग तपों के संदर्भ में भी पण्डित टोडरमलजी का मार्गदर्शन इसप्रकार है ह्न

“तथा अंतरंग तपों में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, त्याग (व्युत्सर्ग) और ध्यानरूप जो क्रियाएँ, उनमें बाह्य प्रवर्तन; उसे तो बाह्य तपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं, उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन अंतरंग तप नहीं हैं। **ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अंतरंग तप जानना।**[1]”

अंतरंग तपों के भेद-प्रभेद

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि **अनशनादि बहिरंग तपों के तो कोई भेद नहीं किये गये पर प्रायश्चित्त, विनय आदि अंतरंग तपों के भेद बताये गये हैं;** जो इसप्रकार हैं ह्न

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।।२१।।

ध्यान नामक तप के पहले-पहले प्रायश्चित्त के नौ भेद, विनय के चार भेद, वैयावृत्त्य के दस भेद, स्वाध्याय के पाँच भेद और व्युत्सर्ग (त्याग) के दो भेद होते हैं।

यहाँ जो अंतरंग तपों के भेद किये हैं; उनमें ध्यान तप को छोड़ दिया गया है; क्योंकि **ध्यान तप की चर्चा आगे पृथक् से विस्तार से करनेवाले हैं।**

इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए सूत्र में ही कह दिया है कि **प्राग्ध्यानात् ह्न** यह भेद ध्यान तप के पहले तक ही है।।२१।।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२

प्रायश्चित्त तप

प्रमाद व अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि के लिए आत्म-आलोचना और प्रतिक्रमणादि द्वारा प्रायश्चित्त करना, **प्रायश्चित्त तप** है।

यह प्रायश्चित्त नामक अंतरंग तप नौ प्रकार का है, जो इसप्रकार हैह्न

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद परिहारोपस्थापनाः ।।२२।।

१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार और ९. उपस्थापना ह्न ये नौ भेद प्रायश्चित्त नामक तप के हैं।

१. आलोचना ह्न गुरु से अपने प्रमाद को निवेदन करने का नाम, आलोचना नामक प्रायिश्चत्त है।

२. प्रतिक्रमण ह्न 'मेरा दोष मिथ्या हो' ह्न ऐसा निवेदन करना, प्रतिक्रमण नामक प्रायश्चित्त है।

३. तदुभय ह्न कोई अपराध तो अकेली आलोचना से शुद्ध हो जाता है और कोई अपराध केवल प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाता है; किन्तु कोई अपराध आलोचना और प्रतिक्रमण ह्न दोनों से ही शुद्ध होता है; इसे **तदुभय** नामक प्रायश्चित्त कहते हैं।

४. विवेक ह्न सदोष आहार तथा उपकरणों का संसर्ग होने पर उसका त्याग कर देना, विवेक नामक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग ह्न कुछ समय के लिए कायोत्सर्ग करना; मन, वचन, काय के प्रति ममत्व छोड़ना, व्युत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त है।

६. तप ह्न अनशनादि तपों का करना, तप नामक प्रायश्चित्त है।

७. छेद ह्न दिन, पक्ष, माह, वर्ष आदि के लिए दीक्षा का छेद कर देना, छेद नामक प्रायश्चित्त है।

८. परिहार ह्न कुछ समय के लिए संघ से निकाल देना, परिहार नामक प्रायश्चित्त है।

९. उपस्थापना ह्न पुरानी दीक्षा को छेद कर नवीन दीक्षा देना, उपस्थापना नामक प्रायश्चित्त है।।२२।।

विनय तप

प्रायश्चित्त की चर्चा के उपरान्त अब विनय तप की बात करते हैं ह्न

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ।।२३।।

ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ह्न इसप्रकार यह चार प्रकार का विनय तप है।

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है। दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचारविनय है। चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचार-विनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देव-गुरुओं की विनय उपचारविनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अतः इसका उपचार भी धर्मात्माओं में ही किया जा सकता है; लौकिकजनों में नहीं, माता-पिता आदि में भी नहीं।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नहीं है, वैनयिक मिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यन्त महान आत्मिक दशा है। सही जगह विनय होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वहीं गलत जगह की गई विनय अनन्त संसार का कारण बनती है।

विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलहकारण भावनाओं में विनयसम्पन्नता के रूप में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य और विनयमिथ्यात्व के रूप में अनन्त संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है।

विनय के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि आप जिसे विनयतप समझकर कर रहे हों, वह विनयमिथ्यात्व हो। इसका ध्यान रखिये कि **कहीं आप विनयतप या विनयसम्पन्नता भावना के नाम पर विनयमिथ्यात्व का पोषण कर अनंतसंसार तो नहीं बढ़ा रहे हैं ?।।२३।।**

वैयावृत्त्य तप

विनय तप के उपरान्त अब वैयावृत्त्य तप की बात करते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधु–मनोज्ञानाम् ।।२४।।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ह्न ये दश भेद वैयावृत्त्य नामक अंतरंग तप के हैं।

उक्त दश प्रकार के साधुओं की सेवा ही दश प्रकार के वैयावृत्त्य तप हैं।

१. जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं, वह **आचार्य** कहलाता है।

२. मोक्ष के लिए जिसके पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं, वह **उपाध्याय** कहलाता है।

३. महोपवास आदि का अनुष्ठान करनेवाला **तपस्वी** कहलाता है।

४. शिक्षाशील **शैक्ष** कहलाता है।

५. रोग आदि से क्लान्त शरीरवाला **ग्लान** कहलाता है।

६. स्थविरों की सन्तति को **गण** कहते हैं।

७. दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को **कुल** कहते हैं।

८. चार वर्ण के श्रमणों के समुदाय को **संघ** कहते हैं।

९. चिरकाल से प्रव्रजित को **साधु** कहते हैं।

१०. लोकसम्मत साधु को **मनोज्ञ** कहते हैं।

इन्हें व्याधि होने पर, परीषह के होने पर व मिथ्यात्व आदि के प्राप्त होने पर **शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्य द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्त्य तप है।**

यह समाधि की प्राप्ति, विचिकत्सा का अभाव और प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

दश प्रकार के वैयावृत्त्य तप में जिनकी सेवा की बात कहीं है; वे सभी साधु ही हैं। तात्पर्य यह है कि वैयावृत्ति मात्र साधुओं की ही की जाती है, गृहस्थों की नहीं। वैयावृत्ति एक तप है, अंतरंग तप है; इसलिए उसकी मर्यादा साधुओं तक ही है।

वैयावृत्ति के प्रसंग में जो लौकिक धारणा है, **उसके संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वैयावृत्ति करना तप है या कराना अर्थात् दूसरों के पैर दाबना तप है या दूसरों से पैर दबवाना तप है ?**

यदि पैर दाबना तप है तो फिर पैर दाबनेवाले गृहस्थ के तप हुआ, दबवानेवाले मुनिराज के नहीं; जबकि तपस्वी मुनिराज को कहा जाता है। ये बारह तप हैं भी मुनिराजों के ही।

यदि आप यह कहें कि पैर दबवाना तप है तो फिर ऐसा तप किसे स्वीकार न होगा ? दूसरे हमारी सेवा करें और सेवा करवाने से हम तपस्वी हो जावें, इससे अच्छा और क्या होगा ?

बिना विचारे हम सब पैर दबाते आ रहे हैं और मानते आ रहे हैं कि हम वैयावृत्ति कर रहे हैं, इसका फल हमें अवश्य मिलेगा। साथ ही यह भी मानते आ रहे हैं कि वैयावृत्त्य तप मुनियों के होता है।

वैयावृत्ति का अर्थ सेवा होता है ह्न यह सही है। पर सेवा का अर्थ पैर दबाना हमने लगा लिया है। वैयावृत्ति में पैर भी दबाये जाते हैं, पर पैर दबाना ही मात्र वैयावृत्ति नहीं है। सेवा स्व और पर दोनों की होती है।

वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित में लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा में है। शुद्धोपयोगरूप रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है।

यदि रोग आदि के कारण अपना या दूसरे साथी मुनिराज का चित्त स्थिरता को प्राप्त न हो पा रहा हो तो **'पैर दबाना' आदि के द्वारा उनके**

चित्त को स्थिरता प्रदान करना भी वैयावृत्ति है; किन्तु बिना किसी कारण आराम से पैर दबाते-दबवाते रहना कभी वैयावृत्ति नहीं हो सकती। और हो भी तो वह तप नहीं, अंतरंग तप तो कदापि नहीं।

यदि कोई मुनिराज भयंकर पीड़ा से कराह रहे हैं; उनका चित्त स्थिर नहीं हो पा रहा है; ऐसी स्थिति में उन्हें कोरा उपदेश देने पर उनके परिणामों में स्थिरता आना संभव नहीं है। पर यदि उनकी सेवा करते हुए उन्हें सम्बोधित किया जाय तो स्थिरता शीघ्र प्राप्त हो सकती है। एकमात्र यही कारण है जिससे शारीरिक सेवा को वैयावृत्त्य तप में स्थान प्राप्त है।

सर्वोत्कृष्ट वैयावृत्ति तो स्वयं को शिथिलता से उबार कर आत्म स्वभाव में स्थिर करना ही है। **पर को भी यदि धर्म से डिगता देखे तो उसे स्व में, धर्म में स्थिर कर देना ही वैयावृत्ति है।**

शारीरिक सेवा तो मात्र व्यवहार वैयावृत्ति है। वह भी यथासाध्य करने योग्य है, पर मूल बात तो **स्व-पर को धर्म में स्थापित करना ही वैयावृत्ति है।**

विनय और वैयावृत्त्य तप के बारे में विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये अंतरंग तप हैं, बाह्यप्रवृत्तिमात्र से इनको जोड़ना ठीक नहीं।।२४।।

> *जिस कार्य की उत्पत्ति में काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं; उसे अकालनय का विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है; उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल में कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।*
>
> *इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कार्य समय के पहले हो गया।* **ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-९४**

स्वाध्याय तप

वैयावृत्त्य तप के उपरान्त अब स्वाध्याय नामक अंतरंग तप की चर्चा करते हैं ह्न

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।।२५।।

बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ह्न ये पाँच प्रकार स्वाध्याय नामक तप के हैं।

स्वाध्याय के पाँच भेद किये गये हैं ह्न १. बाँचना, २. पृच्छना (पूछना), ३. अनुप्रेक्षा (चिंतन), ४. आम्नाय (पाठ) और ५. धर्मोपदेश।

इनमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

(१) प्रथम, तत्त्वनिरूपक आध्यात्मिक ग्रन्थों को बाँचना और **अपनी बुद्धि से जितना भी मर्म निकाल सकें, पूरी शक्ति से निकालना ह्न 'बाँचना स्वाध्याय' है।**

(२) उसके बाद भी यदि कुछ समझ में न आवे तो **समझने के उद्देश्य से किसी विशेष ज्ञानी से विनयपूर्वक पूछना ह्न 'पृच्छना स्वाध्याय' है।**

(३) जो बाँचा है, उस पर तथा **पूछने पर ज्ञानी महापुरुष से जो उत्तर प्राप्त हुआ हो, उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना, चिन्तन करना ह्न 'अनुप्रेक्षा स्वाध्याय' है।**

(४) बाँचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा के बाद **निर्णीत विषय को स्थिर धारणा के लिए बारम्बार घोखना, पाठ करना ह्न 'आम्नाय स्वाध्याय' है।**

(५) बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय (पाठ) के बाद **जब विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जावे, तब उसका दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना 'धर्मोपदेश' नाम का स्वाध्याय है।**

उक्त विवेचन से निश्चित होता है कि मात्र **बाँचना** ही स्वाध्याय नहीं, आत्महित की दृष्टि से समझने के लिए **पूछना** भी स्वाध्याय है, **चिन्तन** और **पाठ** भी स्वाध्याय है, यहाँ तक कि **यशादि के लोभ के बिना स्व-परहित की दृष्टि से किया गया धर्मोपदेश भी स्वाध्याय तप में आता है।।२५।।**

व्युत्सर्ग तप

त्याग को व्युत्सर्ग तप कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।।२६।।

बाह्य उपाधि त्याग और आभ्यन्तर उपाधि त्याग के भेद से व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का होता है।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग तप कहते हैं।

(१) आत्मा से अत्यन्त भिन्न धन-धान्यादि पदार्थों का त्याग करना, **बाह्य उपाधि त्याग नामक व्युत्सर्ग तप है।**

(२) आत्मा में ही उत्पन्न होने वाले क्रोध, मान, माया, **लोभादि भावों का त्याग करना, आभ्यन्तर उपाधि त्याग नामक व्युत्सर्ग है।**

उक्त संदर्भ में सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रंथ के विशेषार्थ में दिया गया सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है ह्न

''**यहाँ यह प्रश्न होता है कि** जबकि पाँच महाव्रतों में **परिग्रहत्याग का** उपदेश दिया है, दश धर्मों में **त्याग धर्म का** उपदेश दिया है तथा नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में **व्युत्सर्ग नाम का** प्रायश्चित्त अलग से कहा है ह्न ऐसी अवस्था में पुनः **व्युत्सर्ग तप का** अलग से कथन करना कोई मायने नहीं रखता, क्योंकि इसप्रकार **एक ही तत्त्व का पुनः-पुनः कथन करने से पुनरुक्त दोष आता है।**

समाधान यह है कि पाँच महाव्रतों में **जो परिग्रह-त्याग महाव्रत** है, उसमें गृहस्थसंबंधी उपधि के त्याग की मुख्यता है। **त्यागधर्म में आहारादि विषयक आसक्ति के कम करने की मुख्यता है,** व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में परिग्रह **त्याग, धर्म में लगनेवाले दोष के परिमार्जन की मुख्यता है** और **व्युत्सर्ग तप में वसतिका आदि बाह्य व मनोविकार तथा शरीर आदि अभ्यन्तर उपधि में आसक्ति के त्याग की मुख्यता है,** इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता।।२६।।

ध्यान तप

यह एक स्थापित सत्य है कि आजतक जो भी जीव; आत्मा से परमात्मा बने हैं, रागी से वीतरागी बने हैं, अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बने हैं, **सांसारिक सुख-दुखों से मुक्त होकर अनंत सुखी हुए हैं; वे सभी ध्यान की अवस्था में ही हुए हैं, आत्मध्यान की अवस्था में ही हुए हैं।**

'स्व' में एकाग्र होना, ध्यान तप है। भले ही पर में एकाग्र होना भी ध्यान हो, पर ध्यान तप नहीं। ध्यान तप तो समस्त 'पर' एवं विषय-विकारों से चित्त को हटाकर **एक आत्मा में स्थिर होना ही है।**

यदि शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा एक अन्तर्मुहूर्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त तपों का सार ध्यानतप है, इसकी सिद्धि के लिए ही शेष सब तप हैं।

अतः मुक्ति के मार्ग में आत्मध्यान की उपयोगिता असंदिग्ध है।

जिस ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होता है; उस ध्यान का स्वरूप मूलतः इसप्रकार है ह्न

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।२७।।

उत्तम संहननवाले के अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्र (आत्मसम्मुख) होकर चिन्ता (चिन्तवन) का निरोध ध्यान है।

उक्त सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय का २७वाँ सूत्र है और इसके बाद **४४वें सूत्र तक लगातार १८ सूत्रों में विस्तार से ध्यान की चर्चा है।**

यद्यपि वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ह्न इन तीन संहननों को उत्तम संहनन माना गया है; तथापि जिस ध्यान से अष्ट कर्मों का विनाश होता है, **मोह-राग-द्वेष का पूर्णतः अभाव होकर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है, सर्वज्ञता प्राप्त होती है; वह ध्यान तो शुक्लध्यान है और**

वह प्रथम संहनन वज्रवृषभनाराच संहननवालों के ही होता है, चौथे काल में ही होता है; अभी इस पंचमकाल में होता ही नहीं है।

उस ध्यान के आरंभ के दो पाये तो उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में होते हैं और शेष दो पाये क्रमश: तेरहवें गुणस्थान के अन्त में और चौदहवें गुणस्थान में होते हैं।।२७।।

ध्यान के भेद-प्रभेद

ध्यान का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद अब ध्यान के भेदों की चर्चा आरंभ करते हैं ह्न

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।।२८।।

परे मोक्षहेतू ।।२९।।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का होता है।

अन्त के दो ध्यान अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान, मोक्ष के कारण हैं।

उक्त चार ध्यानों में आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं और अन्त के दो ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मुक्ति के कारण हैं। इसप्रकार **यह सुनिश्चित होता है कि इस पंचमकाल में मुक्ति का हेतुभूत ध्यान तो एकमात्र धर्मध्यान ही होता है।**

इन चारों ध्यानों में प्रत्येक ध्यान के चार-चार भेद हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर ध्यान सोलह प्रकार के हो जाते हैं।।२८-२९।।

उनका चित्त चन्दन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमें दीनता नहीं रहती, वे विषय के भिखारी नहीं होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने से सच्चे लक्षपति (लखपति) होते हैं। साथ ही उनके हृदय में पूर्ण आत्मस्वभाव को प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ वीतरागियों के प्रति अनंत भक्ति का भाव रहता है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७-१८**

चार प्रकार के आर्त्तध्यान

दुख-पीड़ारूप चिन्तवन आर्तध्यान है। १. अनिष्टसंयोगज, २. इष्टवियोगज, ३. वेदनाजन्य और ४. निदानज के भेद से आर्तध्यान चार प्रकार का होता है।

उक्त चार प्रकार के आर्त्तध्यान का स्वरूप इसप्रकार है ह्न

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ।।३०।।

विपरीतं मनोज्ञस्य ।।३१।।

वेदनायाश्च ।।३२।।

निदानं च ।।३३।।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।।३४।।

१. अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर, उन्हें दूर करने के लिए होनेवाला प्रबल चिन्तवन अनिष्टसंयोगज नामक आर्तध्यान है।

२. इष्ट पदार्थों के वियोग होने पर, उन्हें प्राप्त करने के लिए होनेवाला प्रबल चिन्तवन इष्टवियोगज नामक आर्त्तध्यान है।

३. वेदना अर्थात् रोगजनित पीड़ा होने पर, उसे दूर करने के लिए होनेवाला संक्लेश परिणामरूप प्रबल चिन्तवन, वेदनाजन्य आर्त्तध्यान है।

४. भविष्यकाल संबंधी विषयों की प्राप्ति की कामना में चित्त का तल्लीन होना, निदानज आर्त्तध्यान है।

उक्त आर्तध्यान अपनी-अपनी भूमिकानुसार अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत अर्थात् पहले गुणस्थान से छठवें गुणस्थानवालों के होते हैं। ध्यान रहे छठवें गुणस्थान में निदान नामक आर्तध्यान नहीं होता, शेष तीन आर्तध्यान ही होते हैं।।३०-३४।।

चार प्रकार के रौद्रध्यान

निर्दयता/क्रूरता में होनेवाले आनन्दरूप परिणामों का नाम रौद्रध्यान है। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानंदी और परिग्रहानंदी के भेद से यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।।३५।।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के भाव से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान है; यह ध्यान अविरत और देशविरत (पहले से पाँच) गुणस्थानों में होता है।

१. हिंसक कार्यों और भावों में आनन्दित होना, उसीप्रकार के भावों में तल्लीन रहना, **हिंसानंदी रौद्रध्यान** है।

२. असत्य बोलने और बोलने के भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना, **मृषानन्दी रौद्रध्यान** है।

३. चोरी करने और चोरी संबंधी भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना, **चौर्यानन्दी रौद्रध्यान** है।

४.परिग्रह जोड़ना, जोड़ने व रक्षा करने के भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना, **परिग्रहानंदी रौद्रध्यान** है।

यह रौद्रध्यान अपनी-अपनी भूमिकानुसार पहले गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान तक होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि अज्ञानी और ज्ञानी ह्न दोनों प्रकार के गृहस्थों-श्रावकों को ये दोनों (आर्त्त-रौद्र) ध्यान होते हैं और अपनी-अपनी भूमिकानुसार लगभग निरन्तर होते रहते हैं।

उक्त दोनों ध्यानों में आर्तध्यान दुखरूप है, दुखी होनेरूप है और रौद्रध्यान आनन्दरूप है, हिंसादि पापों और रागादि भावों में आनन्दरूप परिणमित होनेरूप है।

कर्मोदय से प्राप्त होनेवाले इष्टानिष्ट संयोग भी परिग्रहनामक पाप ही हैं। **अनुकूल संयोगों में आनंदित होना भी परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।**

उक्त दोनों ध्यानों में अज्ञानियों के आर्तध्यान को तिर्यंचगति का और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण माना गया है।

इसीप्रकार जब हम ऐसे संयोगों में घिरे होते हैं; जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, जो हमें अनिष्ट लगते हैं, उन्हें दूर करने के या उनसे बचने के बारे में सोच रहे होते हैं; भले ही हम उन्हें न मारें, पर मर जावें तो अच्छा है ह्न ऐसा सोच रहे होते हैं, किसी बीमारी से कष्ट में होते हैं और उसके बारे में ही सोचते रहते हैं या फिर मैंने यह अच्छा कार्य किया है, इसके फल में **मुझे धनादि की प्राप्ति हो, पुत्रादि की प्राप्ति हो, स्वर्ग की प्राप्ति हो ह्न ऐसा सोच रहे होते हैं, तब क्या हम यह जानते हैं कि ऐसा करके हम ऐसा महापाप कर रहे हैं; जिसके फल में हमें तिर्यंचगति में जाना होगा; क्योंकि ये सब आर्तध्यान के ही रूप हैं।**

क्या आप यह भी जानते हैं कि तिर्यंच अकेले गाय-भैंस और कुत्ते-बिल्ली का ही नाम नहीं है, तिर्यंचगति में सभी प्रकार के कीड़े-मकोड़े, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति भी शामिल है। अधिक क्या कहें **निगोद भी तिर्यंचगति में ही है।**

किसी व्यक्ति या वस्तु के वियोग में दुखी होना या फिर किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति के संयोग में संकल्प-विकल्प करना, दुखी होना, शारीरिक वेदना से व्याकुल होना और भविष्य में अनुकूल संयोगों की वांछा करना ऐसे पाप हैं, ध्यान हैं; जो हमें निगोद में भी पहुँचा सकते हैं।

इसीप्रकार जब हम किसी के विनाश या विपत्ति को देखकर आनन्दित होते हैं, झूठ बोलकर आनन्दित होते हैं, इन्कमटेक्स-सेल्सटेक्स आदि की चोरी करके आनन्दित होते हैं, परिग्रह को जोड़कर आनन्दित होते हैं; तब भी क्या हम यह सोच पाते हैं कि हमारी यह वृत्ति-प्रवृत्ति रौद्रध्यान है; जो नरकगति का कारण है।

भले ही हमने किसी को न मारा हो, मरनेवाला आंतकवादी भी क्यों न हो, पर उसकी मौत के समाचार सुनकर आनन्दित होना, हिंसानन्दी रौद्रध्यान है।

इसीप्रकार हमने झूठ न बोला हो, चोरी नहीं की हो, पैसा भी न्यायपूर्वक ही क्यों न कमाया हो; तब भी यदि हम उक्त कार्यों को देखकर, जानकर, उक्त संयोगों को पाकर आनन्दित होते हैं तो हमारे वे आनन्दरूप परिणाम क्रमशः मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान हैं; **जो हमें सीधे नरक में ले जा सकते हैं।**

हम घर के एकान्त में बैठे-बैठे टी.वी. देख रहे हैं। उसमें खलनायक की पिटाई देखकर खिल-खिलाकर हँस पड़ते हैं; किसी झूठ पर हँस पड़ते हैं, **चोरी देखकर या शेयरों के भाव चढते देखकर प्रमुदित हो उठते हैं; तब क्या आपको ऐसा लगता है कि हम कोई पाप कर रहे हैं?**

आप तो यही सोचते हैं कि हम एकदम शान्त बैठे हैं, किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर रहे हैं; किन्तु आपको पता होना चाहिये कि आप रौद्रध्यान कर रहे हैं; जो आपको नरक में ले जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा दिल तो बहुत कमजोर है, जब कोई भावुक दृश्य आता है तो हमारी आंखों में आंसू आ जाते हैं। हिंसादि के दृश्य तो हमसे देखे भी नहीं जाते। वे ऐसा मानते हैं कि हम तो बहुत धर्मात्मा हैं, पर भाईसाहब ! आपका यह रोना-धोना आर्तध्यान है, जो आपको न केवल पशुगति में ले जा सकता है, निगोद का कारण भी बन सकता है।

यद्यपि जिनागम का अध्ययन-अध्यापन स्वाध्याय नामक तप है; आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है; तथापि हम जब पुराण पढ रहे होते हैं, **प्रथमानुयोग का स्वाध्याय कर रहे होते हैं; तब जिन्हें हम इष्ट समझते हैं, उन्हें होनेवाली प्रतिकूलताओं में दुखी होना भी आर्तध्यान ही तो है।**

इसीप्रकार जो विषय हमें ठीक नहीं लगते, उनके वध-बंधन में

प्रमुदित होना भी तो हिंसानंदी रौद्रध्यान ही है। **रावण या दुर्योधन के वध में आनन्दित होना भी तो रौद्रध्यान का ही एक रूप है।**

जो प्रथमानुयोग के शास्त्र वैराग्य के निमित्त हैं; हम अपने अज्ञान से उन्हें पढकर भी आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणमित होते हैं।

आप कह सकते हैं कि इसप्रकार तो देव-शास्त्र-गुरु के वियोग में दुखी होना भी आर्तध्यान में आयेगा ?

यह तो आप जानते ही हैं कि ये इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगज जैसे आर्तध्यान छठवें गुणस्थान तक नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनिराजों को भी होते हैं। उनके तो तीर्थंकरों के वियोग, अपने गुरुओं के वियोग, शिष्यों के वियोग में होनेवाले दु:खी परिणाम ही आर्तध्यानरूप होंगे; क्योंकि अन्य कोई तो उन्हें इष्ट होता ही नहीं है।

प्रश्न ह्न क्या मुनि का यह आर्तध्यान भी तिर्यंचगति का कारण होगा?

उत्तर ह्न नहीं, कदापि नहीं। यह तो हम पहले लिख चुके हैं कि **अज्ञानियों के आर्त-रौद्रध्यान क्रमशः तिर्यंच व नरकगति के कारण हैं; ज्ञानियों के नहीं। यह तो जिनागम में स्पष्ट ही है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव नरक व तिर्यंच गति में नहीं जाते।**

जब ध्यान से लाभ की बात आयेगी तो यही कहा जायेगा कि इससे रक्तचाप ठीक हो जाता है, मधुमेह में लाभ होता है, नाड़ी संस्थान भी स्वस्थ हो जाता है आदि न जाने कितने लाभ गिनाये जायेंगे; कहा जायेगा, करके तो देखिये छह माह में आपका कायापलट हो जायेगा, आप घोड़े जैसे दौड़ने लगेंगे।

जैनधर्म में जिस ध्यान के गीत गाये गये हैं, उसका फल काया से मुक्त होना है या कायापलट करना है?

अरे भाई ! मृत्यु होने पर काया तो बदल ही जाती है, असली कायापलट तो हो ही जाता है। घोड़े से दौड़कर क्या आदमी से घोड़ा बनना है ? जरा, सोचो तो सही।।३५।।

धर्मध्यान

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयायधर्म्यम् ।।३६।।

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के संदर्भ में चिन्तवन करना धर्मध्यान है।

धर्म सहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। धर्म माने वस्तु का स्वभाव और ध्यान माने एकाग्रता, वस्तुस्वभाव के ओर की एकाग्रता ही धर्मध्यान है। यह धर्मध्यान भी चार प्रकार का है ह्न

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

१. आज्ञाविचय ह्न आगम की आज्ञा के अनुसार श्रद्धापूर्वक गहन विचार करना, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। बहुत से विषय ऐसे हैं; जिन्हें सीधे जानना संभव नहीं है। जैसे जमीकंद में अनंत जीव हैं ह्न इस बात का निर्णय जिनागम के आधार से ही हो सकता है; क्योंकि वे जीव इतने सूक्ष्म है कि उन्हें इन्द्रियप्रत्यक्ष से जानना संभव नहीं है।

२. अपायविचय ह्न मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र संसार के कारण होने से मुक्तिमार्ग के अपाय (विरोधी/बाधक) हैं, अज्ञानी जीव इस अपाय से कैसे बचें ह्न इस बात का प्रबल चिन्तन **अपायविचय** नामक धर्मध्यान है।

इस धर्मध्यान का दूसरा नाम **उपायविचय** भी है; क्योंकि इसमें **मुक्ति प्राप्त करने के उपाय का भी गंभीर चिन्तन होता है, मुक्ति के उपाय रूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का विचार होता है।** उक्त मिथ्यात्वादि तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के संदर्भ में किया गया गहन तत्त्वविचार ही **अपायविचय या उपायविचय नामक धर्मध्यान है।**

३. विपाकविचय ह्न कर्मों के विपाक के संदर्भ में विचार करना **विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। कौन से कर्म का विपाक या उदय कब होता है, उसका क्या फल है आदि सम्पूर्ण कर्मविषयक गहरा चिन्तन** इस विपाकविचय नामक धर्मध्यान में आता है।

४. संस्थानविचय ह्न जिनागम में प्रतिपादित लोक का क्या आकार है ? ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक की रचना आदि जैनधर्म संबंधी भूगोल का विचार, **संस्थानविचय नामक धर्मध्यान** है।

जिनागम के आधार पर प्राप्त जानकारी के अनुसार उक्त सभीप्रकार के चिन्तन विकल्पात्मक होने से व्यवहार धर्मध्यान है। **निश्चय धर्मध्यान तो देशनालब्धिपूर्वक जाने हुए निज भगवान आत्मा का अवलोकन करना, जानना और उसी में उपयोग को एकाग्र करना है।**

विशेष विचार करने की बात यह है कि शुक्लध्यान पंचमकाल में किसी को भी तथा गृहस्थों को चौथे काल में भी नहीं होता और आर्तध्यान व रौद्रध्यान करने योग्य नहीं हैं। **अब बचा मात्र धर्मध्यान, जो इस पंचमकाल में ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी संभव है;** मिथ्यादृष्टियों को धर्मध्यान नहीं होता।

आज जब भी ध्यान की चर्चा चलती है, तब उक्त आज्ञाविचय आदि चार प्रकार के धर्मध्यानों की तो बात ही नहीं होती तथा यह धर्मध्यान सम्यग्दृष्टियों को ही होता है ह्न इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

उक्त चारों प्रकार के धर्मध्यानों की विषयवस्तु की ओर ध्यान दें तो एक बात स्पष्ट होती है कि **जिनागम के अध्ययन बिना धर्मध्यान संभव ही नहीं है; क्योंकि जिनाज्ञा जाने बिना आज्ञाविचय धर्मध्यान कैसे होगा?**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मुक्तिमार्ग को समझे बिना अपायविचय धर्मध्यान संभव नहीं है।

इसीप्रकार जिसमें कर्मसिद्धान्त और त्रिलोक की रचना का निरूपण है, उस करणानुयोग के ग्रन्थों के अभ्यास बिना विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यान कैसे होंगे ?

क्या ध्यान का अभ्यास करानेवाले जिनागम की उक्त विषयवस्तु से परिचित हैं? यदि हैं तो भी क्या वे ध्यानार्थियों को उक्त विषयों का अध्ययन कराते हैं ? नहीं तो फिर यह कैसा धर्मध्यान है ? ।।३६।।

शुक्लध्यान

अब अन्त में शुक्लध्यान की चर्चा प्रसंग प्राप्त है। अत: अब सबसे पहले यह बताते हैं कि शुक्लध्यान होता किन्हें है अर्थात् शुक्लध्यान के स्वामी कौन हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।३७।।

परे केवलिनः ।।३८।।

आदि के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के होते हैं।

'च' शब्द से धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि श्रुत केवलियों को धर्मध्यान भी होता है।

अन्त के दो शुक्लध्यान क्रमश: सयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं।

श्रेणी पर चढ़ने के पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रमश: आरंभ के दोनों शुक्लध्यान होते हैं।

केवली और श्रुतकेवलियों को होनेवाला शुक्लध्यान पूर्णत: शुद्धोपयोगरूप ही होता है।

यह तो सब जानते ही हैं कि कर्मों की निर्जरा अर्थात् आत्मा में होने वाली **शुद्धि की वृद्धि का मूल कारण शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति है।**

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि छठवाँ गुणस्थान मुख्यरूप से शुभोपयोग का ही है। वहाँ असंख्यगुणी निर्जरा होती है, वह शुभोपयोगी के ही होती होगी; क्योंकि वहाँ शुद्धोपयोग तो है ही नहीं ?

ऐसा नहीं है। छठवें गुणस्थान में होनेवाली असंख्यगुणी निर्जरा का कारण वहाँ विद्यमान शुभोपयोग नहीं, अपितु **वहाँ विद्यमान तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति है।।३७-३८।।**

शुक्लध्यान के प्रकार

शुक्ल ध्यान कुल चार प्रकार के होते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया निवर्तीनि ।।३९।।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ह्न ये चार भेद शुक्लध्यान के हैं।

अब शुक्लध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ।।४०।।

पहला शुक्लध्यान तीनों योगों में होता है, दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगों में से किसी एक योग में होता है, तीसरा शुक्लध्यान काययोगवालों के होता है और चौथा शुक्लध्यान अयोग केवलियों के होता है।

विशेष कथन

अब आरंभ के दो ध्यानों के संदर्भ में कुछ विशेष समझाते हैं। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।।४१।।

अवीचारं द्वितीयम् ।।४२।।

वितर्कः श्रुतम् ।।४३।।

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोग संक्रान्तिः ।।४४।।

आरंभ के दो शुक्लध्यान पूर्ण श्रुतकेवली के ही होते हैं; इसलिए दोनों का आश्रय एक ही है।

आरंभ के दोनों ही शुक्लध्यान वितर्क सहित और वीचार सहित होते हैं। पर दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित होता है।

तात्पर्य यह है कि पहला शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार ह्न दोनों से सहित होता है, परन्तु दूसरा शुक्लध्यान वितर्क से सहित और वीचार से रहित होता है।

श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। विशेषरूप से तर्क अर्थात् विचार करने को वितर्क कहते हैं।

अर्थसंक्रान्ति, व्यंजनसंक्रान्ति और योगसंक्रान्ति को वीचार कहते हैं। यह वीचार मात्र प्रथम शुक्लध्यान में होता है।

ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय को बदलना **अर्थसंक्रान्ति** है।

एक श्रुतवचन का आलंबन लेकर दूसरे श्रुत वचन का आलम्बन लेना, फिर उसे भी त्याग कर अन्य वचन का आलम्बन लेना, **व्यंजन संक्रान्ति** है।

काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करना और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करना, **योगसंक्रान्ति** है।

इसप्रकार के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

यह वीचार पृथक्त्व वितर्क नामक प्रथम शुक्लध्यान में होता है।

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो ! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है; इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वयं अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरंजन हो जाओगे।

ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ–७१

असंख्यातगुणी निर्जरा

अब आगामी सूत्र में यह स्पष्ट करते हैं कि किसके कितनी निर्जरा होती है। तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ।।४५।।

सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, छठवें–सातवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराज, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करनेवाले, दर्शनमोह का क्षय करनेवाले, चारित्रमोह का उपशम करनेवाले, उपशान्तमोह अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवाले, क्षपकश्रेणी चढ़नेवाले, क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानवाले और जिनेन्द्र भगवान के परिणामों की विशुद्धता अधिक–अधिक होने से प्रतिसमय क्रमशः असंख्यातगुणी–असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को तो अविरत सम्यग्दृष्टि से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है; पर सम्यग्दृष्टि को किससे असंख्यातगुणी निर्जरा समझें ?

उत्तर ह्न सातिशय मिथ्यादृष्टि के अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में होनेवाले अतिविशुद्ध परिणामों से आयुकर्म के बिना सात कर्मों की जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है; उससे असंयत सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है[१]।।४५।।

१. पण्डित सदासुखदासजी : अर्थप्रकाशिका, अध्याय ९, सूत्र ४५

भाई ! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी।

ह्न गागर में सागर, पृष्ठ–७९

निर्ग्रन्थ मुनियों के प्रकार

निर्ग्रन्थ मुनिराजों के प्रकार और उनका स्वरूप बतानेवाला सूत्र इसप्रकार है ह्न

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।४६।।

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ह्न ये पाँच प्रकार निर्ग्रन्थ मुनिराज के होते हैं।

१. जिन मुनिराजों के उत्तरगुणों की तो भावना भी न हो और मूलगुणों में भी कभी-कभी दोष लग जाते हैं; उन मुनिराजों को **पुलाक मुनिराज** कहते हैं।

२. जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने को सदा तत्पर हों और मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हों; किन्तु शरीर, पीछी वगैरह उपकरणों से मोह हो; उन मुनिराजों को **बकुश मुनिराज** कहते हैं।

३. **कुशील साधु** दो प्रकार के होते हैं ह्न

I. प्रतिसेवना कुशील और II. कषाय कुशील।

I. जिनके मुलगुण और उत्तरगुण ह्न दोनों ही पूर्ण हों, पर उत्तरगुणों में कभी-कभी दोष लग जाता हो; उन **मुनिराजों को प्रतिसेवना कुशील** कहते हैं।

II. जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश में कर लिया है; पर संज्वलन कषाय के उदय को वश में न कर पाया हो; वे **कषाय कुशील मुनिराज** हैं।

४. जिनके मोहनीय कर्म का तो उदय ही नहीं है और शेष घाति कर्मों का उदय भी जल में खींची गई रेखा के समान है तथा अन्तर्मुहूर्त बाद ही केवलज्ञान होनेवाला है; वे **मुनिराज निर्ग्रन्थ** हैं।

५. जिनके घातिकर्म नष्ट हो गया है; वे **स्नातक मुनिराज** हैं।

ये पाँचों ही बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी और सम्यग्दृष्टि होते हैं; इसलिए सभी को निर्ग्रन्थ कहते हैं।।४६।।

मुनिराजों की विशेषता

उक्त मुनिराजों में निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर विशेषतायें होती हैं अर्थात् अन्तर होता है।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ।।४७।।

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से पुलाक आदि मुनिराजों में भेद होता है।

१. संयम ह्न पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि के **सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है।**

कषाय कुशील मुनि के **सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है।**

निर्ग्रन्थ और स्नातक के **एक यथाख्यात संयम ही होता है।**

२. श्रुत ह्न पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि **अधिक से अधिक पूरे दस पूर्व के ज्ञाता होते हैं।**

कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ मुनिराज **चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं।**

पुलाक मुनि कम से कम **आचारांग के ज्ञाता होते हैं।**

बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ **पाँच समिति और तीन गुप्तियों के ज्ञाता होते हैं।**

स्नातक तो **केवलज्ञानी होते हैं,** उनके श्रुताभ्यास का प्रश्न ही नहीं है।

३. प्रतिसेवना ह्न प्रतिसेवना का मतलब व्रतों में दोष लगाना है। पुलाक मुनि पाँच महाव्रतों में तथा रात्रि में भोजन त्याग व्रत में से किसी एक में परवश होकर कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं।

बकुश मुनि के दो भेद हैं ह्न उपकरण-बकुश और शरीर-बकुश। उपकरण बकुश मुनि को सुन्दर उपकरणों में आसक्ति रहने से विराधना

होती है और शरीर–बकुश मुनि की अपने शरीर में आसक्ति होने से विराधना होती है।

प्रतिसेवना–कुशील मुनि उत्तर गुणों में कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं।

कषाय–कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नहीं होती; क्योंकि त्यागी हुई वस्तु का सेवन करने से प्रतिसेवना होती है; सो ये करते नहीं हैं।

४. **तीर्थ ह्न** तीर्थ यानी सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ पाये जाते हैं।

५. **लिंग ह्न** लिंग के दो भेद हैं ह्न द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा तो पाँचों ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं; क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी होते हैं। **द्रव्यलिंग की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातक के पीछी कमण्डलु उपकरण नहीं होते, शेष के होते हैं।** अत: द्रव्यलिंग में थोड़ा अन्तर पड़ जाता है।

६. **लेश्या ह्न** पुलाक के **तीन शुभ लेश्याएँ** ही होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के **छह लेश्याएँ** होती हैं; क्योंकि उपकरणों में आसक्ति होने से कभी अशुभ लेश्याएँ भी हो सकती हैं। कषाय कुशील के कृष्ण और नील के सिवा बाकी की **चार लेश्याएँ** होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के **एक शुक्ल लेश्या** ही होती है। अयोग केवली के **लेश्या नहीं होती।**

७. **उपपाद ह्न** पुलाक मुनि अधिक से अधिक **सहस्रार स्वर्ग** में उत्कृष्ट स्थिति के धारक देव होते हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागर की स्थितिवाले **आरण और अच्युत स्वर्ग में** उत्पन्न होते हैं। कषाय कुशील और ग्यारहवें गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ तैंतीस सागर की स्थितिवाले **सर्वार्थसिद्धि विमान में** उत्पन्न होते हैं।

इन सबकी उत्पत्ति कम से कम सौधर्म कल्प में होती है और स्नातक तो मोक्ष जाता है।

८. **स्थान ह्न** इसीतरह संयम के स्थानों की अपेक्षा भी इनमें अन्तर होता है।।४७।।

इसप्रकार यहाँ नौवाँ अध्याय समाप्त होता है। ●

दशवाँ अध्याय

पृष्ठभूमि

इस तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ में तत्त्वार्थों के प्रतिपादन का संकल्प किया गया था। अबतक प्रथम अध्याय में **भूमिका** के रूप में सामान्य कथन करने के उपरान्त **दूसरे से चौथे अध्याय तक जीव तत्त्वार्थ का, पाँचवें अध्याय में अजीव, छठवें व सातवें अध्याय में आस्रव, आठवें अध्याय में बंध** तथा **नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्वार्थ का** व्याख्यान किया। अब इस **दशवें अध्याय में मोक्ष तत्त्वार्थ का विवेचन प्रसंग प्राप्त है।**

दूसरी अपेक्षा से देखें तो इस शास्त्र का दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है; क्योंकि इसमें मोक्षमार्ग और मोक्षतत्त्वार्थ का निरूपण है।

मोक्षमार्ग के प्रतिपादन से आरंभ हुआ यह ग्रन्थ अब मोक्ष के प्रतिपादन के साथ समापन की ओर है।

मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करने वाले इस अध्याय में सर्वप्रथम चार घातिया कर्मों से मुक्त होने पर प्राप्त होनेवाले केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताया जायेगा।

केवलज्ञान का स्वरूप प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है।

केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता। सर्वज्ञता जैनदर्शन का मूलाधार है। **सर्वज्ञता के स्वरूप को समझे बिना जैनदर्शन को नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि जैनन्याय का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए समर्पित है।** ●

पर के कल्याण के विकल्प में अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ–८८

केवलज्ञान प्राप्ति का उपाय

मुक्ति की प्राप्ति के लिए केवलज्ञान का प्राप्त होना, अत्यन्त आवश्यक है; अतः सर्वप्रथम उसी की बात करते हैं।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार है ह्न

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम् ।।१।।

मोहनीय कर्म के क्षय से; तदुपरान्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के एकसाथ क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

मोहक्षयात् ह्न पद अलग से लिखने का कारण यह है कि पहले मोहनीय कर्म का क्षय करके अर्थात् पूर्ण वीतरागता प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त्त तक क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान में रहकर फिर उस बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक साथ नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया जाता है।

यद्यपि केवलज्ञान चार घातिया कर्मों के क्षय से होता है; तथापि उनके क्षय में क्रम पड़ता है। वह क्रम बताने के लिये सूत्र का इसप्रकार से गठन किया गया है।

उक्त वाक्य के गठन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है और उसके अन्तर्मुहूर्त्त बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि पहले पूर्ण वीतरागता प्राप्त होती है, फिर सर्वज्ञता। परिपूर्ण वीतरागता के बिना सर्वज्ञता का होना संभव नहीं है।

मोहनीय कर्म के क्षय के बिना ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय हो ही नहीं सकता।

एकमात्र मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व और चारित्रमोह अर्थात् क्रोधादि सोलह कषायें और हास्यादि नौ नोकषायें ही आगामी कर्मबंध के मूल कारण हैं। यही कारण है कि मोहक्षयाद् पद सर्वप्रथम पृथक् से दिया गया है।।१।।

मोक्ष का स्वरूप एवं हेतु

केवलज्ञान का स्वरूप एवं उत्पत्ति का हेतु बताने के उपरान्त अब मोक्ष का स्वरूप व हेतु समझाते हैं।

सूत्र मूलतः इसप्रकार हैं ह्न

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।।२।।

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ।।३।।

बंध के कारणों का अभाव अर्थात् संवर और निर्जरा से समस्त कर्मों का पूर्णतः अभाव हो जाना ही मोक्ष है।

जीव के औपशमिकादि भाव तथा भव्यत्व भाव के अभाव से मोक्ष होता है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के अभाव हो जाने से नये कर्मों का बंध रुक जाता है और ध्यानादि अंतरंग तपों के योग से पुराने कर्मों की निर्जरा हो जाती है; इसकारण आत्मा सम्पूर्ण कर्म बंधनों से मुक्त हो जाता है; इसी का नाम मोक्ष है।

यह तो द्रव्यकर्मों से मुक्ति की बात हुई; अब रही भावमुक्ति की बात; सो **मोक्ष होने पर औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और औदयिक भाव तो पूरे नष्ट हो जाते हैं। पारिणामिक भावों में अभव्यत्व भाव तो भव्यजीवों के होता नहीं और जीवत्व भाव मुक्त अवस्था में भी रहता है। अतः मुक्ति हो जाने पर मात्र भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है।**

इसप्रकार मुक्त जीव अष्टकर्मों और औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिक भावों एवं भव्यत्व पारिणामिक भावों के अभावरूप परिणमित होते हैं। मुक्त जीव के मात्र जीवत्व पारिणामिक भाव और क्षायिक भाव होते हैं।।२-३।।

मुक्त जीव में होनेवाले भाव

सिद्ध जीवों में विद्यमान भावों संबंधी सूत्र इसप्रकार है।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।।४।।

मुक्तजीव के क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व ह्न इन भावों को छोड़कर अन्य भावों का अभाव हो जाता है।

प्रश्न ह्न क्या सिद्ध जीव अनन्त सुखी भी नहीं हैं?

उत्तर ह्न ज्ञान-दर्शन के अविनाभावी होने से अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि भाव भी उनके होते ही हैं।

सिद्धों का आकार अन्तिम देह से किंचित् न्यून होता है। अन्तिम देह का जो आकार होता है, देह से मुक्त हो जाने पर उसमें रहनेवाले पोलेपन के समाप्त हो जाने से उनके प्रदेशों का आकार किंचित् न्यून अन्तिम देहप्रमाण रह जाता है।

अब इसके कारण वे सिद्ध भगवान अनन्त काल तक इसी आकार में रहेंगे; क्योंकि अब आकार परिवर्तन का कोई कारण नहीं रहा।

अनादिकाल से अबतक आकार परिवर्तन का कारण नामकर्म था। नामकर्म के उदय से ही संसार अवस्था में जीव का आकार बदलता था। अब उसका अभाव हो जाने से आकार बदलने का कोई कारण नहीं रहा।।४।।

केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में, लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६४**

सिद्ध जीवों की गति का नियम

अब यह बताते हैं कि मुक्त हो जाने पर जीवों की गति और स्थिति किसप्रकार होती है।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्न

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यलोकान्तात् ।।५।।

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।।६।।

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीज वदग्निशिखावच्च ।।७।।

धर्मास्तिकायाभावात्।।८।।

तदनन्तर मुक्त जीव लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

पूर्व प्रयोग से , संग का अभाव होने से, बन्धन के टूटने से और ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्व गमन करता है।

वह मुक्त जीव घुमाये गये कुम्हार के चक्र के समान, लेप से मुक्त तूमड़ी के समान, एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान ऊर्ध्वगमन करता है।

वह मुक्त जीव धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता।

उक्त चारों सूत्रों का संक्षिप्त सार इसप्रकार है ह्न

(१) जिसप्रकार कुम्हार के हाथ से चक्र को घुमाना रुक जाने पर भी पूर्व संस्कारवश चक्र सहज ही घूमता रहता है; उसीप्रकार संसारी जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो प्रयास किया करता है; उस प्रयास के रुक जाने पर भी मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन होता है।

(२) जिसप्रकार मिट्टी के लेप से तूमड़ी में समागत भारीपन जल के संयोग से शिथिल हो जाता है, इससे वह तूमड़ी शीघ्र ही ऊपर आ

जाती है; उसीप्रकार कर्मभार से दबा हुआ आत्मा जब उससे मुक्त हो जाता है तो आत्मा ऊपर आ जाता है।

(३) जिसप्रकार बीजकोश के बन्धन के टूटने से एरण्ड बीज की ऊर्ध्वगति देखी जाती है; उसीप्रकार मनुष्यादि भाव को प्राप्त करानेवाले समस्त कर्मों के बंध का छेद हो जाने से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है।

(४) जिसप्रकार तिरछे बहने के स्वभाववाले वायु के संबंध से रहित दीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करती है; उसीप्रकार मुक्त आत्मा भी नानागतिरूप विहार के कारणभूत कर्म का अभाव होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ऊपर की ओर ही आरोहण करता है।

अब यह सहज ही प्रश्न उठता है कि ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला जीव लोकान्त में रुक क्यों जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से। तात्पर्य यह है कि गमन करने में निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीव लोकान्त से ऊपर नहीं जाता।

प्रश्न ह्र यदि लोकाकाश के आगे भी धर्मद्रव्य होता है तो सिद्ध जीव लोकाकाश के भी आगे चला जाता।

उत्तर ह्र ऐसा काल्पनिक प्रश्न करने से क्या लाभ है ? अरे, भाई ! आकाश को छोड़कर शेष पाँच प्रकार के द्रव्यों में उपादानगत ऐसी ही योग्यता है कि वे लोकाकाश के बाहर जाते ही नहीं हैं, लोकाकाश के बाहर वे होते ही नहीं हैं। इसे हम इसप्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि सिद्ध जीव अपनी उपादानगत योग्यता और धर्मास्तिकायरूप निमित्त के अभाव से अलोकाकाश में नहीं जाता।

जिसप्रकार धर्मास्तिकाय अलोकाकाश में स्वभाव से ही नहीं होता; उसीप्रकार जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव लोकाग्र तक जाने का ही है।

ऐसा नहीं है कि धर्मास्तिकायरूप निमित्त के अभाव में मुक्त जीव लोकाग्र के आगे जाने से रुक गया हो। ऐसा सोचना तो सिद्ध जीव की अनन्त स्वाधीनता पर प्रश्नचिह्न लगाना होगा।।५-८।।

सिद्धों में परस्पर अन्तर

यद्यपि सिद्ध जीवों में परस्पर गति-जाति आदि किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं होता; इसलिए वे भेद व्यवहार से रहित हैं; तथापि उनमें क्षेत्र, काल, गति आदि की अपेक्षा कथंचित् परस्पर भेद भी है।

तत्संबंधी सूत्र इसप्रकार हैं ह्र

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाह-नान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।।९।।

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व के द्वारा सिद्ध जीव विभाग (भेद) करने योग्य हैं।

प्रत्युत्पन्ननय और भूतप्रज्ञापननय की विवक्षा से बारह अनुयोगों का विवेचन किया जाता है।

जो नय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है अथवा यथार्थ वस्तुस्वरूप को ग्रहण करता है, उसे प्रत्युत्पन्ननय कहते हैं। जैसे ऋजुसूत्रनय या निश्चयनय और **जो नय अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, उसे भूतप्रज्ञापननय कहते हैं।** जैसे व्यवहार नय।

१. क्षेत्र ह्र प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से सिद्ध क्षेत्र में, अपने आत्मप्रदेशों में अथवा जिस आकाश प्रदेशों में मुक्त होनेवाला जीव मुक्ति से पूर्व स्थित था, उन आकाशप्रदेशों से मुक्ति होती है।

भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में से किसी भी कर्मभूमि के मनुष्य को यदि कोई हर कर ले जाये तो समस्त मनुष्य लोक के किसी भी स्थान से उस जीव की मुक्ति हो सकती है।

२. काल ह्र प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो एक समय में ही मुक्ति होती है और **भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा सामान्य से तो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालों में मुक्ति होती है।**

विशेष से अवसर्पिणी काल के **सुखमा–दुखमा नामक तीसरे काल के अन्त में** जन्मे जीव और **दुषमा–दुषमा नामक चौथे काल में** जन्मे जीव मोक्ष जाते हैं।

३. गति ह्न प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो सिद्ध गति में ही मुक्ति मिलती है और **भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा मनुष्य गति से ही मुक्ति मिलती है।**

४. लिंग ह्न प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो वेद रहित अवस्था में ही मुक्ति होती है। **भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा तीनों ही भाव वेदों से मुक्ति होती है। किन्तु द्रव्य से पुल्लिंग ही होना चाहिए।** प्रत्युत्पन्ननय से निर्ग्रन्थ लिंग से ही मुक्ति मिलती है और **भूतप्रज्ञापननय से सग्रंथ लिंग से भी मुक्ति होती है।**

५. तीर्थ ह्न कोई तो तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनमें भी कोई तो तीर्थंकर के विद्यमान रहते हुए मोक्ष जाते हैं, कोई तीर्थंकर के अभाव में भी मोक्ष जाते हैं।

६. चारित्र ह्न प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो जिस भाव से मुक्ति होती है, उस भाव को न तो चारित्र ही कहा जा सकता है और न अचारित्र ही कहा जा सकता है।

भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा अव्यवहितरूप से तो यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और व्यवहितरूप से सामायिक, छेदोस्थापना, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और जिनके परिहारविशुद्धि चारित्र भी होता है, उनको पाँचों ही चारित्रों से मोक्ष प्राप्त होता है।

७. प्रत्येकबुद्ध–बोधितबुद्ध ह्न जो अपनी शक्ति से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं; उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं और जो पर के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें बोधितबुद्ध कहते हैं। कोई प्रत्येकबुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई बोधितबुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८. ज्ञान ह्न प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो केवलज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है और भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा किन्हीं को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पूर्वक केवलज्ञान होता है और किन्हीं को मति, श्रुत और अवधिज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है। किन्हीं को मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान पूर्वक केवलज्ञान होता है, तब मोक्ष जाते हैं।

९. अवगाहना ह्न आत्मप्रदेशों के फैलाव का नाम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष होती है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। मध्यम अवगाहना के बहुत से भेद हैं। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा से इन अवगाहनाओं में से किसी एक अवगाहना से मुक्ति प्राप्त होती है और प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा इससे कुछ कम अवगाहना से मुक्ति होती है; क्योंकि मुक्त जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर से कुछ कम होती है।

१०. अन्तर ह्न मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव लगातार भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और बीच–बीच में अन्तर दे–देकर भी मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यदि जीव लगातार मोक्ष जायें तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक मुक्त होते रहते हैं। इसके बाद अन्तर पड़ जाता है।

यदि कोई भी जीव मुक्त न हो तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह माह का अन्तर पड़ता है।

११. संख्या ह्न एक समय में कम से कम एक जीव मुक्त होता है और अधिक से अधिक १०८ जीव मुक्त होते हैं।

१२. अल्पबहुत्व ह्न क्षेत्र आदि की अपेक्षा से जुदे–जुदे जीवों की संख्या को लेकर परस्पर में तुलना करना अल्पबहुत्व है।

प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से सब जीव सिद्धक्षेत्र से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं, अत: अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा जो किसी के द्वारा हरे जाकर मुक्त हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं; उनसे असंख्यात गुणे जन्मसिद्ध हैं।

तथा ऊर्ध्वलोक से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं; उनसे असंख्यातगुणे जीव अधोलोक से मुक्त हुए हैं और उनसे भी असंख्यातगुणे जीव मध्यलोक से मुक्त हुए हैं।

समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे कम हैं; उनसे संख्यातगुणे जीव द्वीप से मुक्त हुए हैं। यह तो हुआ सामान्य कथन।

विशेष कथन की अपेक्षा लवण समुद्र से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं; उनसे संख्यात गुणे जीव कालोदधि समुद्र से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुणे जम्बूद्वीप से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुणे धातकीखण्ड से मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुणे पुष्करार्ध से मुक्त हुए हैं। यह **क्षेत्र** की अपेक्षा अल्पबहुत्व हुआ।

काल की अपेक्षा उत्सर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे अधिक हैं और बिना उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं; क्योंकि **पाँचों महाविदेहों में न उत्सर्पिणी काल है और न ही अवसर्पिणी काल है। फिर भी वहाँ से जीव सदा मुक्त होते हैं।** प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक समय में ही मुक्ति होती है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है।

गति की अपेक्षा प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापननय से तिर्यंचगति से आकर मनुष्य हो, मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मनुष्य गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं। नरक गति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं और देवगति से आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

वेद की अपेक्षा विचार करते हैं कि ह्व प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो वेद रहित जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अत: अल्पबहुत्व नहीं होता। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा नपुंसक लिंग से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। स्त्रीवेद से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव संख्यातगुणे हैं और पुरुषवेद के उदय से श्रेणी चढ़कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

तीर्थ की अपेक्षा तीर्थंकर होकर मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। सामान्य केवली होकर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

चारित्र की अपेक्षा प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राहीनय की अपेक्षा भी अव्यवहित चारित्र सबके यथाख्यात चारित्र ही होता है, अत: अल्पबहुत्व नहीं है।

अन्तर सहित चारित्र की अपेक्षा पाँचों चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं और चार चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

प्रत्येकबुद्ध थोड़े होते हैं। बोधितबुद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। ज्ञान की अपेक्षा प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा सब जीव केवलज्ञान प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं, अत: अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतग्राहीनय की अपेक्षा दो ज्ञान से मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। चार ज्ञान से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं। विशेष कथन की अपेक्षा मति, श्रुत और मन:पर्ययज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुतज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं और मति, श्रुत और अवधिज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

अवगाहना अपेक्षा से जघन्य अवगाहना से मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं और मध्यम अवगाहना से मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

संख्या अपेक्षा से एक समय में एक सौ आठ की संख्या में मुक्त हुए जीव थोड़े हैं, एक समय में एक सौ सात से लेकर पचास तक की संख्या में मुक्त हुए जीव उनसे अनन्तगुणे हैं। एक समय में उनचास से लेकर पच्चीस तक की संख्या में मुक्त हुए जीव असंख्यातगुणे हैं। एक समय में चौबीस से लेकर एक तक की संख्या में मुक्त हुए जीव संख्यातगुणे हैं।

इसप्रकार मुक्त हुए जीवों में वर्तमान की अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। जो भेद है, वह भूतपर्याय की अपेक्षा ही है।।९।।

इसप्रकार यहाँ दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ को समाप्त करते हुए आचार्यदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्र

(दोधकवृत्त)

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।

यदि इस शास्त्र में कोई कथन; अक्षर, मात्रा, पद, स्वर से हीन हो; व्यंजन, संधि और रेफ रह गई हो तो, साधुपुरुषों के द्वारा मुझे क्षमा कर देना चाहिए; क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष विमोहित नहीं हो जाता।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र तो एक गंभीर सागर जैसे हैं। जिसप्रकार सागर में अच्छे-अच्छे पुरुष गोता खा जाते हैं; उसीप्रकार शास्त्रसमुद्र में भी अच्छे-अच्छे पुरुषों से भी भूल हो सकती हैं।

ध्यान रहे, आचार्यदेव अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, संधि और रेफ संबंधी भूल की संभावना व्यक्त कर रहे हैं; भाव की भूल नहीं; क्योंकि उन जैसे प्रौढ़ विद्वान संतों से भाव की भूल तो संभव ही नहीं है। यदि उन्हें ऐसा लगता है कि मुझसे भाव में भी भूल हो सकती है; तो वे लिखते ही नहीं।

आचार्यदेव की महानता और विद्वत्ता को देखते हुए हमें भावसंबंधी भूल की कल्पना भी नहीं करना चाहिए।

इसप्रकार तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र नामक शास्त्र समाप्त हुआ। ●

जिनके संसार-सागर का किनारा समीप आ गया होगा, वे इतने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होनेवाला नहीं है; अत: अधिक प्रलाप से क्या लाभ है।

ह्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८८

आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित

तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

पहला अध्याय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।१।। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२।। तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।।३।। जीवाजीवास्रवबंधसंवर निर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।४।। नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।।५।। प्रमाणनयैरधिगमः।।६।। निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थिति विधानतः।।७।। सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।।८।। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।।९।। तत्प्रमाणे ।।१०।। आद्ये परोक्षम् ।।११।। प्रत्यक्षमन्यत् ।।१२।। मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।।१३।। तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।।१४।। अवग्रहेहावाय धारणाः ।।१५।। बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।।१६।। अर्थस्य ।।१७।। व्यञ्जनस्यावग्रहः ।।१८।। न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।।१९।। श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।।२०।। भवप्रत्ययोऽवधिर्देव नारकाणाम् ।।२१।। क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।।२२।। ऋजु विपुलमती मनःपर्ययः ।।२३।। विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।।२४।। विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ।।२५।। मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।।२६।। रूपिष्ववधेः ।।२७।। तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य ।।२८।। सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।।२९।। एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।३०।। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।३१।। सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।३२।। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्र शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ।।३३।।

दूसरा अध्याय

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।।१।। द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ।।२।। सम्यक्त्वचारित्रे ।।३ ।। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।।४ ।। ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमा संयमाश्च ।।५।। गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकैकषड्भेदाः ।।६।। जीवभव्याभव्यत्वानि च ।।७।। उपयोगो लक्षणम् ।।८।। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।।९।। संसारिणो मुक्ताश्च ।।१०।। समनस्काऽमनस्काः ।।११। संसारिणस्त्रसस्थावराः ।।१२।। पृथिव्यप्तेजोवायु वनस्पतयः स्थावराः ।।१३।। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।।१४।। पञ्चेन्द्रियाणि ।।१५।। द्विविधानि ।।१६।। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।१७।। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।१८।। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।।१९।। स्पर्शरसगन्धवर्ण शब्दास्तदर्थाः ।।२०।। श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।२१।। वनस्पत्यन्तानामेकम् ।।२२।। कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।।२३।। संज्ञिनः समनस्काः ।।२४।। विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।२५।। अनुश्रेणिः गतिः ।।२६।। अविग्रहा जीवस्य ।।२७।। विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।।२८।। एकसमयाऽविग्रहा ।।२९।। एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ।।३०।। सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म ।।३१।। सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।।३२।। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।।३३।। देवनारकाणामुपपादः ।।३४।। शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।।३५।। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।।३६।। परं परं सूक्ष्मम् ।।३७।। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।।३८।। अनन्तगुणे परे ।।३९।। अप्रतीघाते ।।४०।। अनादिसम्बन्धे च ।। ४१।। सर्वस्य ।।४२।। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।।४३।। निरुपभोगमन्त्यम् ।।४४ ।। गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।।४५।। औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६।। लब्धिप्रत्ययं च ।।४७।। तैजसमपि ।।४८।। शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।।४९।। नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।५०।। न देवाः ।।५१।। शेषास्त्रिवेदाः ।।५२।। औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।।५३।।

तीसरा अध्याय

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ।।१।। तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशदशत्रि पञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।२।। नारका नित्याऽशुभ तरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।।३।। परस्परोदीरितदुःखाः ।।४।। संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।।५।। तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदश द्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।६।। जम्बूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।।७।। द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।।८।। तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशत सहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।।९।। भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।।१०।। तद्विभाजिनःपूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मि शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।।११।। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ।।१२।। मणिविचित्रपार्श्वा उपरिमूले च तुल्यविस्ताराः ।।१३।। पद्ममहापद्मतिगिंछ केसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।।१४।। प्रथमो योजनसहस्रा यामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ।।१५।। दशयोजनावगाहः ।।१६।। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।।१७।। तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।।१८।। तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ।।१९।। गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरि कान्तासीतासीतोदा नारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस तन्मध्यगाः ।।२०।। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।।२१।। शेषास्त्वपरगाः ।।२२।। चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ।।२३।। भरतः षड्विंशति पंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागायोजनस्य ।।२४।। तद्द्विगुण द्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ।।२५।। उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।।२६।। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।।२७।। ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः ।।२८।। एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतक हारिवर्षकदैवकुरवकाः ।।२९।। तथोत्तराः ।।३०।। विदेहेषु संख्येय

कालाः ।।३१।। भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ।।३२।। द्विर्धातकीखण्डे ।।३३।। पुष्करार्द्धे च ।।३४।। प्राङ्मानुषोत्तरा न्मनुष्याः ।।३५।। आर्या म्लेच्छाश्च ।।३६।। भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ।।३७।। नृस्थिती परावरे त्रिपल्योप मान्तर्मुहूर्ते ।।३८।। तिर्यग्योनिजानां च ।।३९।।

चौथा अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ।।१।। आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।।२।। दशाष्ट पंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ।।३।। इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंश पारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्– चैकशः ।।४।। त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।।५।। पूर्वयो र्द्वीन्द्राः ।।६।। कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।।७।। शेषाः स्पर्शरूपशब्द मनःप्रवीचाराः ।।८।। परेऽप्रवीचाराः ।।९।। भवनवासिनोऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।।१०।। व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।।११।। ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ।।१२।। मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।।१३।। तत्कृतः कालविभागः ।।१४।। बहिरवस्थिताः ।।१५।। वैमानिकाः ।।१६।। कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।।१७।। उपर्युपरि ।।१८।। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्त जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।१९।। स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्या विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।।२०।। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।।२१।। पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।।२२।। प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।।२३।। ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।।२४।। सारस्वतादित्य वह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।।२५।। विजयादिषु द्वि चरमाः ।।२६।। शेषास्तिर्यग्योनयः ।।२७।। औपपादिकमनुष्येभ्यः स्थिति रसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिताः ।।२८।।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमऽधिके ।।२९।। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।।३०।। त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ।।३१।। आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।।३२।। अपरापल्योपममधिकम् ।।३३।। परतः परतःपूर्वा पूर्वानन्तराः ।।३४।। नारकाणां च द्वितीयादिषु ।।३५।। दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।३६।। भवनेषु च ।।३७।। व्यन्तराणां च ।।३८।। परा पल्योपममधिकम् ।।३९।। ज्योतिष्काणां च ।।४०।। तदष्टभागोऽपरा ।।४१।। लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।।४२।।

पाँचवाँ अध्याय

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।।१।। द्रव्याणि ।।२।। जीवाश्च ।।३।। नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४।। रूपिणः पुद्गलाः ।।५।। आ आकाशादेकद्रव्याणि ।।६।। निष्क्रियाणि च ।।७।। असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।।८।। आकाशस्यानन्ताः ।।९।। संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।१०।। नाणोः ।।११।। लोकाकाशेऽवगाहः ।।१२।। धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।।१३।। एकप्रदेशादिषुभाज्यः पुद्गलानाम् ।।१४।। असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।।१५।। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।।१६।। गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ।।१७।। आकाशस्यावगाहः ।।१८।। शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।१९।। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।।२०।। परस्परोपग्रहो जीवनाम् ।।२१।। वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ।।२२।। स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः ।।२३।। शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।।२४।। अणवः स्कन्धाश्च ।।२५।। भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।।२६।। भेदादणुः ।।२७।। भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।।२८।। सद्द्रव्यलक्षणम् ।।२९।। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।।३०।। तद्भावाव्ययं नित्यम् ।।३१।। अर्पितानर्पितसिद्धेः ।।३२।। स्निग्धरुक्षत्वाद्बन्धः ।।३३।। न जघन्यगुणानाम् ।।३४।। गुणसाम्ये सदृशानाम् ।।३५।। द्व्यधिकादिगुणानां

तु ।।३६।। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।।३७।। गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।।३८।। कालश्च ।।३९।। सोऽनन्तसमयः ।।४०।। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।४१।। तद्भावः परिणामः ।।४२।।

छठवाँ अध्याय

कायवाङ् मनःकर्म योगः ।।१ ।। स आस्रवः ।।२।। शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ।।३ ।। सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।।४ ।। इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।।५ ।। तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।।६ ।। अधिकरणं जीवाजीवाः ।।७ ।। आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।८ ।। निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ।।९ ।। तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।।१० ।। दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।।११ ।। भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।।१२ ।। केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।।१३ ।। कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।१४ ।। बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।।१५ ।। माया तैर्यग्योनस्य ।।१६ ।। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।।१७ ।। स्वभावमार्दवं च ।।१८ ।। निःशीलतव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।।१९ ।। सरागसंयमसंयमासंयमा कामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।।२० ।। सम्यक्त्वं च ।।२१ ।। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।।२२ ।। तद्विपरीतं शुभस्य ।।२३ ।। दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।।२४ ।। परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।।२५ ।। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।।२६ ।। विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।२७।।

सातवाँ अध्याय

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।।१ ।। देशसर्वतोऽणु महती ।।२ ।। तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।।३ ।। वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ।।४ ।। क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।।५ ।। शून्यागार विमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धधर्माविसंवादाः पञ्च ।।६ ।। स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।।७ ।। मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।।८ ।। हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।।९ ।। दुःखमेव वा ।।१० ।। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ।।११ ।। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।।१२ ।। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।।१३ ।। असदभिधानमनृतम् ।।१४ ।। अदत्तादानं स्तेयम् ।।१५ ।। मैथुनमब्रह्म ।।१६ ।। मूर्च्छा परिग्रहः ।।१७ ।। निःशल्यो व्रती ।।१८ ।। अगार्यनगारश्च ।।१९ ।। अणुव्रतोऽगारी ।।२० ।। दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।।२१ ।। मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।।२२ ।। शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।२३ ।। व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।।२४ ।। बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।।२५ ।। मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।।२६ ।। स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।।२७ ।। परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।।२८ ।। क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।२९ ।। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।३० ।। आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।।३१ ।। कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।।३२ ।। योगदुः

प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३ ।। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।३४ ।। सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।।३५ ।। सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमाः ।।३६ ।। जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।।३७ ।। अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।३८ ।। विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।।३९ ।।

आठवाँ अध्याय

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।।१ ।। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।।२ ।। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।।३ ।। आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।।४ ।। पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।।५ ।। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।।६ ।। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिदानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।७ ।। सदसद्वेद्ये ।।८ ।। दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री पुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ।।९ ।। नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।१० ।। गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्ध वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।।११ ।। उच्चैर्नीचैश्च ।।१२ ।। दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।।१३ ।। आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परास्थितिः ।।१४ ।। सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।१५ ।। विंशतिर्नामगोत्रयोः ।।१६ ।। त्रयस्त्रिंशत्सागरो पमाण्यायुषः ।।१७ ।। अपरा द्वादश मुहूर्तावेदनीयस्य ।।१८ ।। नामगोत्रयोरष्टौ ।।१९ ।। शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।।२० ।।

विपाकोऽनुभवः ।।२१ ।। स यथानाम ।।२२ ।। ततश्च निर्जरा ।।२३ ।। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।।२४ ।। सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।।२५ ।। अतोऽन्यत्पापम् ।।२६ ।।

नौवाँ अध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ।।१ ।। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रैः ।।२ ।। तपसा निर्जरा च ।।३ ।। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।।४ ।। ईर्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।।५ ।। उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौच सत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६ ।। अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वा नुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।।७ ।। मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।।८ ।। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानाऽदर्शनानि ।।९ ।। सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।१० ।। एकादश जिने ।।११ ।। बादरसाम्पराये सर्वे ।।१२ ।। ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।१३ ।। दर्शनमोहान्तराय योरदर्शनालाभौ ।।१४ ।। चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः ।।१५ ।। वेदनीये शेषाः ।।१६ ।। एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।।१७ ।। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहार विशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ।।१८ ।। अनशना वमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।।१९ ।। प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना न्युत्तरम् ।।२० ।। नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।।२१ ।। आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ।।२२ ।। ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ।।२३ ।। आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगण कुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।।२४ ।। वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मो पदेशाः ।।२५ ।। बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।।२६ ।। उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता

निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।२७ ।। आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।।२८ ।। परे मोक्षहेतू ।।२९ ।। आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वा हारः ।।२९ ।। विपरीतं मनोज्ञस्य ।।३१ ।। वेदनायाश्च ।।३२ ।। निदानं च ।।३३ ।। तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।।३४ ।। हिंसानृतस्तेयविषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।।३५ ।। आज्ञापायविपाकसंस्थानविच याय धर्म्यम् ।।३६ ।। शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।३७ ।। परे केवलिनः ।।३८ ।। पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ।।३९ ।। त्र्यैकयोगकाययोगायोगानाम् ।।४० ।। एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ।।४१ ।। अवीचारं द्वितीयम् ।।४२ ।। वितर्कः श्रुतम् ।।४३ ।। वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोग संक्रान्तिः ।।४४ ।। सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षप कोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः ।।४५ ।। पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।४६ ।। संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ।।४७ ।।

दसवाँ अध्याय

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।१ ।। बन्ध हेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।।२ ।। औपशमिका दिभव्यत्वानां च ।।३ ।। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्ध त्वेभ्यः ।।४ ।। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यलोकान्तात् ।।५ ।। पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्ध च्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।।६ ।। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालां बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ।।७ ।। धर्मास्तिकायाभावात् ।।८ ।। क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्प बहुत्वतः साध्याः ।।९ ।।

(दोधकवृत्त)

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ।।